मालवकेशरी

श्री सौभाग्यमलजी महाराज

जीवन और विचार

लेखक

मुनि समदर्शी, "प्रभाकर"

प्रकाशक

पूज्य श्री धर्मदास-नन्दलाल जैन साहित्य-प्रकाशन

र त ला म

मालवकेशरी

श्री सौभाग्यमलजी महाराज

जीवन और विचार

पुस्तक :

मालवकेसरी

श्री सौभाग्यमलजी महाराज

जीवन और विचार

लेखक :

मुनि समदर्शी, 'प्रभाकर'

भूमिका लेखक :

विजय मुनि, शास्त्री

द्वितीय बार :

परिवर्धित-संस्करण

[illegible]

प्रकाशक :

पूज्य श्री धर्मदास-नन्दलाल-

जैन साहित्य प्रकाशन, रतलाम

मुद्रक :

रामनारायन मेड़तवाल

श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस

राजा की मंडी, आगरा-२

❋ समर्पण ❋

जिनकी प्रेरणा से मैंने साधना-पथ पर कदम रखा और
निरन्तर कदम बढ़ाता रहा। जिनसे ज्ञान का आलोक,
तप का तेज प्राप्त किया। उस महान् तेजस्वी,
प्रतिभा-सम्पन्न स्व० आचार्य प्रवर पूज्य
नन्दलालजी महाराज की पावन-
पुनीत स्मृति में सश्रद्धा
० समर्पण ०

—मुनि सौभाग्यमल

प्रकाशकीय

●

परम श्रद्धेय मालवकेशरी सौभाग्यमलजी महाराज एक महान् और विश्रुत सन्त है। भारत का कोई भी ऐसा जैन नहीं होगा, जो प्रसिद्ध वक्ता, महाराष्ट्र विभूषण मालवकेशरीजी महाराज के व्यक्तित्व से परिचित न हो। आपका व्यक्तित्व वहुत व्यापक है। आपके विचार वहुत उदार हैं, और चिन्तन गहन-गंभीर है। विचारों की उच्चता हिम-शिखर से भी ऊँची है, और गांभीर्य सागर से भी अधिक गहन गंभीर है। वाणी में माधुर्य है, तेज है, और ओज है। मैं आप श्री का परिचय क्या दूं ? प्रस्तुत पुस्तक का एक-एक पृष्ठ आपकी गौरव-गरिमा को अभिव्यक्त कर रहा है।

हमें परम प्रसन्नता है, कि 'मालवकेशरी सौभाग्यमलजी महाराज : जीवन और विचार' का प्रथम संस्करण अति अल्प समय में समाप्त हो गया। हमारी प्रार्थना को स्वीकार करके मुनि श्री समदर्शीजी महाराज ने प्रथम संस्करण में अभिवृद्धि करके पुनः लिखने की स्वीकृति दी, और उनके परिश्रम का यह फल है, कि प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करते हुए हमें अति हर्ष हो रहा है। गंभीर विचारक, महान् दार्शनिक, प्रखर वक्ता, कलम-कलाधर श्री विजय मुनिजी, शास्त्री ने विस्तृत भूमिका लिख कर सोने में सुगन्ध का काम कर दिया है, ग्रंथ की शोभा में चार-चाँद लगा दिए हैं। आपने जो श्रम किया है, उसे हम कभी भुला नहीं सकते।

प्रस्तुत ग्रन्थ को सुन्दर एवं आकर्षक वनाने तथा इतने थोड़े समय में प्रकाशित करने का श्रेय श्री श्रीचन्दजी सुराणा, 'सरस' को है। उनके आभार को हम भूल नहीं सकते। श्री वर्धमान स्था० जैन श्रावक संघ, घाटकोपर एवं अन्य सज्जनों ने जिनके नाम पुस्तक के अन्त में उल्लिखित हैं, पुस्तक प्रकाशन के लिए जो आर्थिक सहयोग दिया, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। साथ ही विष्णु प्रेस के मालिक श्री रामनारायन जी मेड़तवाल को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। जिनकी सुव्यवस्था से पुस्तक शीघ्र और सुन्दर छप सकी।

मंत्री

पूज्य श्रीधर्मदास नन्दलाल जैन साहित्य प्रकाशन

धन्य जीवन है वही, जो
दीप बन कर जल रहा।
शुष्क भू की प्यास हरने
स्रोत बन कर चल रहा।

●

जग में जीवन श्रेष्ठ वही
जो फूलों सा मुस्काता है।
अपनी गुण-सौरभ से जग के
कण-कण को महकाता है!

एक विहंगावलोकन

•

भारतीय-साहित्य में जीवन को समझने का जिस पद्धति से विचार किया गया है, यूरोपीय-साहित्य में जीवन को समझने की पद्धति उससे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि भारतीय-साहित्य में अध्यात्मवाद तीव्रता के साथ अभिव्यक्त हुआ है, जबकि पाश्चात्य-साहित्य में भौतिकवाद की प्रधानता रही है। भारतीय जीवन बाहर से अन्दर की ओर जाता है, जबकि पाश्चात्य-जीवन अन्दर से बाहर की ओर अभिव्यक्ति पाता है। जीवन की धारा एक होने पर भी देश, काल और परिस्थिति के कारण उसकी व्याख्या (Defination) विभिन्न प्रकार से ही की जा सकती है, किसी एक निश्चित प्रकार से नहीं। शेक्सपीयर ने जीवन की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, बाईबिल के जीवन की उसमें छाया मात्र भले ही हो, परन्तु आकार-प्रकार तथा रूप-रंग एकदम बदल गया है। भारत में भी जीवन की जो व्याख्या वेद, आगम और पिटक में की गई है, दार्शनिक काल में जीवन की व्याख्या उससे सर्वथा भिन्न नहीं, तो भी पर्याप्त भिन्न तो अवश्य है। भारतीय-संस्कृति में जीवन के तीन रूप स्वीकार किए गए हैं—ज्ञानमय, कर्ममय और भक्तिमय। ज्ञान, कर्म और भक्ति, जीवन के मूल आधार हैं। इसमें जरा भी आश्चर्य नहीं है, कि जीवन के आधारभूत तत्व एक होने पर भी शब्दों में भिन्नता न आई हो। वैदिक-परंपरा में जिसे ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रि-पुटी कहा गया है, जैन-दर्शन में उसी को श्रद्धान, ज्ञान और आचरण कहा है, और बौद्ध-परंपरा में जीवन के इस रूप को प्रज्ञा, शील और समाधि के नाम से परिचित किया जाता है। कुछ भी क्यों न हो, इतना सत्य है, कि जीवन में श्रद्धा, ज्ञान और आचार का समन्वित रूप अभीष्ट है। वस्तुतः ये तीनों तत्व अलग-अलग नहीं है, बल्कि एक ही जीवन के अथवा समग्र जीवन के तीन अपरिहार्य अंश है। सम्पूर्ण विश्व में जितने भी दार्शनिक हुए हैं, उन सभी ने अपने-अपने रूप से इन त
समग्र एवं अखण्डित व्याख्या की है, वही वस्तुतः जीवन है।

"Character is the governing element of life, and is above genius" चरित्र जीवन में शासन करने वाला तत्व है, और वह प्रतिभा से उच्च है। गांधीजी के कथनानुसार चरित्र की शुद्धि ही सारे ज्ञान का ध्येय होना चाहिए। लिंकन ने कहा था—"चरित्र एक वृक्ष के समान है, और ख्याति उसकी छाया है। छाया वही है, जो हम उसके वारे में सोचते हैं. परंतु वृक्ष वास्तविक वस्तु है।" वर्टल ने चरित्र के सम्वन्ध में कहा था—'Charecter is a dimond that scratcher every other stone." चरित्र एक ऐसा हीरा है, जो हर किसी पत्थर को काट सकता है। महान् विचारक इमर्सन ने कहा था —"चोरी से कोई धनवान नहीं वन सकता, दान से कोई कंगाल नहीं वन सकता। झूठ कभी छिप नहीं सकता। यदि तुम सच वोलोगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सहायता करेगी। क्योंकि चरित्र ही मनुष्य की पूंजी है।" महान् उपन्यासकार शरद्चन्द्र अपने शेष प्रश्न में कहता है—"समाज के प्रचलित विधि-विधानों के उलंघन का दुःख केवल चरित्र वल एवं विवेक वुद्धि के वल पर ही सहन किया जा सकता है।" एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—"Sow an act, and you reap a habit, sow a habit and you reap a charecter, sow a Charecter and you reap a desting." कर्म को वोओ और आदत की फसल को काटो, आदत को वोओ और चरित्र को काटो, और चरित्र को वोओ तथा भाग्य को काटो।

जीवन की कला :

एक वार एक दार्शनिक से पूछा गया था, कि जीवन क्या है ? इसके उत्तर में उसने कहा था—"निश्चय ही जीवन एक कला है।" कला का सामान्य रूप है, जिसमें जीवन को सुन्दर और मधुर वनाने का प्रयत्न किया जाता है। लोक-व्यवहार में सामान्यतया कला शव्द का प्रयोग चित्रकला, मूर्ति-कला और संगीत-कला के लिए किया जाता है। परन्तु उसका विशेषरूप से प्रयोग किया जाता है—उस अर्थ में, जहाँ जिस वस्तु का प्रकृति से सर्जन न होकर मानव की वुद्धि से सर्जन किया जाता है। प्रकृति ने फूलों को जन्म दिया, परन्तु फूलों का हार, गजरा एवं गुलदस्ता वनाना यह प्रकृति का काम नहीं है। यह काम है, मानव की कलात्मक-वुद्धि का। मनुष्य की वुद्धि जव अव्यवस्था में से व्यवस्था उत्पन्न कर देती है, तव इधर-उधर विखरी हुई वस्तु संकलित एवं व्यवस्थित होकर कलात्मक वन जाती है। एक पुष्प वाटिका

जीवन की परिभाषा :

समग्र जीवन को शब्दों में परिभाषित कर सकना संभव नहीं है, फिर भी युग-पुरुषों ने समय-समय पर जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसे विस्मृत कर सकना भी संभव नहीं है। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था—"जीवन का उद्देश्य आत्म-दर्शन है, और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीव मात्र की सेवा करना है।" टालस्टाय ने जीवन के सम्बन्ध में कहा था—'मनुष्य का सच्चा जीवन तब प्रारम्भ होता है, जब वह यह अनुभव करता है, कि शारीरिक जीवन अस्थिर है और वह संतोष नहीं दे सकता।" विश्वकवि 'रवीन्द्रनाथ टैगोर अपनी साहित्यिक भाषा में जीवन की परिभाषा करते हुए कहते हैं—"अपने जीवन को समय के तट पर पत्र पर पड़े हुए ओसविन्दु की भांति धीमे-धीमे नृत्य और संगीत करने दो।" सुकरात ने कहा था—"जीवन का उद्देश्य ईश्वर की भांति होना चाहिए। ईश्वर का अनुकरण करती हुइ आत्मा ईश्वर तुल्य हो जाएगी :" सुकरात ने आगे कहा था—"अच्छा जीवन ज्ञान और भावनाओं तथा बुद्धि और सुख दोनों का सम्मिश्रण होता है।" पाश्चात्य दार्शनिक ब्राउनि ने कहा था—"जब मनुष्य का युद्ध अपने आप के साथ आरम्भ होता है, तब उसका कुछ मूल्य होता है।" महादेवी वर्मा ने अपनी साहित्यिक भाषा में जीवन की जो परिभाषा की है, वह सुन्दर है—"जीवन जागरण है, सुषुप्ति नहीं, उत्थान है, पतन नहीं, पृथ्वी के तमसाच्छन्न अंधकारमय पथ से गुजर कर दिव्य-ज्योति से साक्षात्कार करना है। जहाँ द्वन्द्व और संघर्ष कुछ भी नहीं है। जड़, चेतन के बिना विकास शून्य है, और चेतन जड़ के बिना आकार शून्य है। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है।" स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"जीवन का रहस्य भोग में नहीं, त्याग में है। भोग मृत्यु है, और त्याग जीवन।" इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध में विभिन्न विचार दृष्टिगोचर होते हैं।

संस्कारी जीवन :

जीवन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—संस्कारी और असंस्कारी। जब तक मनुष्य अपने जीवन का संस्कार नहीं कर पाता है, तब तक उसका जीवन पावन और पवित्र नहीं बन पाता है। जीवन को संस्कार-मय बनाने की शक्ति मनुष्य के चरित्र में है। फ्रेडरिक सान्डर्स ने कहा है—

"Character is the governing element of life, and is above genius" चरित्र जीवन में शासन करने वाला तत्व है, और वह प्रतिभा से उच्च है। गांधीजी के कथनानुसार चरित्र की शुद्धि ही सारे ज्ञान का ध्येय होना चाहिए। लिंकन ने कहा था—"चरित्र एक वृक्ष के समान है, और ख्याति उसकी छाया है। छाया वही है, जो हम उसके बारे में सोचते हैं, परंतु वृक्ष वास्तविक वस्तु है।" वर्टल ने चरित्र के सम्बन्ध में कहा था—'Charecter is a dimond that scratcher every other stone." चरित्र एक ऐसा हीरा है, जो हर किसी पत्थर को काट सकता है। महान् विचारक इमर्सन ने कहा था—"चोरी से कोई धनवान नहीं बन सकता, दान से कोई कंगाल नहीं बन सकता। झूठ कभी छिप नहीं सकता। यदि तुम सच बोलोगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सहायता करेगी। क्योंकि चरित्र ही मनुष्य की पूंजी है।" महान् उपन्यासकार शरद्चन्द्र अपने शेष प्रश्न में कहता है—"समाज के प्रचलित विधि-विधानों के उलंघन का दुःख केवल चरित्र बल एवं विवेक बुद्धि के बल पर ही सहन किया जा सकता है।" एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—"Sow an act, and you reap a habit, sow a habit and you reap a charecter, sow a Charecter and you reap a desting." कर्म को बोओ और आदत की फसल को काटो, आदत को बोओ और चरित्र को काटो, और चरित्र को बोओ तथा भाग्य को काटो।

जीवन की कला :

एक बार एक दार्शनिक से पूछा गया था, कि जीवन क्या है? इसके उत्तर में उसने कहा था—"निश्चय ही जीवन एक कला है।" कला का सामान्य रूप है, जिसमें जीवन को सुन्दर और मधुर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। लोक-व्यवहार में सामान्यतया कला शब्द का प्रयोग चित्रकला, मूर्ति-कला और संगीत-कला के लिए किया जाता है। परन्तु उसका विशेपरूप से प्रयोग किया जाता है—उस अर्थ में, जहाँ जिस वस्तु का प्रकृति से सर्जन न होकर मानव की बुद्धि से सर्जन किया जाता है। प्रकृति ने फूलों को जन्म दिया, परन्तु फूलों का हार, गजरा एवं गुलदस्ता बनाना यह प्रकृति का काम नहीं है। यह काम है, मानव की कलात्मक-बुद्धि का। मनुष्य की बुद्धि जब अव्यवस्था में से व्यवस्था उत्पन्न कर देती है, तब इधर-उधर बिखरी हुई वस्तु संकलित एवं व्यवस्थित होकर कलात्मक बन जाती है। एक पुष्प वाटिका

युग पुरुष :

मालवकेशरीजी महाराज निश्चय ही अपने युग के युग-पुरुष हैं। क्योंकि उन्होंने अपने युग को विचारों का प्रकाश दिया है, और चरित्र की शक्ति प्रदान की है। युग-पुरुष वह है, जिसके साथ युग का पूरा प्रवाह हो। जिसका चिन्तन सबका चिन्तन हो। जिसकी भाषा में सब अपना स्वर मुखरित करें। और जिसके कदमों पर सब अपने कदम बढ़ाएँ। परिभाषा के अनुसार मालवकेशरीजी महाराज अपने युग के अनुसार विचारों का प्रतिनिधित्व करने का व्यक्तित्व अपने में रखते हैं। यही कारण है कि वह अपनी योजना में कभी असफल नहीं होते। आज की जनता उसी को स्वीकार करना चाहती है, जिसके पास ज्ञान का प्रकाश हो, श्रद्धा की पूंजी हो। अपने विचारों के द्वारा वे अपने श्रोताओं पर एक जबरदस्त छाप लगा देते हैं, जिससे श्रोता एकदम प्रभावित होकर उनके विचारों के प्रवाह में बहने लगता है। मालव-केशरीजी महाराज जिस समय अपनी वक्तृत्वकला की अभिव्यक्ति करते हैं, उस समय जनता का ध्यान उनमें केन्द्रित हो जाता है।

व्यक्ति और समाज :

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में मालवकेशरीजी महाराज के विचार इस प्रकार से व्यक्त हुए हैं, कि सामान्य पाठक भी उन्हें ग्रहण कर सके -

"व्यक्ति और समाज परस्पर संबद्ध है। व्यक्ति समाज से अलग रहकर न तो अपना विकास कर सकता है, और न अपना हित ही साध सकता है। क्योंकि बिना किसी के सहयोग के व्यक्ति अपना कार्य सफल नहीं कर सकता। परिवार, समाज, संघ, राष्ट्र एवं विश्व के मूल में व्यक्ति है।" मालवकेशरीजी महाराज का विचार है "समाज के गौरव में ही व्यक्ति का गौरव सन्निहित है। क्योंकि व्यक्ति समाज से भिन्न नहीं है, और समाज भी व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं है। समाज में व्यक्ति है और व्यक्ति में समाज है। जिस समाज एवं जिस संघ के सहयोग से व्यक्ति आगे बढ़ता है और प्रगति के पथ पर कदम बढ़ाता है, उस समाज एवं संघ का सम्मान एवं आदर करना और उसके महत्व को बढ़ाना व्यक्ति का अपना कर्त्तव्य ही नहीं, परम धर्म है। जो व्यक्ति समाज और संघ का आदर नहीं करते, उनके जीवन का विकास किसी भी प्रकार से संभव नहीं है। भारतीय-संस्कृति में व्यक्ति और समाज

में जो समन्वय साधने का प्रयत्न युग-युग से चला आ रहा था, उसमें मालवकेशरीजी महाराज ने भी पूरा योग-दान किया है।

समत्वयोग की साधना :

जीवन में समत्व-योग की साधना करना ही युग-वीर का एक मात्र लक्ष्य रहता है। मालवकेशरीजी महाराज ने अपने जीवन में जो समत्व-योग की साधना की है, वह आज भी उनके जीवन में साकार है। जीवन के सम्बन्ध में उनका विचार है, कि उसे संस्कारी बनाने के लिए केवल आदर्शवाद ही पर्याप्त नहीं हो सकता, उसके लिए यथार्थवाद की उतनी ही आवश्यकता है। समत्व योग की साधना का अर्थ है—सुख और दुःख दोनों स्थिति में अडोल और अकंप रहना। उनका कहना है, कि वस्तु में न सुख है और न दुःख है। उस पर जो आसक्ति है, ममत्व-बुद्धि है, उसमें दुःख है, और ममता के त्याग में सुख है। यही कारण है, कि जो व्यक्ति निर्मम और निरहंकार बनकर जीवित रहता है, उसके विचार वाणी और कर्म की छाप युग-चेतना पर अवश्य ही पड़ती है। मैंने देखा है, कि दुःख पूर्ण क्षणों में भी उनके मुख मण्डल पर स्मित रेखाएं खेलती रहती हैं। वास्तव में यही उनके जीवन की सफलता का एक जादू रहा है।

कर्त्तव्य और अधिकार :

मनुष्य के सामने एक तरफ कर्त्तव्य है और दूसरी तरफ अधिकार। जग का सामान्य व्यक्ति कर्त्तव्य को प्यार नहीं करता है, अधिकार को ही प्यार करता है। यही कारण है, कि वह अपने जीवन में सफलता का दर्शन नहीं कर पाता। कर्त्तव्य और अधिकार के सम्बन्ध में मालवकेशरीजी महाराज का कहना है, कि जिस अधिकार का जन्म कर्त्तव्य में से नहीं होता है, वह अधिकार संघर्ष का कारण बनता है। अंग्रेजी में एक कहावत है, कि Good mind, good find जिसके विचारों में शुभत्व हैं, उसे सर्वत्र शुभत्व के ही दर्शन होते हैं। वास्तव में मालवकेशरीजी महाराज को जो समाज में आज अधिकार मिले हैं, उसका श्रेय उनकी कर्त्तव्य भावना को ही दिया जा सकता है। कर्त्तव्य के पालन के लिए उन्होंने अपने जीवन में भयंकर से भयंकर कष्टों को सहन किया है। वे इस तथ्य को भली-भाँति समझते हैं, कि मेरा समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? और गुरु-जनों के क्या कर्त्तव्य है ? कर्त्तव्य-परिपालन की इस विमल विचार धारा

उनके जीवन में उज्ज्वलता और प्रकाश आया है। जीवन की साधना उतनी सरल नहीं है, जितना इसे समझ लिया गया है। कर्तव्य के कठोर-पथ पर जो व्यक्ति तिल-तिल करके पिल पड़ता है, उसे ही उसके जीवन का सद्भाग्य अथवा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। महाराष्ट्रविभूषणजी का यह विश्वास रहा है, कि यदि समाज को संघर्षों से निकालना हो तो समाज में कर्तव्य की भावना का प्रचार और प्रसार करना होगा। जिस प्रकार भौतिक जगत में अथवा व्यावहारिक जगत में मनुष्य उपभोग्य वस्तुओं का सम-विभाग करके समाज एवं राष्ट्र के असन्तोष को दूर करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत में भी उसे सम-विभाग सिद्धान्त को चरितार्थ करना चाहिए। तभी व्यक्ति महान् बन सकेगा।

सम-दर्शन और सम-वर्तन :

प्रसिद्धवक्ता महाराज जब समाज की किसी भी उलझन को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, तब वे एक वाक्यका बार-बार प्रयोग करते हैं—'सम-दर्शन और सम-वर्तन'। जिस व्यक्ति में सम-दर्शन नहीं आया अर्थात् जन-जनके प्रति प्रीति भाव उत्पन्न नहीं हुआ,उस व्यक्तिका सम-वर्तन अर्थात् समान व्यवहार नहीं हो सकेगा। मालवकेशरीजी महाराज का विचार है, कि हमें समाज के सभी व्यक्तियों के साथ सहानुभूति (Sympathy) करना नहीं आएगा, तब तक समाज के अन्दर एकता और सद्भाव जागृत नहीं हो सकेगा। समाज में एकता और सद्भाव उत्पन्न करने के लिए व्यक्ति को क्या करना चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर में वे कहा करते हैं, कि जब तक व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों का उत्सर्ग नहीं करेगा, तब तक उसमें इतनी शक्ति (Capacity) नहीं आ सकती, कि वह समाज को एक सूत्र में आबद्ध कर सके। बिखरे हुए समाज को एकत्रित करने के अनेक प्रयत्न मालवकेशरीजी महाराजने भूतकालमें किए थे,और आज भी वे इस प्रयत्न में अग्रसर हैं। मैं समझता हूँ, यह उनके जीवन का सम-दर्शन है, कि वे छोटे-बड़े सभी को प्यार करते हैं, और सभी के दिल की बातों को प्रेम से सुनते हैं। थोड़ी देर के लिए हम यह मान लें, कि व्यक्ति में अपनी कुछ दुर्बलताएँ होती हैं, फिर यह तो मानना ही पड़ेगा, कि दुर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न भी मनुष्य को ही करना है। विचारों की विषमता उत्पन्न हो ती है। परन्तु उसे दूर करने का जो उपाय मालवकेशरीजी महाराजके पास आज के युग में वही एक मात्र दिशा-दर्शन बनकर समाज में सम-दर्शन एवं

सम-वर्तन उत्पन्न कर सकता है। समाज को विखरी हुई ताकत को एकत्रित करने का जो कुछ भी सावन हो सकता है, उसीको मालवकेशरीजी सम-दर्शन कहते हैं।

जीवन और शिक्षण :

जीवन का शिक्षा के साथ और शिक्षा का जीवन के साथ वही सम्वन्ध है, जो इस शरीर का अपनी प्राण-शक्ति के साथ में है। जीवन शरीर है, और उसकी प्राण-शक्ति है, उसकी शिक्षा। शिक्षा के अभाव में जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं है। पूज्य मालवकेशरीजी महाराज ने शिक्षा के विषय में अपने प्रवचनों में पर्याप्त प्रकाश समय-समय पर डाला है। अपने शिष्यों को आपने संस्कृत, प्राकृत और पालि जैसी प्राचीन भाषाओं का अध्ययन करने की प्रेरणा ही नहीं दी, वल्कि उनके लिए सुन्दर से सुन्दर व्यवस्था भी की थी। शिक्षा के सम्वन्ध में आज भी आप प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। अनेक स्थानों पर पाठ-शाला और स्कूल खोलने के आपने सफल प्रयत्न भी किए हैं। प्रसिद्ध वक्ताजी का कहना है,कि शिक्षा दो प्रकार की है—व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा से जीवन सुन्दर, मधुर और सक्षम वनता है। जो व्यक्ति स्वयं विद्वान् होता है, उसी को विद्या के प्रति प्रेम होता है। केशरीजी महाराज ने स्वयं अपने वाल्यकाल में हिन्दी, फारसी, संस्कृत और प्राकृत की ऊँची शिक्षा ग्रहण की थी। उर्दू और फारसी पर तो आपका असाधारण अधिकार है। जव कभी आप अपने व्याख्यानों में फारसी वोलते हैं, तो श्रोतागण मुग्ध हो जाते हैं।

जीवन और विज्ञान :

क्या जीवन और विज्ञान में विरोध है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रसिद्ध वक्ताजी महाराज का कथन है, कि विरोध, विज्ञान का नहीं, उसके दुष्प्रयोग का ही हो सकता है। उदाहरण के लिए हम Biological Science को ले सकते हैं। प्राणि-विज्ञान ने कितना महान् उपयोगी कार्य किया है। विज्ञान तो विज्ञान है। वह अपने आपमें अच्छा या वुरा नहीं हो सकता। उसका उपयोग और प्रयोग जिस मनुष्य के हाथ में है, वह अच्छा भी हो सकता है, और वुरा भी।

विज्ञान एक शक्ति है। वह अच्छी भी हो सकती है, और वुरी भी। जापान में हिरोशिमा और नागासाकी में जव विज्ञान का वीभत्स रूप एवं

मानव-विनाश का रूप देखा जाता है, तब तो विज्ञान एक अभिशाप से कुछ भी नहीं रहता, लेकिन रेडियो, टेलिविजन, बिजली और चि तथा कृषि आदि के सम्बन्ध में विज्ञान ने मानव जाति का बहुत बड़ा उ भी किया है। विज्ञान के सम्बन्ध में, मालवकेशरीजी महाराज का दृष्टि एकान्तवादी नहीं, अनेकान्तवादी ही रहा है। एकान्तवाद कभी समस्याओं समाधान नहीं कर पाता। संघर्ष एकान्त में ही होता है, अनेकान्त में आज तो अनेकान्तवादी दृष्टिकोण की अत्यन्त आवश्यकता है।

ध्यान और स्वाध्याय :

जैन परम्परा में तप का विशेष महत्व है। जैन संस्कृति तपोमूलक है। युग के प्रारम्भ से लेकर आज तक भी त्याग और तपस्या में जैन परम्परा ने अपना विशिष्ट स्थान रखा है। ईसा ने अपने अनुयायी वर्ग को प्रार्थना दी, मुहम्मद ने नमाज दी, बुद्ध ने ध्यान का मार्ग दिया, और पतञ्जलि ने योग का उपदेश दिया, परन्तु भगवान् महावीर ने तपोमार्ग की देशना दी। उन्होंने स्वयं भी तप किया था, और दूसरों को भी तपोमार्ग बताया था। तप के द्वादश भेदों में ध्यान और स्वाध्याय भी आते हैं।

मैंने अनेकों बार देखा, कि पूज्य मालवकेशरीजी महाराज के जीवन में तप के ये दो प्रकार ध्यान और स्वाध्याय साकार हो उठे हैं। उत्तराध्ययन सूत्र, नन्दी सूत्र और दशवैकालिका सूत्र आदि आगमों की वे खूब रसपूर्वक स्वाध्याय करते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र और कर्म ग्रन्थों की भी स्वाध्याय करते रहते हैं। ध्यान की साधना में तो वे निमग्न हो जाते हैं। उनकी निद्रा योगी जैसी निद्रा है। जब चाहे उठ जाना और जब चाहे जाग उठना। यह एक बहुत बड़ी बात है। क्योंकि जब तक मनुष्य को अपने मन (mind) पर अधिकार न हो, तब तक वैसा नहीं हो सकता। प्रसिद्धवक्ताजी महाराज कहा करते हैं, कि ध्यान और स्वाध्याय मेरे साथी हैं, जिनके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता।

वाणी का जादूगर :

वाणी का प्रयोग और उपयोग सभी व्यक्ति करते हैं, फिर भी श्रोता पर सबकी वाणी का प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि बोलना भी एक कला है, जो सबको नहीं सूझती। प्रसिद्धवक्ताजी महाराज जब बोलना प्रारम्भ करते हैं, तब समस्त सभा मुग्ध बन जाती है। श्रोता का मन और मस्तिष्क उनकी

मधुर भाव धारा के साथ बहता रहता है। हास्यरस, करुणरस और वीररस तथा शान्तरस सभी रसों की अभिव्यक्ति आपकी वाणी में सहज होती है, उसके लिए आपको प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसलिए जनता आपको वाणी का जादूगर कहती है। वक्तृत्व कला आपका सहज स्वभाव है। आपकी वाणी Speech में मृदुता, मधुरता और सहज सुन्दरता है। भावों की लड़ी, भाषा की झड़ी और तर्कों की कड़ी, कुछ इस प्रकार से जुड़ती है, कि सुनने वाला श्रोता अपने में खो जाता है।

आपकी वाणी के इस जादू ने ही आपको स्थानकवासी समाज का एक लोकप्रिय नेता बना दिया है। किस समय क्या बोलना, कैसे बोलना और कितना बोलना बस, यही आपकी वक्तृत्वशक्ति का जादू भरा प्रभाव है, जिससे आप समाज के मार्गदर्शक बन गए हैं। जहाँ-जहाँ पर आप गए, आपका जय-जयकार होता गया।

आपकी मधुर एवं जादूभरी वाणी का प्रभाव केवल सामान्य जनता तक ही सीमित नहीं था, बड़े-बड़े राष्ट्र नेता भी आपकी वाणी के जादू से प्रभावित थे। जब पूज्य मालवकेशरीजी महाराज मद्रास और बैंगलोर की ओर विहार कर रहे थे, तब उस समय के कांग्रेस नेता राजगोपालाचारी भी आपसे मिले थे। आपने उस समय विशाल जन-मेदिनी के समक्ष जो भाषण दिया था, वह वहाँ के पत्रों में प्रकाशित हुआ था, उसका कुछ अंश मैं यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए दे रहा हूँ—

"शान्तमूर्ति, प्रसिद्ध वक्ता पूज्य सौभाग्यमलजी महाराज ने अपने ओजस्वी भाषण में अहिंसा और अनेकान्त का वर्णन करते हुए जैन आगमों के आधार पर राष्ट्र धर्म की विशेष व्याख्या की थी। इसके अतिरिक्त एकता, स्वदेशी वस्तु, मादक वस्तुओं का त्याग, हरिजन समस्या और राष्ट्रभाषा की एकता पर बल दिया था। भाषण इतना प्रभावशाली, ओजस्वी और मधुर था, कि वहाँ उपस्थित जनता ने वहाँ के उस समय के मुख्यमन्त्री चक्रवर्ती राजगोपाचार्य से आग्रह किया, कि आप तामिल भाषा में इसका अनुवाद करके सुनाएँ। जनता की माँग को इन्होंने पूरा किया। फिर स्थान-स्थान पर नगर-नगर में, ग्राम-ग्राम में प्रसिद्ध वक्ताजी महाराज के भाषणों की एक झड़ी सी लग गई, जिसमें हजारों-हजार की संख्या में जनता उनके आध्यात्मिक

और सामाजिक भाषणों का लाभ लेती रही।" आज भी मद्रास की जनता आपको याद करती है।

मद्रास और बेंगलोर से विहार करने के बाद पूज्य मालवकेशरीजी महाराज विहार करते हुए महाराष्ट्र की ओर पधारे तब मद्रास गवर्नर के प्राइवेट सेक्रेटरी की ओर से पूज्य मालवकेशरीजी महाराज को एक पत्र मिला था—

Dear Sir,

I am desired by his excellency the Governor of Madras to acknowledge with thanks the receipt of your letter dated 17th Septembor, 1948, Conveying the blessings His-Holiness the Shwetambear Sthanakwasi Jain Muni Pujya Sri Sobhagmalji Maharaj Shahib and to say that his excellency very well remembers the occasion when His-Holiness delivered a Public lecture at Bhavnagar.

Your's faithfully,
P. Govindan Nair.

प्रसिद्धवक्ताजी महाराज भारत के जिस किसी प्रान्त में गए, वहाँ उनका शानदार स्वागत हुआ। जनता ने उनकी अमृतमयी वाणी का लाभ लिया। यही कारण है, कि आज भी लोग उन्हें याद करते हैं। पूज्य मालवकेशरीजी महाराज सामान्य जनता में ही लोकप्रिय हों, सो बात नहीं है। उच्चकोटि के नेता भी उनकी वाक्-पटुता से प्रभावित रहे हैं। सेठ-साहूकार और राजा महाराजा तथा नेतागण समय-समय पर आपसे मिलते रहे हैं। एक बार जब आप मद्रास साइड में ही थे, तब गांधीजी की और आपकी मुलाकात होने का निश्चय हुआ था, परन्तु किसी कारणवश गांधीजी आपसे न मिल सके। इसके लिए राष्ट्रपिता गांधीजी ने आपको एक पत्र लिखा था—

मुनि श्री सौभाग्यमलजी !

सेठ पनमचन्दजी से मैंने सुना, कि आप लोग बड़ा परिश्रम करके मुझको मिलने के लिये मद्रास तक आये थे। और किसी के कहने से कि मैं वर्धा चला गया हूँ, आप लोग सब वापिस चले गये। यह सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ।

कैसा अच्छा होता, यदि आप वापिस जाने के पहले निश्चय पूर्वक खबर निकाल लेते । अब तो भगवान की आज्ञा हो, तब ही मिल सकेंगे ।

चलती ट्रेन पर मो० क० गांधी
३०-३-३७

एक बार का प्रसंग है, कि जब मालवकेशरीजी महाराज भुसावल में विराजित थे, उस समय राष्ट्रपिता गांधीजी आपसे मिलने के लिए जैन स्थानक में आए थे । उनके साथ कुछ अन्य नेता भी थे । उन अन्य नेताओं में लाल बहादुर शास्त्रीजी भी आए हुए थे । सभी नेताओं ने आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की । भारत के प्रधान मंत्री बनने के बाद लाल बहादुर शास्त्री के साथ आपकी मुलाकात नहीं हो सकी । इस प्रकार प्रसिद्ध वक्ताजी महाराज के साथ गांधीजी, नेहरूजी, राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू, राजगोपालाचार्य, लाल बहादुर शास्त्रीजी, की आपके साथ मुलाकात हो चुकी थी । आपने जिन-शासन की जो प्रभावना बढ़ाई है, वह संघ की एक महान् सेवा है ?

वाणी का प्रभाव :

आपकी वाणी का प्रभाव इतना जादू भरा होता था, कि जो भी व्यक्ति एक बार आपके परिचय में आ गया, वह सदा के लिए आपका प्रेमी बन गया । प्रसिद्ध वक्ताजी महाराज की वाणी के प्रभाव के सम्बन्ध में उनके जीवन चरित्र के लेखक मुनि श्री समदर्शीजी प्रभाकर ने लिखा है—

"अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए व्यक्ति को वाणी का साधन महत्वपूर्ण मिला है । बोलने की शक्ति पशु-पक्षियों में भी है । परन्तु उन की भाषा में स्पष्टता नहीं है । विश्व में मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपने भावों, अपने विचारों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है । भाषा का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति करता है, फिर भी श्रोता पर सब की वाणी का प्रभाव नहीं पड़ता है । एक पाश्चात्य विद्वान् शेनेका ने कहा है—"Speech is the index of mind." वक्तृत्व-कला विचारों का माप-दण्ड है । श्रद्धेय मालवकेशरीजी महाराज वक्तृत्व-कला में निपुण है । आप का अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है । आप में विचारों को अभिव्यक्त करने की कला है । और वाणी में ओज है, तेज हैं एवं शक्ति है । वास्तव में वाणी का कलाकार वह है — जो श्रोता की भावना को जागृत कर देता है, और भावना के प्रवाह में बहकर श्रोता स्वयं अपनी इच्छा से कार्य करने को तत्पर हो जाता है ।

प्रसिद्धवक्ताजी महाराज की जवान में इतनी शक्ति है, कि जब वे बोलने लगते हैं, तब जन-जन के मन पर अपनी छाप अंकित कर देते हैं, और सभा पर अधिकार कर लेते हैं।"

एक मधुर व्यक्तित्व :

जीवन एवं विचार पुस्तक को मैंने पढ़ा है। लेखक ने इसमें जिस महान् व्यक्तित्व का चित्रण किया है, वह वस्तुतः पढ़ने भर का ही नहीं है, किन्तु उसमें से अनेक तथ्य जीवन में उतारने के योग्य भी है। जीवन का अर्थ—तीथि और बार का लेखा-जोखा ही नहीं होता, वल्कि जीवन का अर्थ होता है—विचार और तदनुरूप आचार। परम श्रद्धेय मालवकेशरीजी महाराज के जीवन और विचारों के सम्वन्ध में प्रस्तुत पुस्तक पाठक के समक्ष जो तथ्य प्रस्तुत करती है, वह वास्तव में अपने आपमें एक महान् रहस्य है।

इस पुस्तक में जो भी कुछ कहा गया है, वह उस व्यक्तित्व के सम्वन्ध में कहा गया है, जो अपने आपमें एक सन्त हैं, और सन्त से भी वढ़कर एक अनुभवी साधक है। इस महान्सन्त ने अपने जीवन में जो कुछ सत्य का साक्षात्कार किया है, उसीका विवरण प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने सफलता के साथ अंकित किया है। मनुज जीवन की सरिता दोनों मार्गों से प्रवाहित होती है—Way-down and way-up—उत्थान-मार्ग और पतन-मार्ग। पतन-मार्ग से प्रवाहित होता जीवन-सरिता की विशेषता नहीं है, उसकी विशेषता है—उत्थान-मार्ग से प्रवाहित होना। मेरा अपना विचार है, कि मनुष्य का अपने मन का संस्कार शास्त्र से भी अधिक प्रवल होता है। परन्तु इसमें जरा भी सन्देह नहीं है, कि अन्त में शास्त्र संस्कारों में परिवर्तन कर देता है। संस्कारों के परिमार्जन के लिए शास्त्र के शब्दों को नहीं, शास्त्र के भावों को जीवन में उतारना आवश्यक है। इस पुस्तक में यह तथ्य पाठक को प्रत्येक पृष्ठ पर उपलब्ध होगा, कि शास्त्र के भावों को जीवन में किस प्रकार उतारा जा सकता है, और उसका निर्दर्शन है—पूज्य मालवकेशरीजी महाराज का जीवन।

मानव-जीवन के दो पक्ष हैं—प्रेयस् और श्रेयस्—good and highest good प्रेयस् की ओर अग्रसर होना, यह मानव-जीवन का सबसे महान् संलक्ष्य है। जन-कल्याण के लिए तथा आत्म-कल्याण के लिए प्रेयस् के मार्ग को छोड़ कर श्रेयस् के मार्ग को स्वीकार करता ही होगा। मालवकेशरीजी महाराज

के जीवन से हमें यही शिक्षा एवं दीक्षा उपलब्ध होती है। उनके सुकुमार कुमार जीवन में ही धर्म के उन शुभ बीजों का वपन कर दिया गया था, जो किशोर अवस्था में पहुँचकर अंकुरित हो सकें, यौवन में जाकर पल्लवित हो सकें, और अपने जीवन की सुनहरी संध्या में पहुँचकर फलित हो सके। प्रसन्नता है, कि आज हम उनके माता-पिता के एवं गुरुजनों के उस मधुर स्वप्न को साकार रूप में देख रहे हैं।

स्थानकवासी समाज के इस वयोवृद्ध एवं अनुभवी सन्त ने तथा समाज के इस तेजस्वी नेता ने समाज और संघ की जो सेवा की है, तथा अपने युग की पीढ़ी का मार्गदर्शन किया है, भविष्य का इतिहासकार कभी उसे भूला नहीं सकेगा। इस व्यक्तित्व ने इतिहास-प्रसिद्ध एवं भारतीय परंपरा में अत्यधिक लोकप्रिय राजा भोज की जन्म-भूमि मालव देश में जन्म लेकर भी अपनी वाणी अपने कर्म और अपने विचारों से समग्र जगत को परिव्याप्त किया है। समाज के संघटन में मालवकेशरीजी का सदा योग-दान रहा है, और आज भी वर्तमान के क्षणों में वे इस दिशा में अपना योग-दान प्रस्तुत करने को सन्नद्ध हैं। समाज के इस अनुभवी नेता के जीवन से वर्तमान समाज की तरुण पीढ़ी लाभ उठा सकती है, और भविष्य में आने वाली पीढ़ी (Generation) अपने भविष्य के लिए मधुर संकेत प्राप्त कर सकेगी। इस पुस्तक के लेखक का श्रम मैं सफल समझता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक :

"मालवकेशरी श्री सौभाग्यमलजी महाराज जीवन और विचार" वास्तव में अपने आपमें एक सुन्दर पुस्तक है। पुस्तक चार भाग में विभक्त है— जीवन और विचार, समयोपयोगी आधुनिक प्रवचन, विचार संकलन और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखित संस्मरण। पुस्तक की भाषा मधुर है, और शैली प्राञ्जल है। भाव और भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक अपने आपमें एक आदर्श रहेगी। प्रत्येक विभाग में पाठकों को विपुल मात्रा में सामग्री उपलब्ध हो सकेगी, जिसे पढ़कर पाठकगण अपने जीवन में उपयोगी विचारों को इसमें से ग्रहण कर सकेंगे। पुस्तक का आन्तरिक रूप और बाह्यरूप दोनों ही सुन्दर एवं आकर्षक है

पुस्तक और लेखक :

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक एवं सम्पादक मुनि श्री समदर्शीजी 'प्रभाकर' हैं।

उनकी लेखनी में एक प्रवाह है, एवं आकर्षण हैं। उनकी भाषा इतनी प्राञ्जल एवं सुलभी हुई है, कि मनुष्य के मन में जो Complex हैं, वे अपने आपही सुलझते चले जाते हैं। वे जिस किसी भी विषय को उठाते हैं, उसको इतनी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत करते हैं, कि उसमें एक प्रकार की कला उत्पन्न हो जाती है। लेखक की सफलता मैं इसमें समझता हूँ कि जो सामग्री अस्त-व्यस्त थी और वहुत-कुछ अंशों में अनुपलब्ध थी, उसकी उपलब्धि करके एवं व्यवस्थित करके उन्होंने उसे इस प्रकार से गुम्फित किया है कि एक खूब सूरत गुलदस्ता बन गया है। इसका मुख्य कारण है,लेखक की निरीक्षण और परीक्षण शक्ति (The power of observation` लेखक के प्रत्येक वाक्य एवं प्रत्येक शब्द से उसका व्यक्तित्व (Personality) अभिव्यक्त होती है। लेखक ने अभी तक लगभग एक दर्जन पुस्तकों का लेखन एवं सम्पादन सफलता के साथ किया है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है, और अपनी शैली को निखारने में वे सिद्धहस्त लेखक हैं।

जैन स्थानक, घाटकोपर
दिनांक १ नवम्बर १६६६

—विजय मुनि
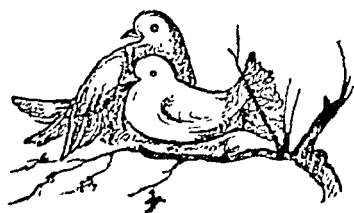
अपनी बात

●

व्यक्तित्व :

गुलाब की सुगन्ध को गुलाब से अलग नहीं किया जा सकता। गुलाब का जो मूल्य है, महत्व है और उसमें जो आकर्षण शक्ति है, वह उसकी सुगन्ध है, मधुर सुवास है। गुलाब और उसकी मधुर पराग में एकत्व परिलक्षित होता है, फिर भी दोनों एक-दूसरे से भिन्न भी हैं और दोनों में अन्तर भी है। गुलाब खिलता है, और खिलकर मुर्भा जाता है, और एक दिन परिसमाप्त भी हो जाता है। परन्तु उसकी सुगन्ध कभी मरती नहीं, जन-जन के मन मस्तिष्क में से निकलती नहीं। उसका अस्तित्व सदा है और सदा रहेगा। यदि गुलाब में से उसकी सुवास को निकाल दिया जाए, तो गुलाब गुलाब ही नहीं रहेगा।

इसी प्रकार व्यक्ति में जो व्यक्ति का व्यक्तित्व है, वह अमर तत्त्व है। व्यक्तित्व व्यक्ति के कण-कण में व्याप्त है। परन्तु व्यक्ति ससीम है, क्षर है, विनाशी है और मृत है। लेकिन उसका व्यक्तित्व असीम है, व्यापक है, अक्षर है, अविनाशी है और अमृत है। व्यक्ति भी मर जाता है, परन्तु वह अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप जन-जन के मन पर छोड़ जाता है, वह कभी मिटती नहीं, धूमिल होती नहीं और मरती नहीं। व्यक्ति में व्यक्तित्व ही ऐसा गुण है, जो उसे व्यापक बनाता है और उसकी चमक-दमक को बढ़ाता है। पाश्चात्य विचारक श्रीरिचर (Richter) का अभिमत है, कि व्यक्तित्व की सर्वत्र रक्षा करनी चाहिए और उसका सर्वत्र आदर-सम्मान करना चाहिए, क्योंकि वह सभी अच्छाइयों की जड़ है—

"Individuality is every where to be spared and respected as the root of every thing good."

बात यह है, कि व्यक्ति का मूल्य एवं महत्व व्यक्ति नहीं, उसका अपना व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व ही उसे ऊपर उठाता है, चमकाता है और विराट बनाता है। जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व पर छा जाता है, वह उसका व्यक्तित्व ही है। वास्तव में व्यक्ति नहीं फैलाता है, वह तो जहाँ है, वहीं रहता है, फैलाता है—उसका व्यक्तित्व। जो व्यक्ति अपने आप पर छा जाता है, अथवा स्वयं पर शासन करता है, अपने विकारों पर कन्ट्रोल करता है, अपने आपको आलोकित करता है, वही सबको जीवन का आलोक दे सकता है।

श्रद्धेय मालकेशरीजी महाराज एक व्यक्तित्व सम्पन्न सन्त है। वे मालवा के, धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदाय के, अथवा स्थानकवासी समाज के ही नहीं, सबके हैं। उनका व्यक्तित्व इतना विराट एवं व्यापक है, कि उसे प्रान्त एवं सम्प्रदायों के क्षुद्र घेरे में आबद्ध नहीं किया जा सकता। वे श्रमण-संघ के वरिष्ठ सन्त हैं, और किसी भी पद पर न होते हुए भी सब-कुछ हैं। क्योंकि श्रमण संघ के निर्माण में आपने प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। आप आप प्रारम्भ से ही श्रमण-संघटन के प्रेरक रहे हैं। आपके जीवन की एक विशेषता है—उपाधियों से दूर रहकर संघ की सेवा करना।

पुस्तक की कहानी :

सन् १९६८ में श्री विजय मुनिजी महाराज और मैं नासिक गए। उस समय मालवकेशरीजी महाराज घोटी विराज रहे थे। विजय मुनिजी आपके दर्शनार्थ घोटी गए। वहाँ आप की प्रतिभा एवं प्रभाव को देखकर उन्होंने मुझे जीवन-चरित्र लिखने को कहा। मन लिखने को तैयार हो गया, परन्तु विहार में रहने के कारण विचारों को लेखनी के माध्यम से लिपि-बद्ध नहीं कर सका। शेष-काल में घूमते-फिरते पूना वर्षावास के लिए पहुँचे, और वहाँ मैंने लेखन-कार्य शुरु किया।

कठिनाईयां :

मालवकेशरीजी महाराज का वर्षावास नासिक था, और विजय मुनिजी तथा मेरा पूना। इसलिए जीवन एवं विचारों की जानकारी प्राप्त करने में

जीवन
और
विचार

किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व ही उसके जीवन की सफलता और असफलता की कसौटी माना जाता है। व्यक्ति चाहता बहुत-कुछ है। परन्तु प्रश्न चाहने का नहीं, करने का है। कौन क्या चाहता है? इसकी अपेक्षा प्रश्न यह होना चाहिए, कि किसने क्या किया है? करना भी स्व के लिए नहीं, पर के लिए होना चाहिए। स्व के लिए करने वालों की जग में कभी कमी नहीं रही है, किन्तु पर के लिए करने वाले जग में विरल ही रहे हैं और विरल ही रहेंगे भी। स्व के लिए कुछ करना स्वार्थ की सीमा में आता है, और पर के लिए कुछ भी करना परार्थ की सीमा में आता है। मेरे विचार में स्वार्थ की भी एक सीमा है, और परार्थ की भी एक सीमा ही है। इन दोनों से परे भी एक वस्तु है, जिसे मैं परमार्थ कहता हूँ। स्वार्थ में अहंकार के साथ ममता भी रहती है। परार्थ में ममता भले ही न हो, पर अहंकार तो है ही। कर्त्ता के

मानस में यह अहंकार रहेगा ही, कि मैंने यह किया था, मैं यह कर रहा हूँ, और मैं यह करूँगा। आप देखते हैं कि अतीत, अनागत और वर्तमान–तीनों अहंकार से लिप्त हैं। अलिप्त भाव तो केवल परमार्थ की भूमिका में ही उपलब्ध होता है। कुछ करके भी और सब-कुछ करके भी, कुछ से और सब कुछ से शून्य होकर रहना, जीवन का यही अर्थ है, जीवन का यही रहस्य है, जो भारतीय-संस्कृति के कण-कण में परि-व्याप्त है।

मैंने कहीं देखा था—एक बार गांधीजी से किसी ने कहा—आप देश के लिए इतना करते हैं, पर देश आपके लिए क्या करता है ? तब गांधीजी ने कुछ गम्भीर होकर कहा था—"यह मत पूछिए कि मेरा देश मेरे लिए क्या करता है ? और क्या करेगा ? प्रश्न का सही रूप यह होना चाहिए, कि मैं अपने देश के लिए क्या करता हूँ और आगे क्या करूँगा ? " जीवन का यह कितना उज्ज्वल एवं यथार्थ दृष्टिकोण है। इसमें स्वार्थ से ऊपर जाकर परार्थ की बात कही गई है, बल्कि परमार्थ की बात कही गई है।

क्या आप समझ गए हैं ? मैं आपको क्या समझाना चाहता हूँ ? और आपको किधर ले जाना चाहता हूँ ? शायद, आप समझकर भी इन्कार करने की तैयारी में हों ? पर मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ, कि आप इन्कार करके भी इन्कार कर न सकेंगे, आपको इकरार करना ही होगा। क्योंकि हर इन्कार अपने आप में, एक इकरार ही होता है।

जादू भरा व्यक्तित्व :

आज, मैं आप से एक अनोखे व्यक्तित्व की बात कह रहा हूँ। मैं, आज तक व्यक्तित्व की एक ही परिभाषा करता आया हूँ–जो संसार में साधारण होकर भी, असाधारण हो और असाधारणता के आवरण

को दूर हटाकर भी साधारण ही रहे। असाधारणत्व में छुपा साधारणत्व ही इस जग का वरेण्य व्यक्तित्व है। जो अपने आप में रहकर भी सब का हो, और जो सब का होकर भी अपना हो। यह जादूभरा व्यक्तित्व जिस किसी भी व्यक्ति के पास है, मैं उसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को कल्याणमय व्यक्तित्व स्वीकार करता हूँ। जगत और जीवन की समस्या का समाधान इसी व्यक्तित्व के पास होता है।

एक विशाल और विराट् व्यक्तित्व जिसे मैं आज भी देख रहा हूँ जिसे मैंने पहले भी देखा था। जिसे मैंने समीप से भी देखा है और जिसे मैंने दूर से, बहुत दूर से भी देखा है। जो पहले देखा, वही आज देख रहा हूं। जो दूर से देखा, वही समीप से देख रहा हूँ। जीवन की इस एकरूपता में, मैंने कभी द्विरूपता के दर्शन नहीं किए। देखता हूँ—जो कल था, वही आज है और जो आज है, वही आने वाले कल में भी रहेगा। इस एकरूप इस एकरस और इस एकविध समरसी जीवन को मैं हजार-हजार नमस्कार करता हूँ।

मालव-केशरी :

कभी सुना करता था—साहित्य, संगीत और कला-प्रवीण और दान में अद्वितीय सम्राट् भोज की भूमि मालव देश में—"मालव केशरीजी महाराज हैं।" इस वाक्य को सुनकर, मैंने अपने मन में एक कल्पना की थी जिस प्रकार एक कानन में एक ही केशरी रहता है, दूसरा नहीं रह सकता, उसी प्रकार मालव-केसरी भी एक ही हो सकते हैं, दूसरा नहीं। केशरी असाधारण ही होता है, साधारण नहीं। और जो असाधारण है, वह एक ही रहेगा। फिर तो, इस अनुकरण पर पंजाब-केशरी, और मरुधर केशरी अनेक हो गए। परन्तु मालव का केशरी तो एक ही था, आज भी एक ही है और अनागत के क्षणों में भी एक ही रहेगा।

दूसरा विशेषण, जो 'केशरी' शब्द के बाद में लगा मिलता है, वह है—प्रसिद्ध वक्ता। मैं वक्ता का अर्थ समझता हूं—वाणी का प्रभु। जिसकी वाणी में युग के प्रश्नों का उत्तर हो और जिसकी वाणी में युग की समस्याओं का समाधान हो मेरे विचार में वही वस्तुतः वक्ता है। वही वाणी का सच्चा जादूगर है।

'प्रसिद्ध' शब्द आपको यही बतलाता है कि यह व्यक्तित्व एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसका परिचय सब को है, जिसको सब जानते हैं, जिसके परिचय की आवश्यकता ही नहीं है। व्यापक व्यक्तित्व कभी अपरिचित होता ही नहीं, वह तो सदा ही परिचित है भास्कर की प्रभा के समान वह तो जन-जन के मन में प्रवेश स्वयं ही पा जाता है। परन्तु याद रखिए, प्रसिद्ध किया नहीं जाता है वह तो स्वयं ही हुआ करता है। प्रसिद्धि दी नहीं जाती, वह तो स्वयं हो जाती है। जन-जीवन और आज के युग की चेतना चाहे उन्हें प्रसिद्धि कहे, पर वे स्वय तो प्रसिद्ध नहीं, सिद्ध होना चाहते हैं, उन्हें स्वयं को प्रसिद्धि अभीष्ट नहीं है, उन्हें तो सिद्धि चाहिए। सिद्धि प्राप्त करके सिद्ध होना ही उनके मंगलमय, साधनामय एवं तपोमय जीवन का अभीष्ट लक्ष्य है।

'केशरी' विशेषण उनके अध्यात्म-बल का प्रतीक है, वक्ता विशेषण सूचित करता है कि वह वाणी का जादूगर है, जो जन-चेतना को प्रबुद्ध बना देता है और प्रसिद्ध विशेषण बतलाता है कि वह जन-जन के जीवन में इतना प्रवेश पा चुका है कि जिसे भूलने की भूल नहीं की जा सकती है।

सौभाग्यमल :

यह हुई जनता के मन की बात। इस अद्भुत शक्ति को उसके अमर कलाकार गुरु ने जो नाम अथवा संज्ञा दी, वह तो और भी

अधिक विलक्षण है—"सौभाग्यमलजी।" कितना सार्थक और कितना अर्थपूर्ण है - यह नाम। उस पारखी गुरु ने क्या समझकर अपने शिष्य का नाम "सौभाग्य" रखा? मेरे लिए यह कह सकना सरल नहीं, बहुत कठिन है। यदि मैं, उस परम श्रद्धेय गुरुवर किसनलालजी महाराज के दर्शन कर पाता, तो अवश्य ही पूछता कि आपने अपने प्रिय शिष्य का अन्य कोई नाम न चुनकर 'सौभाग्य' नाम ही क्यों चुना? वे इस प्रश्न का क्या उत्तर देते? यह कहना कठिन है। परन्तु निश्चय ही मेरा अपना एक समाधान है।

भारत की प्राचीन भाषा—संस्कृत में, और उस भाषा के कोष एवं व्याकरण में 'सौभाग्य' शब्द एक विशिष्ट शब्द है। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से 'सौभाग्य' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है- 'सु' और 'भग'। 'सु' का अर्थ है—प्रशस्त और विशिष्ट। 'भग' का अर्थ है - संपदा, ऐश्वर्य एवं विभूति आदि। 'सुभग' का अर्थ है-प्रशस्त ऐश्वर्य, विशिष्ट विभूति और विशेष प्रकार की सम्पदा। इन तीनों का समावेश हो, उसे 'सौभाग्य' कहा जाता है। सौभाग्य की आकांक्षा किस को नहीं रहती? भारत का नर भी सौभाग्य चाहता है, और भारत की नारी भी सौभाग्य चाहती है। जन-जन के जीवन को सौभाग्य की अभिलाषा सदा रही है और सदा ही रहेगी, आज भी वह है ही। काव्य की भाषा में जीवन की मधुरिमा ही सौभाग्य में है। आज के व्यक्ति को सौभाग्य चाहिए, आज के समाज को भी सौभाग्य चाहिए, और आज के विश्व को भी सौभाग्य चाहिए। कितना प्रियतर और सुन्दरतर है—यह सौभाग्य शब्द। मैं समझता हूँ कि गुरु ने अपने शिष्य को यह सार्थक ही नाम दिया है।

जिस विलक्षण व्यक्तित्व के सम्बन्ध में, मैं आप से कुछ कहना चाहता हूँ और आप भी कुछ सुनना चाहते हैं, वह व्यक्तित्व है-"मालव

केशरी प्रसिद्धवक्ता सौभाग्यमलजी महाराज। आप में से अधिकतर व्यक्तियों ने इस अद्भुत व्यक्ति को देखा भी है, सुना भी है, और आप यह भी चाहते हैं कि हम इनको सदा ही देखते रहें और सदा ही सुनते रहें। आपकी इस मंगल कामना के साथ मेरी भी यही मंगल कामना रहेगी।

सुना और देखा :

मैंने इस जादूभरे व्यक्तित्व का सर्व-प्रथम दर्शन किया था, सादडी-श्रमण सम्मेलन में। जिसका नाम सुना था, उसका समाज संगठन का काम भी देखा। समाज के बिखरे मनों को एकत्रित करने की एक अद्-भुत कला है—इनके मन और मस्तिष्क में। जैसा नाम सुना था, वैसा काम देखा था। परंतु उनके निकट एवं समीप में जाकर उनसे कुछ पाने में, मैं वंचित ही रहा। कारण स्पष्ट है। उस भारी भीड़-भाड़ में जहाँ हजारों चिर-परिचित लोग उनके दर्शन के प्यासे खड़े हों, वहाँ मुझ जैसे सर्वथा अपरिचित व्यक्ति को परिचित होने के लिए अवकाश कैसे मिल सकता था? परन्तु देखा था मैंने, और सुना था मैंने-इस अनोखे व्यक्तित्व के पास बहुत कुछ लेने जैसा है, और बहुत कुछ सुनने जैसा भी है।

फिर एक वर्ष के भीतर ही सद्भाग्य से इस सौभाग्य के दर्शन सोजत सम्मेलन के अवसर पर हुए थे। किंतु यहाँ पर भी वही व्यस्तता, वही व्यग्रता और वही समाज की उलझनों को सुलझाने के प्रयत्नों की उलझन। कितनी ही बार उस महान सन्त के द्वार पर गया था—कुछ अपने मन की कहने, और कुछ उनके मन की सुनने को। पर न कुछ कह सका, और न कुछ सुन सका। प्यासा,प्यासा ही लौट आया और अजान, अजान ही रहा। कितना दर्द था, मेरे अन्तर मन में, उसी

तेजस्वी व्यक्तित्व से परिचित होने के लिए। पर, दर्द-दर्द ही बना रहा, उस की दवा नहीं पा सका, नहीं मिल सकी।

तीन वर्षों के बाद फिर चर्चा उठी-रेत के टीबों के देश की राजधानी भीनासर (बीकानेर) में। सन्त मिलन-मेलन-सम्मेलन की तैयारी चल रही थी। सोचा, अब की बार मन की मुराद पूरी होगी ही। कितनी ही बार मन की प्यास लेकर गया था, उस व्यक्तित्व के द्वार पर। पर, देखता हूँ, सन्त की दुनिया के द्वार चिर-परिचितों के लिए खुला है और मुझ जैसे अपरिचित के लिए खुला होकर भी बन्द ही है। मन में एक हलकी-सी झुंझलाहट थी, क्या कभी, मैं उस मधुर क्षण को उपलब्ध कर सकूंगा, जब इस मालव-केशरी को बीकानेरी पागों से, मेवाडी पगडियों से, मालव की कलंगियों से, और जोधपुरी साफों के झरमुट से मुक्त पा सकूंगा? पर, भीनासर में भी प्यास, प्यास ही बनी रही, वह बुझ न सकी। एक कवि का कहना है—"प्यास की स्थिति में जो आनन्द है, वह उसके बुझ जाने में नहीं है।" प्यासा व्यक्ति इस कथन से कितना समाधान पा सकता है—यह एक विचार की बात हो सकती है, पर मेरे लिए यह बात सत्य हुई। तीनों सम्मेलनों के प्रसंगों पर वे भले ही मुझ जैसे साधारण व्यक्ति को न जान सके हों, पर मैंने उन्हें जाना है और उन्हें अच्छी तरह समझा भी है।

समाज की बिखरी शक्ति को समेटने में और उसे उपयोगी बनाने में, मालव-केशरी प्रसिद्धवक्ता श्री सौभाग्यमलजी महाराज ने अपने जीवन का एक बहुत बड़ा योग दिया है। कितने-कितने संघर्ष सहन किए हैं, और कितने-कितने कष्ट सहन किए हैं। आपके जीवन का एक सुन्दर सिद्धान्त है—

"सुर्खरु होता है इन्सां,
आफतें आने के बाद।
रंग लाती है हिना,
पत्थर पर पिस जाने के बाद ।।"

मेरा परिचय :

गत वर्ष १९६७ में जब मैं कलकत्ता वर्षावास पूरा करके उड़ीसा, आन्ध्र और महाराष्ट्र की विहार-यात्रा करता हुआ बम्बई वर्षावास के लिए कांदावाड़ी आया था और श्रद्धेय महाराज श्री का वर्षावास कोट में था। मालवकेशरी जी महाराज के सान्निध्य में आने का और उनके जीवन को और अधिक गहनता के साथ देखने का मुझे पर्याप्त अवसर मिला। जो कुछ सुना था, और जो कुछ देखा था उसमें मुझे जरा भी विरोध नहीं मिला, बल्कि मुझे अधिक स्पष्टता के साथ कहना चाहिए कि देखने के बाद उनके जीवन के प्रति मेरी श्रद्धा, मेरी भक्ति और मेरी आदर भावना अधिक उज्ज्वल बनी है। प्रेम और स्नेह का बीज वहीं पर अंकुरित हो सकता है, जहाँ पर किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं रहता है। श्रद्धेय महाराज श्री का मुझ पर जो प्रेम, जो स्नेह, जो कृपा और जो सद्भाव रहा है, उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ? बम्बई वर्षावास में अधिक समीपता ने मेरी श्रद्धा और भक्ति को बढ़ाया ही था। एक महान् संत होने के नाते भी उन में जरा भी अहंकार और पूजा—प्रतिष्ठा का जरा भी व्यामोह देखने को नहीं मिला। सरलता और सहजता के वे निधि हैं।

मैंने देखा है—बहुत निकट से देखा है, और सूक्ष्मता से देखा है, कि किस प्रकार मालवकेशरी जी महाराज दूसरों का कार्य करने में स्वयं अपना भी कार्य भूल जाते हैं। पर-उपकार में अपने उपकार

की भी वे चिन्ता नहीं करते। दूसरों को सुख मिलता हो, और जिसमें अपने को स्पष्ट ही दुःख-कष्ट नजर आता हो, पर उसे भी वे स्वीकार कर लेते हैं। दूसरों की हित चिन्ता में अपने शरीर की क्षति की भी वे चिन्ता नहीं करते। उन्होंने मुझे अपने जीवन के अनेक प्रसंग सुनाए हैं, जिन्हें सुनकर मैंने जाना है—किस प्रकार उनकी सरलता का दुरुपयोग किया गया है। उस समय मुझे उर्दू के एक शायर का एक शेर याद आया था—

> "क्या खुशामद हो रही थी,
> दिल को लेने के लिए।
> फिर कैसे आँखें फेर ली।
> मतलब निकल जाने के बाद।"

मैं जानता हूँ, उनके जीवन जीने की कला को। मैंने एक बार हँसी के स्वर में कहा—'फिर आप अब सावधान क्यों नहीं रहते ?' एक मन्द मुस्कान के साथ और एक मर्मभरी दृष्टि से देखते हुए उन्होंने उत्तर दिया था—"सब अपने ही तो हैं, पराया कौन है, जगमें ? हम अपनों के ही काम न आएँ, तो फिर इस मानव जीवन का अर्थ ही विलुप्त हो जायगा। मानव का जीवन मानव के जीवन के लिए ही तो है।" कितनी उदार और कितनी विशालदृष्टि है, प्रसिद्धवक्ताजी महाराज की। इस भावना के आधार पर उनको जीवन की लोकप्रियता सहज मिली है।

व्यक्तित्व का प्रभाव :

भारत के महानगर बम्बई जैसे विशाल क्षेत्र में उनकी वाणी का प्रभाव, और उनके मधुर व्यवहार की छाप आप किसी भी स्थान पर जाकर देख सकते हैं। बच्चे, बूढ़े, और नौजवान सभी उनको प्यार करते हैं, क्योंकि वे स्वयं भी सब को प्यार करते रहे हैं।

हँसमुख और मधुर स्वभाव रहते हैं। उनकी विनोदप्रियता सदा प्रसिद्ध रही है।

मैं अपने बम्बई वर्षाकाल की समाप्ति होते ही पूना चला गया था। फिर घोड़नदी, अहमदनगर, श्रीरामपुर, संगमनेर और सिन्नर होते हुए नासिक आया। वहाँ पता चला, कि श्रद्धेय मालव केशरीजी महाराज अभी घोटी में ही विराजित हैं। महाराज श्री के दर्शन की मेरे मन में तीव्र भावना थी, परन्तु मेरा अभी उधर घोटी की ओर जाने का विचार नहीं था। मनुष्य कुछ भी क्यों न करें, होता वही है जो विधि को एवं नियति को स्वीकार होता है। आखिर मुझे घोटी में जाना ही पड़ा, बल्कि साथ में इगतपुरी भी जाना ही पड़ा।

मैंने स्वय अपनी आँखों से देखा है कि घोटी में पर्युषण जैसी भीड़-भाड़ और तपस्या का जो रंग जमा है, वह समाप्त ही नहीं होने पाता है। बेला, तेला, पंचोला, अट्ठाई, नव, ग्यारह और पन्द्रह की झड़ी-सी लगी थी। शेषकाल में चातुर्मास जैसा दृश्य देखकर मेरे मन को अत्यन्त संतोष रहा। यह सब प्रसिद्ध वक्ताजी महाराज के जादूभरे व्यक्तित्व का ही प्रभाव है। घोटी और इगतपुरी का धर्म-जागरण यह सिद्ध करता है कि इनका प्रभाव केवल बड़े नगरों में ही नहीं, छोटे-छोटे ग्रामों में भी वे इतने ही अधिक लोकप्रिय होकर रहते हैं। ★

खोल मन, अब भी आँखें खोल,
जीवन-उदधि हिलोरें लेता, उठती लहरें लोल ।।

छवि की किरणों-सा खिल जा तू,
अमृत झड़ी सुख से मिल जा तू,
इस अनन्त स्वर से मिल जा तू, वाणी में मधु घोल ।।

जिससे जाना जाता सब यह,
उसे जानने का प्रयत्न यह,
भूल अरे अपने को मत रह, जकड़े बन्धन खोल ।।

—जयशंकर प्रसाद

जीवन
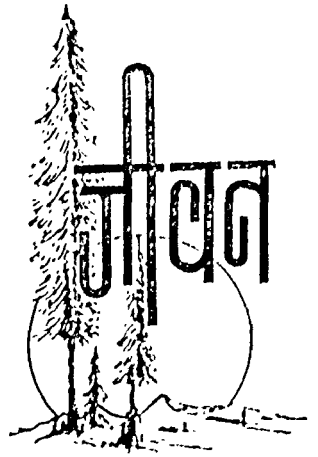
विश्व के प्रबुद्ध विचारकों, चिन्तनशीललेखकों एवं मनीषियों ने जीवन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा है, और बहुत कुछ कहा है। जीवन के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न तरह से सोचा है, समझा है और अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। फिर भी अभी तक एक ऐसी परिभाषा नहीं कर पाए जिसमें समग्र जीवन का अर्थ समा जाए।

जीवन एक विराट् पुस्तक है, और इतना विशालकाय ग्रन्थ है, कि उसके पन्ने पलटते जाइए और पढ़ते जाइए, उसका कभी अन्त नहीं आएगा। अनुशीलन-परिशीलन करते-करते व्यक्ति की जिन्दगी समाप्त हो सकती है, परन्तु जीवन के सम्बन्ध में अब भी बहुत-कुछ जानना अवशेष ही रहेगा। जीवन पर पड़ी हुई परतें उठाते जाइए,

एक के बाद एक रहस्य प्रकट होते ही जाएँगे। आप जितने अधिक गहराई में उतरने का प्रयत्न करेंगे, उतना ही अधिक जीवन के रहस्य को भी भली-भाँति समझ पाएँगे।

जीवन के सम्बन्ध में जितना सोचा जाए, अन्वेषण किया जाए एवं लिखा जाए, थोड़ा है। न हम उसकी ऊँचाई को नाप पाते हैं, और न उसकी गहराई को। फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि जीवन दो किनारों के मध्य में प्रवहमान सरिता है। उसका एक छोर जन्म है, और दूसरा किनारा मृत्यु। आज से नहीं, युग-युग से, शताब्दियों और सहस्राब्दियों से यह जीवन की निर्मल धारा इन दो तटों के बीच बहती रही है, और जब तक जीवन है, तब तक बहती रहेगी। इसका अजस्र स्रोत जीवन-न कभी रुका है, न रुक रहा है और न कभी रुकेगा। हमें एक क्षेत्र विशेष में बहने वाली सरिता की धारा का प्रवाह रुकता हुआ दिखाई देता है, और हम मान लेते हैं कि व्यक्ति मर गया, जीवन का स्रोत सूख गया, उसकी गति-प्रगति अवरुद्ध हो गई है। परन्तु यथार्थ में देखा जाए, तो जीवन का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं होता। काल के हजार-हजार थपेड़े भी उसे परिसमाप्त करने में असफल रहे हैं। काल के बाद भी जीवन का बहाव गतिमान रहता है। अन्तर इतना ही आता है, कि उसके बहाव का क्षेत्र बदल जाता है, प्रवाह की दिशा परिवर्तित हो जाती है।

व्यक्ति का, मानव का, सम्पूर्ण प्राणी जगत का, इतिहास तीन शब्दों में समाविष्ट है—जन्म, जीवन, और मृत्यु। इन तीन शब्दों में सब कुछ आ जाता है। आज तक व्यक्ति के सम्बन्ध में, मानव जाति के सम्बन्ध में और किसी महापुरुष के सम्बन्ध में, जो कुछ लिखा गया है, और लिखा जा रहा है, तथा भविष्य में लिखा जाएगा, वह सब जन्म, जीवन और मृत्यु का विश्लेषण किया गया है, और किया

जाएगा। जन्म, जीवन, और मृत्यु का लेखा-जोखा उपस्थित करने के अतिरिक्त लेखक और कुछ नहीं करता है।

जीवन के एक ओर जन्म है, और दूसरी ओर मृत्यु। परन्तु यह दोनों के मध्य में निखरता चलता है। न जन्म जीवन की चेतना को बदल सकता है, और न मृत्यु ही उसे समाप्त कर सकती है। उसमें चेतना का अस्तित्व कदापि लुप्त नहीं होता। यह एक भ्रान्ति है कि लोग मृत्यु को जीवन का अन्त मानते हैं, उसका अन्तिम परिणाम मानते हैं। परन्तु प्रबुद्ध विचारकों ने जीवन को, चेतना को अन्तहीन माना है। उर्दू के एक शायर ने वजनदार भाषा में कहा है—"कौन कहता है, जीवन का, जिन्दगी का अन्तिम फल मृत्यु है। सचमुच में जीवन का परिणाम, जीवन का फल-प्रतिफल जीवन ही है, मृत्यु नहीं। जीवन, जीवन को ही गति देता है—

> "कौन कहता है, कि अंजाम मौत ?
> जिन्दगी का जिंदगी अंजाम है॥"

मृत्यु जीवन का अन्तिम साँस नहीं है, और न चेतना का ही अन्तिम क्षण है। वह व्यक्ति के शरीर का आखिरी साँस है। वह व्यक्ति के अरुणोदय के प्रथम समय से प्रारंभ होती है, और अस्त के साथ परिसमाप्त हो जाती है। वह व्यक्ति के शरीर को समाप्त कर देती है, परन्तु उसके जीवन को, उसकी चेतना को अस्तित्व-हीन बनाने की क्षमता मृत्यु में नहीं है। एक-दो, तो क्या, हजार-हजार मृत्यु के क्षण भी जीवन की धारा को, चेतना के प्रवाह को समाप्त नहीं कर सकते। मेरे विचार से, मृत्यु केवल इतना ही कर पाती है, कि वह जीवन के बहाव को मोड़ देती है। जीवन एवं चेतना की जो धारा एक क्षेत्र में बहती हुई परिलक्षित हो रही है, वह वहाँ से हटकर दूसरे क्षेत्र में बहने लगती है। जीवन का स्रोत अजस्र रूप से बहता रहा है, और बहता रहेगा।

जीवन और चेतना व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति है। उसके प्रवाह को न तो विरोधों की चट्टानें रोक सकती हैं, न दुःखों, संक्लेशों एवं सन्तापों की तप्त दुपहरिएँ उसकी धारा को रोक सकती हैं और न मृत्यु का प्रलयकारी तूफान उसे बहाकर ले जा सकता है। वह पहाड़ का अन्तर-तह में पलने वाले उस निर्झर की तरह सशक्त है, जो चट्टानों के अवरोध को तोड़कर प्रस्फुटित होता है। जब वह मस्ती में आकर अपनी शक्ति से चट्टानों पर प्रहार करता है, तब विशाल एवं वज्र जैसी कठोर चट्टानें भी उसके सामने खड़ी नहीं रह सकतीं, उनमें दरारें पड़ने लगती हैं, और परास्त होकर पहाड़ की तहों में कैद कर रखे हुए निर्झर को स्वतंत्र कर देती है और निर्झर की निर्मल धारा छुटकारा पाते ही कल-कल स्वर से अपनी शक्ति का संगीत गाती हुआ धरा पर बहने लगती है।

जीवन निर्झर की तरह शक्ति संपन्न है, स्वतंत्र है। वह न ताप से संतप्त हो कर अपना अस्तित्त्व खोता है, न सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं परंपराओं के अवरोधों के सामने घुटने टेकता है और न प्रलय-कारी मृत्यु के समक्ष आत्म-समर्पण करता है। वह हर स्थिति में आगे बढ़ा है, बढ़ता रहा है और बढ़ता रहेगा।

मेरे विचार में वह जीवन, जीवन नहीं है, चेतना से संपन्न नहीं है, जिसे दुनिया ठुकराती रहे, और जो अपने आपको विस्मृति के गहन अन्धकार में विलीन करके जग की ठोकरों में बहता रहा है। एक उर्दू शायर के शब्दों में 'जीवन वह चेतना शक्ति है, प्राण-शक्ति है, जो दुनिया के ठुकराने पर भी आगे बढ़ती है, गेंद की तरह ऊपर उछलती है। संसार की ठोकरों में भटकने वाली जिन्दगी, जिन्दगी नहीं है, जिसमें यमराज से लोहा लेने की और उसे पछाड़ देने की शक्ति नहीं है। खरा जीवन वह है, जो मृत्युञ्जय बनता है।

मौत के भी छक्के छुड़ा देता है, उस के दाँत खट्टे कर देता है। यथार्थ में जीवन वही है, जो सब तरह के संघर्षों में आगे बढ़ता रहता है। और इतिहास के पृष्ठों पर जिसकी अच्छाई, जिसकी भलाई और जिसकी बड़ाई अंकित रहती है। और अन्त में जो स्वार्थों से ऊपर उठकर जीवन की, चेतना की परिपूर्णता को अनावृत्त कर लेता है, और इस दुनियाई क्षेत्र से आगे, और बहुत आगे बढ़कर ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है—

> नहीं वह जिन्दगी, जिसको जहाँ नफरत से ठुकराए,
> नहीं वह जिन्दगी, जो मौत के कदमों पै झुक जाए।
> वही है जिन्दगी, जो नाम पाती है भलाई में,
> खुदी को छोड़कर के पहुँच जाती है खुदाई में।

इन पंक्तियों के माध्यम से मैं आप से यह कहना चाहता हूँ— श्रद्धेय मालव-केशरीजी महाराज का जीवन सदा प्रवहमान रहा है। उन्होंने जीवन के रहस्य को जाना है, समझा है, परखा है, और उसे निखारा है। वे अपने जीवन में न कभी निराश हुए हैं, और न कभी हताश। जीवन में आने वाली मुसीबतें एवं कठिनाइयाँ तथा दुनिया द्वारा-आलोचना, टीका-टिप्पण एवं निन्दा-बुराई की खड़ी की गई अवरोधक दीवारें, उनकी चेतना शक्ति के, उनके जीवन के अजस्र श्रोत को कुंठित करने एवं अवरुद्ध करने में असमर्थ एवं असफल रही है।

कुछ व्यक्तियों के द्वारा जब कभी विरोध का वातावरण खड़ा किया गया, तब भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। उनका इस बात में अटल विश्वास रहा है—व्यक्ति जब रूढ़ परम्पराओं से हटकर समाज को, संघ को नए विचार देता है, युग-युग से चली आ रही परम्पराओं एवं अन्ध-विश्वासों की जीर्ण दीवारों पर प्रहार करता

है, तब उसका विरोध होता ही है। विश्व का इतिहास बता रहा है जब भी जिस किसी व्यक्तित्व-संपन्न व्यक्ति ने जन-जन के मन के कण-कण को अभिनव विचारों के आलोक से भरा तब उसकी आलोचना हुए बिना नहीं रही है। श्रमण भगवान महावीर ने धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसक परंपराओं को मिटाने का प्रयत्न किया शूद्रों के प्रति किए जाने वाले घृणित व्यवहार एवं नारी के प्रति जो तिरस्कारजन्य वृत्ति, एवं भेदभाव का व्यवहार था, उसके विरोध में आवाज उठाई और शूद्र एवं नारी को अपने संघ में सम्मिलित करके उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया और उसे पुरुष के समान धर्म आराधन एवं मोक्ष प्राप्ति के योग्य बताकर उसके गौरव को बढ़ाया, और समाज के सब से पिछड़े वर्ग हरिजनों को धर्म-साधना के योग्य बताकर अपने संघ में सवर्णों के बराबर का स्थान दिया, और यह स्पष्ट आघोष किया, कि "मनुष्य, जन्म से श्रेष्ठ और निम्न नहीं है, ऊँच और नीच नहीं है, और स्पर्श्य एवं अस्पर्श्य नहीं है, उसकी श्रेष्ठता और निकृष्टता कर्म पर आधारित है। वास्तव में नीच वह है, जिसका आचरण नीचा है, घृणित है और जिसका आचार उच्च श्रेणी का है, जिसका शील और तप-त्याग सर्वोच्च है वह भले ही किसी भी जाति का क्यों न हो, श्रेष्ठ ही है।" तब क्या पुराणपंथियों ने कम हो-हल्ला मचाया था? क्या इस क्रांति के लिए उन्हें गालियां नहीं दी गई थीं? विचार और आचार के क्षेत्र में क्रांति लाने वाले हर महापुरुष को विद्वेष के जहर से परिपूरित प्याला ही मिला है।

जब-जब विचारों को नया मोड़ दिया गया, तब-तब समाज में भूचाल आते रहे हैं। विरोध के तूफान सदा आते रहे हैं, और आते रहेंगे। परन्तु महापुरुष तूफानों से घबराते नहीं। वे हंसते और

मुस्कराते हुए तूफानों में ही सदा बढे हैं, बढ़ते रहे हैं और बढ़ते रहेंगे। शायरी की भाषा में–जो व्यक्ति तूफानों में पलता है, तूफानों में खड़ा रहता है, और अपने पथ पर गति-प्रगति कर रहा है, वही दुनिया के जीवन को नया मोड़ दे सकता है, जन-जीवन को नए प्रकाश की ज्योति से जगमगा सकता है—

"तूफानों में जो पलते रहे हैं।
वही दुनिया बदलते जा रहे हैं।"

श्रद्धेय मालव-केशरीजी महाराज भी एक तेजस्वी साधक हैं।अपने जीवन में वे तूफानों से कभी नहीं घबराए, उनके बढ़ते हुए कदम कभी भी लड़खड़ाए नहीं। उनके जीवन मे अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की महान् शक्ति है। वे सत्य को कहते समय न किसी का संकोच करते हैं और न कभी हिचकिचाते हैं। भले ही कोई बड़ा श्रीमन्त बैठा हो, बड़ा अधिकारी व्यक्ति उपस्थित हो या कोई बड़ा विचारक उनके सामने हो, जो कुछ कहना है, वह निःसंकोच भाव से एवं दृढ़ता के साथ कहते हैं। उनके जीवन का यह ज्योतिर्मय सूत्र रहा है–जो सत्य है, तथ्य है, वह कथ्य है। उसमें छिपावट एवं दिखावट लाना, अपने आपको धोखा देना है। साधक को सत्य कहने के लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिए। लोगों में मचने वाली हलचल एवं विरोध के तूफान से डरकर विचारों के प्रवाह को रोकना कथमपि उचित नहीं है। जो परंपराएं, जो रूढ़िएं जो विचार-धाराएं एवं जो धारणाएं–भले ही किसी युग में कितनी ही अच्छी क्यों न रही हैं, यदि आज के युग के अनुरूप नहीं हैं, साधना में तेजस्विता लाने में असमर्थ हैं, तो उन परंपराओं को बदलना ही होगा। उन म्रियमाण परम्पराओं से चिपटे रहकर अपनी शक्ति को कब तक कुंठित करते रहोगे। अतः वे कहते हैं–"यह

समय जीवन को नया मोड़ देने का है, अपनी धारा को वदलने का है। इसलिए उसको सम्पूर्ण रूप से वदल डालो, जड़-मूल से क्रांति करते चलो। प्रारंभ से लेकर अन्त तक करते चलो–"

"है वक्त बदलने का, सब काम बदल डालो।
आगाज बदल डालो, अंजाम बदल डालो।"

श्रद्धेय मालव-केशरीजी महाराज के जीवन में जोश है, तो साथ में होश भी है। मैंने देखा है, कि उनके दिल-दिमाग में कुछ करने की तमन्ना है–अपने हित को, निजी स्वार्थ को साधने के लिए नहीं, समाज एवं संघ के जीवन को तेजस्वी वनाने के लिए। उन्होंने सामाजिक उत्थान के लिए वहुत कुछ किया है, जो आप सवके सामने है, और वहुत कुछ कर रहे हैं। पर, जो कुछ किया है और कर रहे हैं, वह सव अन्तःप्रेरणा और आन्तरिक स्फूर्ति से किया है। उनके विवेक की ज्योति सदा ज्योतित रही हैं।

एक वार वातचीत के प्रसंग में उन्होंने एक महत्वपूर्ण वात कही थी–' जिन्दगी केवल साँस लेने का नाम नहीं है। साँस तो हर व्यक्ति लेता है, और छोड़ता है। परन्तु जीवन उसका है, जिसने अपना अनुशीलन-परिशीलन करके ज्ञान को आवृत की हुई परतों को हटाने का प्रयत्न किया है। जीवन जीने की कला को सीखा है। और ज्ञान को अपने आचरण में साकार रूप दिया है। जिस व्यक्ति को अपने मन का भान है, अपनी वास्तविक स्थिति का वोध है अपनी शक्ति का ज्ञान है और उसका सही दिशा में उपयोग करने की समझ है एवं कदम उठाते समय होश और विवेक है, उसी का जीवन, जीवन है। जो अपने आपको परख चुका है, वह अपने आपको तद्रूप ढाल भी सकता है। वाह्य वातावरण उसे अपने प्रवाह में कदापि वहा नहीं सकता।"

उन्होंने एक बार कहा था—"सुख-दुःख, हर्ष-शोक और पुण्य-पाप हमारी कल्पना और हमारे चिंतन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। न वाह्य पदार्थ हमें सुख-दुःख से अनुरंजित कर सकते हैं और न दूसरे व्यक्ति हमें हर्ष-शोक के सागर में डुबोते हैं। और न कोई ईश्वरीय शक्ति हमें न तो पुण्य के शिखर पर पहुंचाती है और न पाप के महा-गर्त में गिराती है। जब व्यक्ति अपने जीवन को जिस दिशा में मोड़ देता है, तब हमें उसी तरह संवेदन होता है।" एक उर्दू शायर की भाषा में—

"सैंकड़ों गम हैं, हजारों रंज हैं, लाखों अलम।
क्या बताऊँ आप से क्या है हिसाबे-जिन्दगी॥
दिल अगर खुश है, तो सब-कुछ है, नहीं तो कुछ नहीं,
यह सबाबे-जिन्दगी है, यह अजाबे-जिन्दगी है॥"

हम देखते हैं कि दिन-रात हजारों तरह का वातावरण हमारे सामने आता है। चित्रपट के चलचित्रों की तरह अनेक तसवीरें जीवन-पट पर उभरती हैं और विलीन हो जाती हैं। सैंकड़ों तरह के शोक के वातावरण आते हैं, हजारों-हजार हृदय को दुःखित करने वाले चित्र हमारे सामने उपस्थित होते हैं और लाखों प्रसंग मन को उदासी के अतल सागर में निमज्जित करने वाले आते रहते हैं। इस जिन्दगी में उतार-चढ़ाव का कोई लेखा-जोखा नहीं है परन्तु यदि हर परिस्थिति में व्यक्ति का मन प्रसन्न है, आनन्दित है, तो चारों तरफ आनन्द ही आनन्द है। दुनिया का कण-कण हमारे मन को आल्हादित ही करता है। दुःख के प्रसंग को सुख रूप में परिवर्तित करने की शक्ति हमारे अन्दर है। जिस व्यक्ति के जीवन में यह कला है, वह दुःखी क्यों होगा? शोक के सागर में क्यों गोते लगाएगा?

याद रखिए, जीवन केवल पापमय ही नहीं है, पुण्यमय भी है, और पाप-पुण्य से रहित भी बनाया जा सकता है। जब हम विवेक की ज्योति जलाकर और स्व-स्वार्थ की कारा से मुक्त होकर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व के हित की भावना से कार्य करते हैं, शुभ भावना के साथ अपने कदम रखते हैं और विवेक की ज्योति को धूमिल नहीं होने देते हैं, तो उस समय पाप का नहीं, पुण्य का ही संचय करते हैं। और जब व्यक्ति जीवन में शुभ से ऊपर उठकर शुद्ध भावों को साकार रूप देता है, विभाव से स्वभाव में परिणत होता है, उस समय पुण्य-पाप दोनों से मुक्त होता है।

इसलिए यह आवश्यक नहीं है, कि हम पदार्थों को बदलने का प्रयत्न करें। न कभी पदार्थ बदले गए हैं, न कदापि बदले जा सकते हैं। वे अपने स्वरूप में स्थित हैं. यदि बदलना है, तो जीवन की धारा को बदलो, अपने चिन्तन-मनन को बदलो, अपने विचारों को बदलो, फिर देखो, समस्त पदार्थ एवं सारा वातावरण तुम्हारे अनुकूल होगा। यदि तुम्हारे विचार राग-द्वेष के कलुषित रंग से रंजित नहीं हैं, तो कोई भी पदार्थ तुम्हारे जीवन में विषमता उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखता। श्रमण भगवान महावीर की भाषा में "काम-भोग, शब्द, रूप-रंग, गंध, रस और स्पर्श आदि विषय न तो स्वतः समता उत्पन्न करने के कारण होते हैं और न विषमता या विकृति पैदा करने के कारण बनते हैं। परन्तु जो उनमें राग-द्वेष करता है, वह मोह के कारण उनमें आसक्त होकर विकारों को उत्पन्न करता है—

"न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।

जे तप्पओसी य परिग्गही य,

सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥"

—उत्तराध्ययन, ३२।१०:

श्री मालव केशरीजी महाराज के जीवन में एवं उनके प्रवचन साहित्य में, हमें यही दृष्टि देखने सुनने को मिलती है। वे मानव मन को जागृत करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं-"तुम संसार से घबराओ मत, भागो मत, पर बदलने का प्रयत्न करो। तुम बदलो, परिवर्तन करो, पर, पर को नहीं, स्व को। अन्य पदार्थों को एवं व्यक्तियों को बदलने की बात मत सोचो, अपने आपको अपने विचारों को, अपने चिन्तन को, और अपनी दृष्टि को बदलो, फिर देखो, सब-कुछ बदला हुआ परिलक्षित होगा। दृष्टि को बदलो, सृष्टि स्वतः बदल जाएगी। सृष्टि दृष्टि में है, उससे बाहर नहीं। जैसी दृष्टि होगी, तद्रूप ही सृष्टि दिखाई देगी।"

जीवन में पहले विचार बनते हैं और बाद में वे ही आचरण का रूप लेते हैं। व्यक्ति जितना सोचता विचारता है, उतना आचरण में नहीं ला सकता। चिन्तन एवं विचारों का बहुत थोड़ा भाग ही आचरण में आता है। परन्तु जो कुछ आता है, वह पहले विचारों के साँचे में ढलकर आता है। और इन परिणामों के अनुरूप ही व्यक्ति पुण्य या पाप का बन्ध करता है या कर्मों की निर्जरा करता है। अतः विचार शुद्धि ही जीवन शुद्धि है।

जीवन और धर्म :

धर्म क्या है ?

धर्म का स्वरूप क्या है ?

धर्म और जीवन का परस्पर सम्बन्ध क्या है ?

ये प्रश्न वर्तमान युग के ही नहीं, युग-युग से मानव के मन-

मस्तिष्क में चक्कर काट रहे हैं। भारतीय-संस्कृति का
साहित्य का अनुशीलन करने वाला प्रबुद्ध विचारक
भली-भांति परिचित है—धर्म और समाज के सम्बन्ध में
जिज्ञासा, जब तक का इतिहास मिलता है, तब से मान
उद्बुद्ध होती रही हैं। और उस युग के विचारकों ने
गहराई से सोचा है, चिन्तन मनन किया है। मानव मन
वाले प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया है।

वेद युग से लेकर आज तक धर्म की अनेक परिभाषाएं की
हैं, और की जा रहीं। फिर भी मानव मन का समाधान
हुआ। जन-जन के मन में यह प्रश्न बना ही रहा कि धर्म
कहा जाए ?

विचार और आचार :

इतिहास साक्षी है कि युग-युग से धर्म के दो रूप हमारे सामने
आते रहे हैं-एक विचार और दूसरा आचार। विचार पक्ष का
कहना है-आत्म-स्वरूप को समझना धर्म है, और आचार पक्ष का
यह नारा रहा है-धार्मिक-अनुष्ठानों को, क्रिया-काण्ड को करना
ही धर्म है।

व्यक्ति के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह थी, कि वह विचार-
ज्ञान को धर्म समझे या आचार को, विचार को स्वीकार करे या
आचार को जीवन में साकार रूप दे। और उसके समक्ष दूसरी
दुविधा यह थी—सभी विचारकों के विचारों में एकरूपता नहीं थी,
और न सबके आचार में समानता थी। सब के विचार भिन्न-भिन्न
थे और सब के क्रिया-काण्ड भी अलग-अलग थे।

भगवान महावीर के सामने भी यह प्रश्न आया, कि धर्म किसे
मानें ? क्या ज्ञान ही धर्म है ? या केवल क्रिया करना ही धर्म है ?

धर्म की परिभाषा :

भगवान महावीर ने कहा—न केवल विचार ही धर्म है और न केवल आचार ही। विचार और आचार के द्वंद्व में धर्म नहीं है। द्वंद्व में, संघर्ष में धर्म नहीं होता। विचार को धर्म मानकर आचार पक्ष का तिरस्कार किया जाए और आचार में ही धर्म की इतिश्री समझकर विचार को ठुकराया जाए, तो न आचार में धर्म है और न विचार मात्र में धर्म है। वस्तुतः धर्म वस्तु के, द्रव्य के स्वभाव में निहित है—

वत्थुसहावो धम्मो

वस्तु का अपना जो निज स्वरूप है, निज स्वभाव है, वही उसका धर्म है। क्योंकि वह उससे कदापि अलग नहीं होता। और न उसे पृथक् किया जा सकता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है, इसलिए उष्णता उसका धर्म है, चाहे व्यक्ति कितना ही क्यों न प्रयत्न करे, अग्नि कभी भी उष्णता से रहित नहीं हो सकती। इसी प्रकार आत्मा का, व्यक्ति का धर्म भी वही है, जो आत्मा का अपना स्वभाव है। निज गुण के अतिरिक्त और कुछ भी धर्म नहीं हो सकता।

धर्म कहाँ है :

श्रद्धेय मालव केशरी जी महाराज ने भी एक बार अपने प्रवचन में कहा था "धर्म को बाहर मत ढूँढ़ो, अपने अन्दर में झाँको और देखो। बाहर में जो कुछ है, वह धर्म नहीं है। वह मत हो सकता है, पंथ हो सकता है, सम्प्रदाय हो सकता है और धर्म को प्राप्त करने का एक साधन भी हो सकता है, पर उसे धर्म नहीं कह सकते। व्यक्ति का धर्म उसके अपने अन्दर में अन्तर्निहित है। इसलिए यदि धर्म को

पाना है, धर्ममय बनना है, तो बाहर के दरवाजे बन्द करके, अन्दर के द्वार उद्घाटित कर दो।"

"हमे बाहर में जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह धर्म का शरीर है, धर्म का प्राण नहीं। क्रिया काण्ड धर्म के साधन हो सकते हैं, धर्म के निमित्त हो सकते हैं, परन्तु धर्म नहीं हो सकत। केवल क्रिया-काण्ड के विधि-विधान को धर्म मानना मानव-मन की जड़ता है। जो साधक बाह्य क्रिया-काण्ड में अटक जाता है, और बाह्य वातावरण मे ही भटकता रहता है, वह कदापि न धर्म के स्वरूप को समझ सकता है और न धर्म को जीवन में अपना सकता है।

समभाव में धर्म है :

भगवान महावीर ने भगवती सूत्र में गणधर गौतम के साधना से सम्बन्धित एक प्रश्न का उत्तर देते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा—सामायिक-साधना की एक क्रिया विशेप, आत्मा है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।

" आया णे अज्जो ! सामाइए,

आया णे अज्जो ! समाइयस्स अट्ठे।"

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है आत्म-स्वरूप में स्थित होना सामायिक है और आत्म-स्वरूप को समझना, उसका साक्षात्कार करना सामायिक का अर्थ है। समभाव, समता आत्मा का स्वभाव है और विपमता विभाव है। विभाव से हटकर समभाव में आना सामायिक है और दूसरे शब्दों में यही धर्म है · इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह धर्म नहीं है।"

विजय और धर्म :

धर्म साधना का प्राण है। वह अक्षय है, अखण्ड और अनश्वर है। दुनिया के सभी पदार्थ, सभी तरह के व्यवहार लौकिक या लोकोत्तर,

सब क्षणिक है, नाशवान है। संसार में प्राप्त की जाने वाली विजय भी भले ही वह शास्त्रार्थ में प्राप्त की गई हो, या युद्ध क्षेत्र में प्राप्त की गई हो, वह भी स्थायी रहने वाली नहीं है। शास्त्रार्थ एवं संघर्ष से प्राप्त की गई विजय में न धर्म है और न आत्मा का विकास ही। इससे अहंकार बढता है, एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या एवं विद्वेष की भावना जागृत होती है। इसलिए मालव केशरी जी महाराज बाहरी विजय से दूर रहने की बात कहा करते हैं।

"भुवन की जीत मिटती है भुवन में,
उसे क्या खोजना गिरकर पतन में ?
शरण केवल उजागर धर्म होगा,
सहारा अन्त में सत्कर्म होगा।"

विश्व में धर्म से बढ़कर कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। संसार में प्राप्त की जाने वाली विजय संसार में ही समाप्त हो जाती है। चन्द दिनों के बाद लोगों के दिलों पर उसकी स्मृति ही नहीं रहती। काल की परतों के नीचे बड़े-बड़े विजेताओं के नाम भी इतने दब गए हैं, कि इतिहास-वेत्ताओं के लिए भी उन्हें खोज निकालना असंभव-सा हो गया है। अतः धर्म के अतिरिक्त दुनिया में न तो कोई शरणदाता है और न मार्ग दर्शक है। मनुष्य के द्वारा किया जाने वाला सत्कर्म जन-हित, समाज एवं संघ सेवा ही मानव का सर्व-श्रेष्ठ साथी है और वही उसके जीवन का आधार स्तम्भ है।

धर्म मानव का प्राण है। धर्म से आप्लावित आचार एवं विचार ही जीवन की साधना है, जीवन का उज्ज्वल आलोक है। जिस व्यक्ति का जीवन धर्म की, विवेक की, ज्योति से ज्योतित है, वह व्यक्ति कदापि पथ से भटक नहीं सकता, इधर-उधर अटक नहीं सकता। यह नितान्त सत्य है—जिस व्यक्ति को धर्म के प्रति श्रद्धा है, निष्ठा है, विश्वास है, वह व्यक्ति कभी कुत्सित कर्म नहीं कर

सकता। उसके पैर कुमार्ग की ओर कभी नहीं बढ़ सकते। उसके जीवन में, जीवन के किसी कोने में भी बर्बरता, दुष्टता, निर्दयता, कठोरता एवं क्रूरता कभी भी परिलक्षित नहीं होगी। जिसके जीवन में धर्म है, उसका हृदय पाषाण-सा कठोर कदापि नहीं हो सकता। उसका मानस तो नवनीत-सा स्निग्ध, मखमल-सा कोमल और फूल-सा सुवासित होता है। वह काँटों से डरता नहीं, काँटों की उपेक्षा भी नहीं करता और काँटों से उलझता भी नहीं, प्रत्युत काँटों को जीवन की सुगन्ध से भर देता है।

धर्म और क्रिया-काण्ड :

मालव केशरी जी महाराज ने धर्म के सम्बन्ध में एक बार कहा था—"धर्म पोथियों में बन्द नहीं है, शास्त्रों के पन्नों में ही सिमटा हुआ नहीं है, स्थानक और मन्दिरों की दीवारों में कैद नहीं है, और जड़ क्रिया-काण्डों, रुढ़ परम्पराओं एवं पुरातन विचारों में ही सीमित नहीं है। धर्म न तो क्रियाओं का स्वभाव है, न परंपराओं का और न अन्य किसी जड़ पदार्थ एवं स्थान विशेष का स्वभाव है। वह आत्मा का स्वभाव है। अतः आत्मा में ही निवसित है। आत्मा के एक-एक प्रदेश में विद्यमान है। आवश्यकता है, उस पर आए हुए जड़ता के आवरण को हटाने की।"

केवल निष्प्राण रूढ़ियों से चिपक कर रहने वाले परंपरावादियों एवं जड़ क्रियाओं को ही साधना का प्राण समझने वाले क्रियावादियों के ज्ञान एवं विवेक शून्य क्रियाओं में धर्म का निषेध करते हुए एक प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान महावीर ने कहा था—

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई

धर्म वहाँ रहता है, जहाँ शुद्धता है। जिस व्यक्ति के योग मन, वचन और शरीर, काषायिक भावों के विकारों से विकृत नहीं है,

क्रियाओं के अहंकार एवं साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मलिन नहीं है, उसकी साधना धर्म साधना है। धर्म के लिए केवल क्रियाओं की कठोरता एवं बहुत बड़ी संख्या की गणना की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है—जीवन की सरलता, स्पष्टता और निर्भयता की। क्योंकि जो व्यक्ति सरल है, अपने आप में स्पष्ट और निष्कपट है, उसी को आगम की भाषा में शुद्ध-विशुद्ध कहा है—

सोही उज्जुभूयस्स

जो ऋजुभूत है, छल-कपट से रहित है, माया के लेप से लिप्त नहीं है, वही व्यक्ति शुद्ध है, सात्विक है और स्वभाव में रमण करने वाला है। सरल और निष्कपट आत्मा में ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रज्वलित हो सकती है, अन्य में नहीं। आगम-कारों के शब्दों में--जिसके जीवन में छल-कपट, माया एवं छिपाव है वह मिथ्यादृष्टि है। और जो निष्कपट है अथवा अन्तर में जो है, की प्रतिच्छाया बाहर में है और जो बाहर में तसवीर दिखाई दे रही है, उसी का निगेटिव अन्दर में है—उसीके जीवन में धर्म साकार रूप में अवतरित हो सकता है। इसके लिए बाह्य जीवन को बद-लने की अपेक्षा अन्तर-जीवन को परिवर्तित करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मालवकेशरी जी महाराज ने अपने एक प्रवचन में कहा था—" वेष को बदलने के पहले मन को बदलो, मस्तिष्क को बदलो, चिन्तन और मनन की कलुषित धारा को बदलो। राग-द्वेष एवं कषायों की धारा में प्रवहमान योग बदल गए, तो सब-कुछ बदल गया और यह समझ लो कि तुमने सब-कुछ पा लिया। अतः इस मन की धारा को मोड़ना ही धर्म है। मन की तरंगों से घबराकर भागो मत, उन्हें बदलो अपने चिंतन को बदलो, अपने विचारों को बदलो और अपने

जीवन

आचरण को बदलो। बदलो, तेजी से बदलो, फिर धर्म दूर नहीं, तुम्हारे पास है और अत्यधिक निकट है। निकट ही नहीं, तुम्हारी प्रत्येक क्रिया मे, तुम्हारे प्रत्येक स्पन्दन में एवं तुम्हारी प्रत्येक साँस में धर्म है। जीवन का एक-एक कण धर्म से आप्लावित है।"

धर्म और संस्कृति :

संस्कृति और विकृति दो शब्द साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। संस्कृति का सीधा-सा अर्थ है–संस्कार युक्त और विकृति का अभिप्राय है–विकार युक्त। संस्कार और विकार दोनों सापेक्ष शब्द हैं। इसलिए यह प्रश्न उठना सहज-स्वाभाविक है कि संस्कार किसका किया जाए? जीवन में प्रविष्ट एवं प्रविश्यमान विकारों को दूर करने का अर्थ है, जीवन को संस्कारित करना या विकृति से हटकर संस्कृति की ओर जाना।

यह हम देख चुके हैं कि विचार और आचार ही जीवन है। व्यक्ति जो कुछ है–विचार और आचार का समन्वित रूप है। विचार और आचार जीवन की दो पाँखें हैं, जिसके बिना व्यक्ति प्रगति नहीं कर सकता, और उड़ान भी नहीं भर सकता। जीवन में दोनों का महत्व है, और दोनों के सहारे ही व्यक्ति का जीवन विकसित होता है। फिर भी आचार की अपेक्षा विचार का महत्व अधिक है। आचार विचार से अनुप्राणित है।

आचार अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है, वह विचार का ही प्रतिरूप है। जैसा विचार होगा, वैसा आचार बनेगा। यदि विचारों में विकृति आ गई है, तो आचार भी विकृति होगा। विकारों के रंग से अनुरंजित विचार वाले व्यक्ति का आचार कदापि शुद्ध एवं उज्ज्वल नहीं हो सकता। आचार की शुद्धता और अशुद्धता विचारों पर ही

आचरण को बदलो। बदलो, तेजी से बदलो, फिर धर्म दूर नहीं, तुम्हारे पास है और अत्यधिक निकट है। निकट ही नहीं, तुम्हारी प्रत्येक क्रिया मे, तुम्हारे प्रत्येक स्पन्दन में एवं तुम्हारी प्रत्येक साँस में धर्म है। जीवन का एक-एक कण धर्म से आप्लावित है।"

धर्म और संस्कृति :

संस्कृति और विकृति दो शब्द साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। संस्कृति का सीधा-सा अर्थ है–संस्कार युक्त और विकृति का अभिप्राय है–विकार युक्त। संस्कार और विकार दोनों सापेक्ष शब्द हैं। इसलिए यह प्रश्न उठना सहज-स्वाभाविक है कि संस्कार किसका किया जाए? जीवन में प्रविष्ट एवं प्रविश्यमान विकारों को दूर करने का अर्थ है, जीवन को संस्कारित करना या विकृति से हटकर संस्कृति की ओर जाना।

यह हम देख चुके हैं कि विचार और आचार ही जीवन है। व्यक्ति जो कुछ है–विचार और आचार का समन्वित रूप है। विचार और आचार जीवन की दो पाँखें हैं, जिसके बिना व्यक्ति प्रगति नहीं कर सकता, और उड़ान भी नहीं भर सकता। जीवन में दोनों का महत्व है, और दोनों के सहारे ही व्यक्ति का जीवन विकसित होता है। फिर भी आचार की अपेक्षा विचार का महत्व अधिक है। आचार विचार से अनुप्राणित है।

आचार अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है, वह विचार का ही प्रतिरूप है। जैसा विचार होगा, वैसा आचार बनेगा। यदि विचारों में विकृति आ गई है, तो आचार भी विकृत होगा। विकारों के रंग से अनुरंजित विचार वाले व्यक्ति का आचार कदापि शुद्ध एवं उज्ज्वल नहीं हो सकता। आचार की शुद्धता और अशुद्धता विचारों पर ही

आधारित है। आचार को शुद्ध बनाने के लिए विचारों में संशोधन किया जाए। अतः विचारों को संस्कारित करना ही संस्कृति है।

जैन दर्शन में विचारों को मांजने की, और परिष्कृत करने की बात कही है। क्योंकि ज्ञान की, विचारों की दो तरह की पर्यायें मानी है—शुद्ध और अशुद्ध, सम्यक् और असम्यक्, स्वाभाविक और वैभाविक। राग-द्वेष आदि विकारों से अनुरंजित ज्ञान एवं विचारों की परिणति अशुद्ध है, असम्यक् है। उसको शुद्ध एवं सम्यक् बनाना ही संस्कृति है। विचारों के प्रवाह में जो विकारों का कचरा आ गया है, पक्षपात एवं साम्प्रदायिक व्यामोह की गन्दगी आ गई है, उसे दूर करना विचारों को परिष्कृत करना और विचारों को कषायों के पुट से मुक्त करना ही संस्कृति का काम है। तथा कषायों से मुक्त होना ही धर्म है।

विशुद्ध विचारों से अनुप्रेरित आचार को भी संस्कृति में लिया है। यह निश्चित है कि विचार के साथ आचार है। परन्तु आचार अपने आप में संस्कारित या असंस्कारित नहीं है। जिस रूप में विचार होते हैं, उसी सांचे में आचार ढलता है। यदि विचार संस्कृति है, सम्यक् है, तो आचार भी संस्कृत एवं सम्यक् होगा। यदि विचारों में विकृति है, तो आचार कदापि विकार रहित एवं दोष विवर्जित नहीं हो सकता। आचार विचार की ही प्रतिच्छाया है। इसलिए सर्व प्रथम विचारों को ही संस्कृत करना है। संस्कारित विचारों को ही संस्कृति कहा है।

के सम्बन्ध में कहा है—"स्वभाव की गंभीरता, मन की समता, संस्कृति के अन्तिम पाठों में से एक है "Serenity of Spirit, peace of mind is one of the last lessons of culture."

संस्कृति और सभ्यता :

इससे स्पष्ट होता है कि–विचारों में सरलता, समता और निष्पक्षता संस्कृति है। अतः रहन-सहन एवं व्यवहार को संस्कृति नहीं कहा जा सकता। वेष-भूषा, खान-पान एवं रहन-सहन सभ्यता में समाविष्ट होते हैं। संस्कृति और सभ्यता दोनों एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। संस्कृति प्राण है और सभ्यता शरीर। जहाँ संस्कृति होगी, वहाँ सभ्यता, शिष्टता रहेगी ही। परन्तु यह नियम नहीं है कि जहाँ सभ्यता होगी, वहाँ संस्कृति होगी ही। सभ्य व्यक्ति संस्कृत हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता है।

संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध में श्रद्धेय मालवकेशरीजी महाराज ने बातचीत के प्रसंग में एक बार कहा था—"संस्कृति और सभ्यता दोनों की दिशाएँ अलग-अलग हैं। संस्कृति सरलता, निष्कपटता, निरभिमानता, एवं समता की ओर गतिशील रहती है, वह विकारों से हटना सिखाती है। और सभ्यता शृंगार की ओर दौड़ लगाती है। बनाव-ठनाव एवं ऐशो-आराम के साधनों में प्रगति करना सभ्यता का काम है। सभ्यता भोग की ओर बढ़ती है। यदि उस पर संस्कृति का अंकुश न रहे, तो वह व्यक्ति को विनाश की ओर ही ले जाती है। विश्व में हुए दो विश्व-युद्ध और वर्तमान में चल रहा तनाव व शीतयुद्ध का वातावरण और वर्ग-संघर्ष सभ्यता की देन है। मानव ने सभ्यता के क्षेत्र में अत्यधिक विकास किया है और प्रगति के चरण अभी भी बढ़ रहे हैं। परन्तु विचारों की संस्कृति

साथ में नहीं होने के कारण, आज सभ्यता मानव जाति के लिए वरदान नहीं, अभिशाप सिद्ध हो रही है।"

विज्ञान और संस्कृति :

विज्ञान के चमत्कार-वैज्ञानिक आविष्कार सभ्यता है और आत्म-चिन्तन संस्कृति है। जीवन के लिए वैज्ञानिक साधन भी आवश्यक हैं, परन्तु संस्कृति के साथ। यदि जीवन में विवेक नहीं है, संस्कार नहीं है, तो विज्ञान और वैज्ञानिक सभ्यता मानव को पतन के महागर्त में ही गिराएगी। वैज्ञानिक सभ्यता ने भौतिक विकास में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। व्यक्ति ने आकाश की ऊँचाई को भी नाप डाला और सागर की गहराई को भी नाप लिया। जल, स्थल और नभ तीनों पर मनुष्य का आधिपत्य है। प्रकृति की सभी शक्तियाँ उसकी मुट्ठी में बन्द है। सब पर उसका अधिकार है। आज मानव चन्द्र और मंगल ग्रह पर पहुँचने की योजना बना रहा है। उस दिशा में राकेट छोड़े जा रहे हैं और वहाँ का वायु मण्डल एवं वातावरण कैसा है, इसका रहस्य जानने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। मानव आकाश–पाताल तो छान रहा है, परन्तु अपने मन की क्या स्थिति है और वह स्वयं क्या है? इस रहस्य को समझने का प्रयत्न नहीं करता है। कवि दिनकर की भाषा में—

> "छाने तुम ने अमित लोक,
> पर, मन को कभी न छाना।
> अगणित आविष्कार किए,
> पर, अपना मार्ग न जाना॥"

सुख की साँस भी नहीं ले सकता। आज विश्व में जहाँ देखो, वहाँ अशान्ति ही अशान्ति परिलक्षित हो रही है। न व्यक्ति के जीवन में शान्ति एवं आनन्द है, न परिवार में, न समाज में, न संघ में न राष्ट्र में, और न विश्व में शान्ति की सरिता बह रही है और न किसी के चहरे पर आनन्द का उल्लास दिखाई दे रहा है। इसका कारण स्पष्ट है—सभ्यता के विकास की ओर सबका ध्यान है, पर संस्कृति की ओर किसी का लक्ष्य नहीं है। तन को मांजा जा रहा है, भौतिक साधनों को सँवारा और सजाया जा रहा है, पर मन को, विचारों को, माँजने का कम प्रयत्न किया जा रहा है। इसी का परिणाम है कि व्यक्ति आज विकास की चकाचौंध में विनाश के किनारे पर खड़ा है।

समाज और संस्कृति :

व्यक्ति और समाज दो भिन्न संज्ञाएं हैं। दोनों अलग-अलग दिखाई देते हैं। परन्तु दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं, सम्बद्ध हैं, एक दूसरे के परिपूरक हैं। व्यक्ति समाज से भिन्न नहीं है और समाज व्यक्ति से अलग नहीं है। व्यक्ति में समाज है और समाज में व्यक्ति समाविष्ट है। व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता।

एक-एक बूँद के सम्मिलन से सागर बना है। बूँद व्यष्टि और समुद्र समष्टि है। परन्तु बूँद का अस्तित्व समुद्र में है और सागर की सत्ता भी बूँद से है। यदि एक-एक बूँद बिखर जाए, तो न सागर रहेगा और न बूँद ही रहेगी। अस्तु, बूँद में सागर लहरा रहा है और सागर में बूँद तैर रही है।

इसी तरह व्यक्ति-व्यक्ति के मिलन से परिवार बनता है और

परन्तु हिमगिरी की चोटियों से गिरकर, पहाड़ी चट्टानों को पार कर, जब गंगा मैदानी समतल क्षेत्र में आती है, तब वह धरती पर फैलने लगती है। इधर-उधर से आने वाली अन्य धाराओं के मेल-मिलाप से उसका पाट चोड़ा होता रहता है, उसमें गहराई भी इतनी आ जाती है, कि पटना एवं कलकत्ता के आस-पास उसकी धारा पर बड़े-बड़े जहाज चलते हैं, और उसके प्रवाह की गति में भी तेजी आ जाती है। प्रारम्भ में छोटा-सा नाला दिखाई देनेवाला गंगा का स्रोत आगे बढ़कर विशाल प्रवाह बन जाता है। और अपने मे एक-दो या दस-बीस नहीं, शत-सहस्र धाराओं को समाविष्ट कर लेता है। जो भी धारा आती है—भले ही वह गन्दा नाला भी क्यों न आए, उसे भी अपने में समाविष्ट करके गंगा उसको भी गंगा के रूप में परिवर्तित कर देती है। गंगा और नाले का भेद, अभेद में बदल जाता है। गंगा का स्पर्श पाते ही भेद की दीवार ढह जाती है।

महान् विभूतियों का आदर्श भी महान् और विराट होता है। यह सत्य है कि वे अणु से महान् बनते हैं, और अणु को भी विराट् एवं महान् बना देते हैं। उनका जीवन अणु और महान् का संगम स्थल है। उसमें भेद को कहीं भी अवकाश नहीं रहता। जिधर देखो उधर उनके जीवन में व्यापकता, विशालता एवं विराटता ही परिलक्षित होती है। उनका जीवन न अपने लिए होता है, और न किसी एक-दो व्यक्ति विशेष के लिए होता है, वह तो जन-जन के लिए होता है। उनका अपना एक व्यक्ति, एक परिवार, एक समाज, एक प्रान्त और एक राष्ट्र नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण प्राणी जगत उनका अपना होता है। उनका चिन्तन, उनका विचार सब के हित के लिए होता है। उनकी वाणी सबके हित की भावना

को लेकर ही मुखरित होती है, और उनका कर्म होता है–"सर्व—जनहिताय सर्व–जन–सुखाय।"

इस महानता की गंगा का उद्भव छोटे-से नाले के रूप में होता है। उस समय कोई भी व्यक्ति यह कल्पना भी नहीं कर सकता, कि यह नन्हा सा स्रोत इतना विशाल और विराट् रूप धारण कर लेगा। परन्तु जब वह अपनी प्रगति की ओर कदम बढ़ाता है, तब उसके कदम रुकते नहीं। मार्ग में आने वाली चट्टानें उसकी प्रगति को रोक नहीं सकतीं, उसके विकास को अवरुद्ध नहीं कर सकती। अवरोध में भी वह अपना मार्ग बना लेता है, और अपने पथ पर अपने कदम बढ़ाता रहता है।

महापुरुष का उदय कभी महापुरुष के रूप में नहीं होता। वह सदा साधारण रूप में जन्मता है, साधारण व्यक्ति की तरह रहता है, और साधारण की तरह ही अनन्त की ओर चल पड़ता है। एक बार भारत में पश्चात्य टूरिस्ट-घुमक्कड़ भारत की यात्रा करने आए। वीर भूमि मेवाड़ के एक गांव में उनकी कार ठहरी। और उस दल के नेता फ्रैंकलिन ने ग्रामीणों से पूछा–"यहां कोई बड़ा आदमी, महान व्यक्ति कभी जन्मा?"

करने जा रहा हूँ, वह साधारण से ही महान् बने हैं। श्रद्धेय मालव केशरी जी महाराज, जिनका आज हमारे सामने गंगा से भी विशाल, और विराट् व्यक्तित्व, और विचारों का गांभीर्य है, वह उनके विकास का ही परिणाम है। अपने जीवन के अरुणोदय से विकास के पथ पर गतिशील यह विराट् व्यक्तित्व इतना व्यापक बना है, और निरन्तर प्रगति कर रहा है, जिससे आज वह जन-जन के मन-मन का श्रद्धा-केन्द्र बन गया। मैं ने देखा है–कि मालव, मध्यप्रदेश, राजस्थान, सौराष्ट्र-गुजरात, बम्बई, हैदराबाद, मैसूर और मद्रास सर्वत्र आपके व्यक्तित्व की छाप अंकित है।

जन्म भूमि :

सरिता एक स्थान पर बन्द नहीं रहती, वह सदा प्रवहमान रहती है। जिस प्रदेश से बहती है, उसे हरा-भरा बनाती जाती है। वह एक प्रदेश की नहीं रहती, फिर भी उद्गम स्थान की अपेक्षा से उसका भी एक निश्चित स्थान रहता है।

सन्त जीवन भी एक गाँव और एक प्रान्त की सीमा में आबद्ध नहीं रहता। वह सरिता की तरह सदा प्रवाहशील रहता है। बहते रहना ही उसकी निस्पृहता एवं निर्मलता का प्रतीक है। इससे उसमें दोषों की गन्दगी नहीं आती। एक विचारक ने सरिता से सन्त जीवन की तुलना करते हुए काव्य की भाषा में कहा है :—

> बहता पानी निर्मला, पड़ा गन्देला होय।
> साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय॥

श्रद्धेय मालवकेशरीजी महाराज का जीवन भी सदा गतिशील रहा है, और आज भी प्रगति पथ पर गतिशील है। वे किसी एक व्यक्ति, एक जाति, एक समाज एवं एक प्रान्त से बँधे हुए नहीं है। वे मानव-जाति के रहे हैं, और हैं। फिर भी जन्म की अपेक्षा

साहित्य, संगीत और कला-प्रवीण महाराज भोज का नाम भारत के ही नहीं, विश्व के विद्वानों की जिह्वा पर नाच रहा है। जो केवल सरस्वती-पुत्रों—विद्वानों का आदर-समादर ही नहीं करता था, परन्तु जो स्वयं भी विद्वान था, साहित्यकार था, और सरस्वती जिसकी वाणी पर नृत्य करती थी, संगीत कला से जिसे अपरिमित स्नेह था। और साथ में उसकी दान की धारा भी अबाध गति से सदा प्रवहमान थी। कोई भी अतिथि, विद्वान, और साहित्यकार उसके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटता था। विद्वत्ता, साहित्य और कला में ही नहीं, दान में भी वह अद्वितीय था, और राजनीति में भी प्रवीण था। भोज के युग की राजनीति का इतिहास उज्ज्वल-समुज्ज्वल रहा है। उसकी राजनीति धर्म और नैतिकता से अनुप्राणित थी। उसमें अमीर-गरीब का, ऊँच-नीच का जरा भी भेद नहीं था। न्याय और नीति की तराजू सब के लिए समान थी। राजा प्रजा को पुत्र की तरह प्यार-दुलार करता था। उस महामनीषी दानवीर महाराज भोज का जन्म भी इस मालव की उर्वरा धरा पर हुआ था।

इससे भी मालव की अधिक विशेषता यह है—मालव की सस्य-श्यामला भूमि ने अतीत काल में अनेक महान् सन्तों को जन्म दिया है। मालव का कण-कण सन्तों की पावन चरण-रज से सदा पावन पवित्र रहा है। मालव के चप्पे-चप्पे पर सन्तों की त्याग वैराग्य से परिपूरित वाणी गूँजती रही है, और आज भी ध्वनित हो रही है।

मालव क नैसर्गिक सौंदर्य भी अद्भुत है। वहाँ की भूमि स्निग्ध, सुकोमल और उपजाऊ है। कदम-कदम पर जीवन की साधन-सामग्री उपलब्ध है। मालव के सम्बन्ध में यह कहावत जन-जन में प्रसिद्ध है—

"मालव देश गहन गंभीर,
पग-पग रोटी, डग-डग नीर।"

जन्म-स्थल :

मालव की इस पुण्य-भूमि पर श्री मालवकेशरीजी महाराज का अवतरण हुआ। विक्रम सं १९५५ के लगभग नीमच शहर के पास सरवाणिया (महाराजा का) गांव में चौथमलजी फांफरिया के घर आपका जन्म हुआ। माता केशरबाई की प्यार की दुलार भरी गोद में द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ते रहे। उनके दादा का नाम केवलचन्दजी था। उनके दो बड़े भाई थे—नानालाल और गेंदमल। नानालाल गाव मोरवण में दत्तक गया था, और गेंदमल रतनपुर की खेडी में रिखबदासजी फांफरिया के घर दत्तक गया था। दोनों भाइयों का स्वर्गवास हो गया। गेंदमल का ससुराल सिंगोली गाँव में था! उसके ससुर का नाम भंवरलालजी नलवाया था। उसकी पत्नी का नाम धींगीबाई था। उसके नन्दलाल, सुन्दरलाल और भेरूलाल तीन पुत्र और गट्टूबाई एक पुत्री थी। वर्तमान में आपकी संसारी भाभी, और भतीजे एवं उनका परिवार रतनपुर की खेडी में रहते हैं।

लालन-पालन :

में तप कर ही महान् बने हैं। महानता कर्मों के द्वारा आत्मा पर लदे हुए कूड़े-कर्कट को हटाने पर ही प्रकट होती है। अतः दुःखमय जीवन को देखकर यह समझना भयंकर भूल है कि दुःखी जीवन की धारा सदा-सर्वदा प्रवहमान रहती है, बहती रहती है। वहना उसका स्वभाव है। उसके बहाव में कभी उतार आता है, तो कभी चढ़ाव भी आता है। हम देखते हैं, कि कभी सरिता में इतनी भयंकर बाढ़ आती है, कि नदी का पानी उसके दोनों किनारों के मध्य में समा नहीं पाता। वह तट के बन्धनों को तोड़कर चारों ओर फैल जाता है। परन्तु उसी नदी में कभी-कभी इतना थोड़ा जल रह जाता है, कि उसे एक छोटा-सा बच्चा भी खेलते-कूदते लांघ जाता है। इसी तरह जीवन में कभी वैभव एवं सुख-साधनों की सरिता पूरे वेग से बहती रहती है, और कभी उसके बहाव की गति मन्द, मन्दतर और मन्दतम भी हो जाती है। उस समय व्यक्ति के लिए जीवन-यापन करना भी कठिन हो जाता है।

व्यक्ति महान् कैसे हो सकता है? यह जीवन का परम सत्य है कि कमल सदा कीचड़ में ही उत्पन्न होता है, परन्तु कमल की विशेषता यही है, कि वह कीचड़ से लिपटा नहीं रहता उससे ऊपर उठ जाता है। उसी तरह महापुरुष अभावों में पलकर भी अभाव से ग्रस्त नहीं रहते। अभावों की घोर निशा में भी वे अपनी राह बना लेते हैं।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनकी राह सदा कांटों से भरी रही है, और संसार भी उनके पथ पर शूल ही बिखेरता रहा है। परन्तु वे शूल उनके महान् व्यक्तित्व को उभरने से रोक नहीं सके, उनको प्रगति पथ से पीछे मोड़ नहीं सके। इसलिए यह कहावत नितान्त सत्य है कि—महानता की राह फूलों से नहीं, शूलों से परिपूर्ण

है। उसमें, पग-पग पर कांटे-कंकर बिखरे पड़े हैं। अतः महान् वही है, जो शूल को फूल बना दे, कांटों में कमल खिला दे। फूल तो फूल है ही, शूल को फूल बनाना यही जीवन की विशेषता है।

महान् व्यक्ति बीज की तरह सदा धरती के आवरण में छिपे रहते हैं। समय आने पर वे कर्म के आवरण भेद कर अपनी महानता को अंकुरित एवं पुष्पित करते हुए आगे और आगे बढ़ते रहते हैं। वे जब तक विकास की चरम सीमा को छू नहीं लेते, तब तक उनके चरण रुकते नहीं, ठहरते नहीं। उनका एक ही नारा रहता है–चरैवेति, चरैवेति। श्रद्धेय मालव केशरीजी महाराज जिनकी यश-पताका आज भारत के कोने-कोने में लहर-लहर कर लहरा रही है, और जिनका नाम प्रत्येक स्थानकवासी की जबान पर चढ़ा हुआ है, परन्तु एक समय वह भी था, जबकि आपका परिचय आपके परिवार तक ही सीमित और जीवन की राह कष्टों एवं दुःखों के कांटों से अवरुद्ध थी।

न तो मन्दसौर में काम मिला, और न जावरा में ही नौकरी मिली। फिर भी वे घबराए नहीं, और न उन्होंने अपने पुरुषार्थ का ही परित्याग किया।

वे जावरा से सीधे रतलाम आ गए। उस वर्ष रतलाम महान् तेजस्वी आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज का वर्षावास था, और बाहर से हजारों व्यक्ति उनके दर्शनार्थ वहाँ आते रहते थे। आने वाले व्यक्तियों के भोजन के लिए वहाँ भोजनशाला खोली थी। अतः आप के पिताजी को वहाँ नौकरी मिल गई, खाने और रहने की व्यवस्था भी वहीं हो गई। सब कार्य व्यवस्थित रूप से चल रहा था। परन्तु इन्हीं दिनों में आपके पिताजी अत्यधिक बीमार हो गए और उन्हें हास्पीटल में दाखिल कर दिया गया। वहाँ कुछ स्वास्थ्य ठीक हुआ, तब उन्हें हास्पीटल से छुट्टी मिल गई। परन्तु कुछ दिन बाद तबीयत फिर बिगड़ गई, और उनका देहावसान हो गया। उस समय मालवकेशरी जी ढाई वर्ष के थे। दुर्भाग्यवश उन्हें बाल्यकाल में न तो माता की दुलार भरी प्यारी गोद मिली और न पिता का प्यार मिला। उन्हें इस बात का दुःख रहा है कि वे माँ की ममतामयी गोद एवं मातृ-वात्सल्य से वंचित रहे।

माता की मृत्यु के बाद पिता ने बालक को संभाल लिया था, और उसके लालन-पालन की ओर भी ध्यान दिया। मां की ममता और माँ-सा दुलार, तो पिता के पास कहाँ था? फिर भी पिता के हृदय में अपने पुत्र के प्रति जो प्रेम-स्नेह एवं ममत्व भाव था, वह भी अब नहीं रहा। अब आप का संरक्षक कोई नहीं रह गया था। अतः कुछ समय तक आप को रतलाम में श्रावकों के यहाँ रहना पड़ा। फिर एक दिन एक ब्राह्मण आया, और आप को अपने साथ लेगया। वह ब्राह्मण रतलाम से खाचरोद आया। कुछ दिन धर्मशाला में ठहरा।

के दो पुत्र थे—चान्दमलजी और सूरजमलजी। बालक सौभाग्य को सेठजी अपना तीसरा पुत्र समझते थे। वे बालक को पुत्र की तरह रखते थे, और उसी रूप में उसका पालन-पोषण कर रहे थे। उन्हें सेठजी से पिता का प्यार, और सेठानीजी चांद बाई, राजी बाई और बहन केसर बाई से माता-सा दुलार मिला। दोनों के प्यार-दुलार ने आपके मन में माता-पिता के वियोग को कभी उभरने नहीं दिया, और न कभी उनके अभाव को खटकने दिया।

आप का बचपन का जीवन बहुत ही मस्त और रंगीला था। सब तरह की चिन्ताओं एवं झंझटों से मुक्त था। रात-दिन खेलना-कूदना और मस्ती करना, यही एकमात्र काम था। पढ़ना-लिखना आप को बिल्कुल पसन्द नहीं था। पाटी और पुस्तक से आप कोसों दूर भागते थे। पढ़ने का नाम लेते ही बुखार चढ़ आता था। क्योंकि पढ़ने के लिए जाएँ, तो खेल-कूद में विघ्न पड़ता था। दिन-भर में कुछ घंटों के लिए—जब तक स्कूल में रहें या स्कूल का काम करें, तब तक खेल-कूद और शरारतों को बन्द करना पड़ता था। और यह आप को कतई पसन्द नहीं था। उस समय आप को इसके अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता था—खाना—पीना, खेलना-कूदना, शरारत करना और थकने पर सो जाना।

बचपन :

आज शान्त, विवेक और विचारशील परिलक्षित होने वाले मालव-केशरीजी बचपन में बहुत ही चंचल और चपल स्वभाव के थे। वे सदा नाचते-कूदते रहते और जो कुछ मिलता उसे तुरन्त तोड़-फोड़ देते। यदि कोई खिलौना या तोड़ने के लिए कोई वस्तु नहीं मिली, तो अपने पहनने के वस्त्र ही फाड़ डालते। उनके कपड़े बहुत ही कम दिन चलते थे। फिर भी सेठजी आपको अपना बच्चा समझ

मुझे पता नहीं कहाँ गए !

तुम इतनी देर कहाँ थे ?

बाहर गली में खेल रहा था !

सेठ जी को आवेश आ गया, और उन्होंने बालक के सुकोमल गालों पर दो-चार थप्पड़ जड़ दिए।

आपने रोते,बिलखते हुए कहा—अब मत मारो, मुझे माफ कर दो, भविष्य में फिर ऐसी गलती नहीं करूँगा। सेठजी ने भी बालक समझ कर छोड़ दिया।

भोलापन :

आप को खेलना-कूदना, घूमना-फिरना और खाना-पीना ही अच्छा लगता था। पढ़ना तो जानते नहीं थे। इसलिए पैसे के मामले में आप अनेक बार धोखा खा जाते थे। उन दिनों मध्य-प्रदेश में अफीम की खेती बहुत होती थी और खाचरोद से अफीम बाहर भी जाती थी। खाचरोद में अफीम का अच्छा व्यापार चलता था। आप भी खेलते-कूदते कभी-कभी दुकानों पर कुछ काम कर देते थे, और बदले में दुकानदार उन्हें अफीम की छोटी सी डली दे देता था। ऐसा करते-करते उनके पास अफीम का एक बड़ा पैकेट बन गया। उन्होंने सेठजी को बताया, कि मेरे पास इतनी अफीम जमा हो चुकी है बताइए, इसका क्या करूँ ?

सेठजी—अभी इसे अपने पास रहने दो। जब हम अपने माल को बाहर भेजेंगे, तब तुम से ले लेंगे, और तुम्हारे पैकेट को भी साथ में भेज देंगे। इसकी कीमत २५० रुपये मिलेगी, जिससे तुम्हारे गले में पहनने के लिये एक सोने का कण्ठा बना देंगे। यह सुनकर बालक का मन प्रसन्नता से खिल गया। वह सोचने लगा, कि यह काली-

वालक को एक साथ इतने पैसे कभी मिले नहीं थे। उसे क्या पता कि ये पैसे कितने हैं? और ढाइ-सौ रुपये कितने होते है? पैसों की संख्या बहुत देखकर वच्चे का मन ललचा गया। उसने अपने कमीज की झोली में पैसे भर लिए, और अफीम सेठजी को दे दी।

सेठजी ने उससे कहा--'देख, जल्दी चला जा। और किसी से कुछ कहना सुनना मत।

वालक तुरन्त दुकान से उतरा, और बाजार की ओर वढ़ गया। आज उसका मन खाने के लिए मचल रहा था। वह सब्जी वेचने वाली एक बुढ़िया के पास पहुँचा, ५-६ अच्छे पक्के हुए फ्रूट छांट लिए, जिनमें से मीठी-मीठी ख़ुशबू आ रही थी। और उनके वदले बुढिया के सामने अपने पास के सारे पैसे विखेर दिए। पैसे देकर और फ्रूट लेकर वह तेजी से गाँव के वाहर आ गया। उसे यह डर लग रहा था, कि कहीं सेठ मियाचन्दजी या उनके लड़के मुझे देख न ले, और मेरी चोरी पकड़ी न जाए। इसलिए गाँव के बाहर एक पुल के नींचे छिपकर बैठ गया, और फलों को खाने लगा। उसे खाने में बहुत मजा आ रहा है। वह तीन-चार फल खा गया। अभी भी कुछ फ्रूट वचे हुए थे, और खाने की इच्छा भी शेष थी, परन्तु पेट इतना तन गया था, उसमें ठूँसने के लिए जरा भी अवकाश नहीं रह गया था। इसलिए विवश होकर शेष फलों को वहीं छोड़ दिया। क्योंकि साथ ले जाने में भेद के खुल जाने का भय था। वह यह चाहता था कि अफीम के रहस्य पर पर्दा ही पड़ा रहे। इसलिए वह थोड़ी देर वाद खाली हाथ घर लौट आया, और खेल कूद में लग गया।

परन्तु वात छिपने वाली थी नहीं। सेठ मियाचन्दजी एक दिन अपना अफीम बाहर भेज रहे थे। उन्होंने सौभाग्य को आवाज दी,

मलाई-चोर :

इस तरह आप का वचपन भोलेपन और शरारता से भरा हुआ है। वचपन में आप बहुत नटखट थे, और यह तो हम देख ही चुके हैं कि खाने-पीने के भी वहुत शौकीन थे। मालव केशरी जी महाराज सुनाया करते हैं एक वार खाचरोद में प्लेग फैल गया। घर के सव लोग खाचरोद से गिनवाणिया चले गए थे। मैं भी साथ गया था, गाँव में हमारी वहुत वड़ी खेती थी, और कई भैंसें और गायें भी थीं। दोनों भाभी और वहिन दूध गर्म करके ऊपर लकड़ी की माल पर रख कर वाहर चली जाती थी। वैसे पीने के लिए दूध तो मिलता था, परन्तु खाने के लिए मलाई नहीं मिलती थी। अतः मलाई खाने के लिए मन ललचा रहा था। घर में कोई नहीं था, मैं अकेला ही खेल रहा था। मेरे मन में विचार आया कि मलाई तो खानी है, पर कैसे खाऊं। दूध के वर्तन वहुत ऊंचाई पर रखे हुए हैं। मेरे हाथ वहाँ पहुंच नहीं सकते। परन्तु सोचते-सोचते रास्ता भी निकल आया। यह कहावत पूर्णतः सत्य है—'जहाँ चाह, वहाँ राह।' मैंने पास में रखी हुई सीढ़ी को उठाया, और उसे लगा कर ऊपर चढ़ गया, और खूव छककर मलाई खाता रहा। अव मेरा यह प्रतिदिन का नियम-सा वन गया था। घर में और कोई नहीं रहता था, इसलिए मन में किसी भी तरह का डर एवं भय नहीं था। और मलाई खाने के वाद दूध के वर्तन को उसी तरह वापिस ढक देता था, जैसा कि खाने के पूर्व ढका रहता था। और सीढ़ी को भी वापिस नियत स्थान पर रख देता था। परन्तु संयोग की वात है—एक दिन में सीढ़ी लगा कर ऊपर चढ़ा, और मलाई खा ही रहा था, कि भाभी घर में आ धमकी। उस दिन किसी कार्य-वश भाभी जल्दी घर आ गई थी। मुझे इस वात का पता था नहीं। परन्तु मलाई

यह कहावत है—मार के सामने भूत भी भाग जाता है। भूत भी मार नहीं सह सकता, तो मैं कहाँ तक सहता। मैंने अपनी गलती स्वीकार कर ली। और पुनः इस तरह का काम नहीं करने की भी प्रतिज्ञा कर ली। कुछ दिन गाँव में रहा, जब प्लेग का रोग मिट गया, तब पुनः खाचरोद लौट आया।

एक उत्सव के समय सेठ मियाचन्दजी पेड़े बाँटते थे। इसलिए सौभाग्य को कुछ पेड़े लाने को भेजा। जब पेड़े लेकर आप आ रहे थे तो रास्ते में विचार आया, कि पेड़े ताजे और अच्छे हैं। घर पर सब बच्चों के साथ एक या दो पेड़े मिलेंगे। एक या दो पेड़े से क्या होता है ? अतः उन्होंने रास्ते में जितने पेड़े खाए जा सकते थे, खा लिए। और शेष पेड़े सेठजी के सामने रख दिए। सेठजी ने पेड़े उठाकर एक ओर रखे, तो उन्हें पेड़े वजन में कुछ कम लगे। सेठजी ने तराजू लेकर पेड़ों को तोला, तो वे जितने मंगवाये थे, उससे कम निकले। जब आप को पूछा गया, कि पेड़े कम क्यों है ? तो आपने अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए लापरवाही की भाषा में कहा— 'मुझे क्या पता ? हलवाई ने जितने तोल कर दिए मैं ले आया ? इससे अधिक इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानता ?'

सेठजी हलवाई की दुकान पर पहुँचे, और उससे पूछने लगे— तुमने पेड़े कितने दिए ?

आपने जितने मंगाए थे, उतने तोलकर भेज दिए।

परन्तु. पेड़े वजन में कम क्यों निकले ?

हलवाई ने आत्म-विश्वास के साथ कहा—सेठजी, मैं वर्षों से आपके यहां माल भेजता हूँ। आप मुझे जानते हैं, कि मैंने आज तक कभी कम नहीं तोला। भले ही लेने वाला व्यक्ति बड़ा हो या छोटा बच्चा हो। मैं सब को बराबर तौल कर देता हूँ। हो सकता है,

यह कहावत है—मार के सामने भूत भी भाग जाता है। भूत भी मार नहीं सह सकता, तो मैं कहाँ तक सहता। मैंने अपनी गलती स्वीकार कर ली। और पुनः इस तरह का काम नहीं करने की भी प्रतिज्ञा कर ली। कुछ दिन गाँव में रहा, जब प्लेग का रोग मिट गया, तब पुनः खाचरोद लौट आया।

एक उत्सव के समय सेठ मियाचन्दजी पेड़े बाँटते थे। इसलिए सौभाग्य को कुछ पेड़े लाने को भेजा। जब पेड़े लेकर आप आ रहे थे तो रास्ते में विचार आया, कि पेड़े ताजे और अच्छे हैं। घर पर सब बच्चों के साथ एक या दो पेड़े मिलेंगे। एक या दो पेड़े से क्या होता है ? अतः उन्होंने रास्ते में जितने पेड़े खाए जा सकते थे, खा लिए। और शेष पेड़े सेठजी के सामने रख दिए। सेठजी ने पेड़े उठाकर एक ओर रखे, तो उन्हें पेड़े वजन में कुछ कम लगे। सेठजी ने तराजू लेकर पेड़ों को तोला, तो वे जितने मंगवाये थे, उससे कम निकले। जब आप को पूछा गया, कि पेड़े कम क्यों है ? तो आपने अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए लापरवाही की भाषा में कहा—'मुझे क्या पता ? हलवाई ने जितने तोल कर दिए मैं ले आया ? इससे अधिक इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानता ?'

सेठजी हलवाई की दुकान पर पहुँचे, और उससे पूछने लगे—तुमने पेड़े कितने दिए ?

आपने जितने मंगाए थे, उतने तोलकर भेज दिए।

परन्तु, पेड़े वजन में कम क्यों निकले ?

हलवाई ने आत्म-विश्वास के साथ कहा—सेठजी, मैं वर्षों से आपके यहां माल भेजता हूँ। आप मुझे जानते हैं, कि मैंने आज तक कभी कम नहीं तोला। भले ही लेने वाला व्यक्ति बड़ा हो या छोटा बच्चा हो। मैं सब को बराबर तौल कर देता हूँ। हो सकता है,

बच्चे का मन पेड़े देखकर ललचा गया हो, और वह कुछ पेड़ खा गया हो।

सेठजी वापिस घर आए और पुनः आप से पूछा—क्या तुमने रास्ते में पेड़े खाए ?

आपने डरते-डरते लड़खड़ाते स्वर में कहा—"मैंने, मैं·······ने, नहीं तो, नहीं, नहीं, मैंने नहीं खाए।"

उस समय आपके चहरे की रंगत और मन में रहे हुए भय को देखकर सेठजी समझ गए कि हलवाई ने पेड़े पूरे दिए हैं, पर यही बीच में खा गया है। अतः जरा आवेश में आकर और गाल पर दो-चार चप्पत लगाते हुए—सेठजी ने फिर पूछा - सच बता, पेड़े किसने खाए ?

सेठजी की लाल-लाल आँखें और चप्पत मारने के लिए फिर से उठी हुई हथेली को देखकर आप घबरा गए, और मार से बचने के लिए आपने सत्य को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार आप का बचपन खेल-कूद, तोड़-फोड़, खान-पान एवं आमोद-प्रमोद में बीत गया। बचपन में आपने एक अक्षर भी नहीं पढ़ा।

भविष्य वाणी :

एक दिन सेठ मियाचन्दजी के घर पर बड़नगर से उनके प्रेमी सेठ चोधरी जी मिलने के लिए आए थे। बहुत देर तक सेठजी से बातें करते रहे। उसी बीच में सौभाग्य को आवाज दी. और कहा—सेठजी को पानी पिलाओ। बालक एक लोटा और एक गिलास पानी से भर कर ले गया। उसने अपनी हथेली पर गिलास रखकर सेठजी के सामने हाथ बढ़ाया। आगन्तुक सेठजी ने बालक की हथेली पर से पानी से भरा हुआ गिलास उठा लिया। उसी समय उनकी दृष्टि

वालक के हाथ की रेखाओं पर पड़ी। वे वालक के जीवन में विकसित होने वाले महान् व्यक्तित्व की उभरती हुई हस्त-रेखा को देखकर आश्चर्यान्वित हुए। मन में सोचने-विचारने लगे कि यह वालक केवल नाम से ही नहीं, भाग्य से भी सचमुच वहुत सौभाग्यशाली है।

बालक तो पानी पिलाकर चला गया, और घर के काम में लग गया। परन्तु वड़नगर वाले सेठजी ने सेठ मियाचन्दजी से पूछा, कि यह वालक कौन है? कहाँ का रहने वाला है और किसका लड़का है?

सेठजी ने कहा यह मेरे घर पर ही रहता है। मैं इसे पुत्र की तरह रखता हूँ। मुझे तो यह अनायास ही मिल गया था।

इसके हाथ की रेखाओं से ऐसा लगता है, कि यह वालक वहुत भाग्यशाली है। भविष्य में इसका व्यक्तित्व निखरेगा, और यह एक महान् व्यक्ति वनेगा।

सेठजी ने हँसते हुए, बात को टालते हुए कहा—आप किसके लिए कह रहे हैं? यह वालक तो वहुत्त उद्दण्ड स्वभाव का है। खेलने-कूदने और खाने-पीने के अतिरिक्त यह कुछ नही जानता। रात-दिन दंगा करता है। पढ़ना-लिखना तो इसे विल्कुल अच्छा नहीं लगता। पाटी और पोथी के तो कभी हाथ ही नहीं लगाता है। फिर यह महान् व्यक्ति कैसे वनेगा?

"अभी यह क्या कर रहा है यह मैं नहीं जानता। लेकिन मुझे इस में जरा भी सन्देह नहीं है, कि यह नटखट दिखाई देने वाला लड़का एक दिन महान् व्यक्तियों की पंक्ति में वैठे विना नहीं रहेगा। यदि यह घर में रहा तो राज सुख का उपभोग करेगा, और त्याग-मार्ग पर प्रवृत्त हो गया, तो महान् सन्त वनेगा। और अपने कुल की शोभा को वढ़ाएगा।"

इस भवष्यि-वाणी को सुनकर सेठजी का मन प्रसन्न हो गया। वे सोचने लगे, कि इस बालक को घर पर लाकर मैंने बहुत अच्छा काम किया। मेरे लिए यह सन्तोष की बात है कि भविष्य में महान् बनने वाले व्यक्ति का सहयोगी बनने का मुझे सुअवसर मिला।

आपका गुलाबी बचपन खाचरोद में बीता। वे खूब खेलते-कूदते और बाल-क्रीड़ाओं में व्यस्त-मस्त रहते थे। बचपन में इनकी प्रत्येक इच्छा को सेठजी पूरा करने का प्रयत्न करते थे। वे बाल स्वभाव से उनके मन में उठने वाले प्रश्नों का बड़े स्नेह से समाधान करते थे। वे न तो कभी बालप्रश्नों से झुंझलाते थे और न बालक के बाल हट को देखकर उन पर बिगड़ते थे। आप बाल-वय में खेल-कूद में ही मस्त रहे। न कभी स्कूल गए, और न घर पर ही कुछ लिखना-पढ़ना सीखा। शिक्षा की ओर उस समय आपकी बिल्कुल अभिरुचि नहीं थी।

आप सेठजी के घर में तीन वर्ष की उम्र में आए थे, और लगभग ६ दस वर्ष तक रहे. जब तक रहे बहुत ही स्नेह से रहे। आपको कभी भी यह अनुभव नहीं हुआ, कि सेठ जी मेरे पिताजी नहीं हैं। आप उनके घर को, उनके परिवार को अपना ही समझते थे, और वे भी आपको अपना ही समझ रहे थे। सेठजी के दोनों पुत्र—चान्दमलजी और सूरजमल जो आपको छोटे भाई की तरह प्यार करते थे। और चांदमलजी की पत्नी श्रीमती चांदबाई तथा सूरजमलजी की पत्नी श्रीमती राजबाई का आपके प्रति बहुत स्नेह था। और बहन केसरबाई के प्यार-दुलार का तो कहना ही क्या। आज सेठजी नहीं हैं, केवल उनकी स्मृति शेष रह गई है। उनके पुत्र सूरजमलजी के पुत्र—फतेचन्दजी और मदनलाल जी खिचनरा और उनकी माताजी राजीबाई ही वर्तमान में हैं।

वालक के हाथ की रेखाओं पर पड़ी। वे वालक के जीवन में विकसित होने वाले महान् व्यक्तित्व की उभरती हुई हस्त-रेखा को देखकर आश्चर्यान्वित हुए। मन में सोचने-विचारने लगे कि यह वालक केवल नाम से ही नहीं, भाग्य से भी सचमुच वहुत सौभाग्यशाली है।

बालक तो पानी पिलाकर चला गया, और घर के काम में लग गया। परन्तु वड़नगर वाले सेठजी ने सेठ मियाचन्दजी से पूछा, कि यह बालक कौन है? कहाँ का रहने वाला है और किसका लड़का है?

सेठजी ने कहा यह मेरे घर पर ही रहता है। मैं इसे पुत्र की तरह रखता हूँ। मुझे तो यह अनायास ही मिल गया था।

इसके हाथ की रेखाओं से ऐसा लगता है, कि यह वालक वहुत भाग्यशाली है। भविष्य में इसका व्यक्तित्व निखरेगा, और यह एक महान् व्यक्ति वनेगा।

सेठजी ने हँसते हुए, बात को टालते हुए कहा—आप किसके लिए कह रहे हैं? यह बालक तो बहुत्त उद्दण्ड स्वभाव का है। खेलने-कूदने और खाने-पीने के अतिरिक्त यह कुछ नही जानता। रात-दिन दंगा करता है। पढ़ना-लिखना तो इसे विल्कुल अच्छा नहीं लगता। पाटी और पोथी के तो कभी हाथ ही नहीं लगाता है। फिर यह महान् व्यक्ति कैसे बनेगा?

"अभी यह क्या कर रहा है यह मैं नहीं जानता। लेकिन मुझे इस में जरा भीं सन्देह नहीं है, कि यह नटखट दिखाई देने वाला लड़का एक दिन महान् व्यक्तियों की पक्ति में बैठे बिना नहीं रहेगा। यदि यह घर में रहा तो राज सुख का उपभोग करेगा, और त्याग-मार्ग पर प्रवृत्त हो गया, तो महान् सन्त वनेगा। और अपने कुल की शोभा को वढ़ाएगा।"

लवजी ऋषिजी महाराज, धर्मदासजी महाराज और जीवराजजी महाराज–में धर्मदासजी महाराज भी एक युग-पुरुष थे। आपका जन्म वि० सं० १७०१ चैत्र शुक्ला एकादशी को अहमदाबाद के पास 'सरखेज' गाँव में हुआ था। आप भावसार जाति के थे। पिता का नाम कालीदासजी और माता का नाम रूपाबाई था। बचपन से ही आपका जीवन त्याग-वैराग्य से ओतप्रोत रहा है। आप प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएँ करते थे और आगमों का स्वाध्याय भी करते थे। और दिन भर यतिजी के पास उपाश्रय में धार्मिक अध्ययन करते रहते थे।

पिताजी को आप से अनेक आशाएं थीं। वे आपके विवाह की तैयारी कर रहे थे, परन्तु आप अपने जीवन को दूसरी ओर मोड़ देने का विचार कर रहे थे। जब आप को यह ज्ञात हुआ कि विवाह की तैयारी हो रही है, तो आपने अपने माता-पिता से स्पष्ट कह दिया, कि मुझे शादी नहीं करनी है। मैं अपना जीवन साधना में लगाना चाहता हूँ। और अपने निश्चय के अनुसार आपने माता-पिता की अनुमति लेकर वि० सं० १७१६ आश्विन शुक्ला एकादशी के दिन १७ व्यक्तियों के साथ अहमदाबाद की बादशाह की वाडी में दीक्षा स्वीकार की।

आपने आगम-साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन किया, और इन पर गहन-गंभीर चिन्तन किया। अध्ययन के साथ-साथ आपका संयम-साधना पर विशेष लक्ष्य था। दीक्षा के बाद कुछ समय तक गुजरात में विचरकर धर्म की ज्योति जलाते रहे। अनेक व्यक्तियों को धर्म का शुद्ध स्वरूप समझा कर साधना-पथ पर गतिशील किया। फिर गुजरात से मालव की ओर पधारे और जन-जन के मन में ज्ञान और साधना की भावना जागृत करते रहे। आपकी संयम में निष्ठा और

प्रचार शक्ति को देखकर वि० सं० १७२१ माघ शुक्ला पंचमी को आपको संघ ने उज्जैन में आचार्य पद प्रदान किया। आपके ६६ शिष्य थे,जिनमें से बाईस शिष्यों के नाम से बाईस संप्रदायों की स्थापना हुई, जिसके कारण स्थानकवासी समाज का अपर नाम बाईस सम्प्रदाय भी प्रचलित हो गया था।

आदर्श-संथारा :

आप अपनी जीवन की संध्या के दिनों में मालव-प्रदेश में विचरण कर रहे थे। आप उस समय उज्जैन में विराज रहे थे। उन्हीं दिनों में मालव के प्रसिद्ध नगर किला धार में उनके एक शिष्य ने सथारा–आजीवन अनशन व्रत ग्रहण किया था। तप से उनका स्वास्थ्य सुधर गया, और उनका मन संथारे से हट गया। सन्तों के समझाने पर भी उनके जीवन में स्थिरता नहीं आ रही थी। पूज्य श्री को समाचार मिलते ही, उन्होंने अपने शिष्य को संदेश भिजवाया कि मैं शीघ्र ही धार आ रहा हूँ। मेरे आने तक अपनी प्रतिज्ञा का परिपालन करना। और वे उज्जैन से चलकर तीन दिन में धार पधार गए। आपने शिष्य के मन को स्थिर करने का बहुत प्रयत्न किया। परन्तु जब सफलता नहीं मिली, तो आपने अपने आदर्श की उज्ज्वलता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए श्री मूलचन्दजी महाराज को अपने संघ का उत्तरदायित्व सौंप कर शिष्य को पारणा करा दिया और उसके स्थान पर स्वयं अनशन व्रत स्वीकार कर लिया।

अनशन व्रत में ध्यान, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि क्रियाएँ व्यवस्थित रूप से चल रही थीं। प्रतिक्रमण एवं आलोचना करते समय आप विशेष रूप से स्वस्थ एवं प्रसन्न दिखाई देते थे। शारीरिक शक्ति प्रतिदिन क्षीण होती गई, परन्तु आत्म-तेज बढ़ता गया।

उनको न तो अपने जीवन पर व्यामोह था और न मरण का दुःख था। अन्त में वि० सं० १९५६ आषाढ शुक्ला पंचमी के दिन आपने समाधिपूर्वक नश्वर देह का त्याग किया। अपने आदर्श एवं धर्म का गौरव बनाए रखने के लिए आपके द्वारा किया गया त्याग-तप स्थानकवासी समाज के इतिहास में अमर हो गया। साथ में धार के गौरव को भी उज्ज्वल बना गया। वह जीवन दीप-बुझ गया, पर आपका त्यागमय प्रेरणा-दीप आज भी जन-जन के जीवन को प्रेरणा दे रहा है।

ताराचन्दजी महाराज :

आपकी परंपरा में पूज्य नन्दलालजी महाराज हुए हैं। आप भी आगमवेत्ता एवं महान् क्रिया-पात्र सन्त थे। आप के त्याग-तपमय जीवन को छाप जन-जन के मन पर पड़े बिना नहीं रहती थी।

आपकी सम्प्रदाय में श्रद्धेय ताराचन्दजी महाराज थे। आप सरल स्वभावी एव मधुर प्रकृति के सन्त थे। आपके जीवन में नम्रता, सहिष्णुता के साथ सेवा का अद्भुत गुण था। छोटे-बड़े सब सन्तों की सेवा करने में आपको विशेष आनन्द आता था। आप प्रायः ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय एवं जप-तप में संलग्न रहते थे।

श्रद्धेय किशनलाल जी महाराज :

पण्डित प्रवर श्रद्धेय किशनलालजी महाराज अमर यशस्वी पूज्य श्री नन्दलाल जी महाराज के शिष्य थे। आपका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। आपने अपने पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में शास्त्रों का तल-स्पर्शी अध्ययन किया था। आपका आगम ज्ञान गम्भीर था। आप जिस विषय का अध्ययन करते, गहराई से करते थे। अतः आपने आगमों का अध्ययनमात्र ही नहीं किया, शाब्दिक ज्ञान ही नहीं

प्राप्त किया, किन्तु उसमें अन्तर्निहित रहस्य को जानने का और उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न भी किया।

आप अपने युग के सफल प्रवक्ता थे। आपकी व्याख्यान शैली बहुत सुन्दर, सरल, सरस और आकर्षक थी। जब आप बोलते, तो जन-जन का मन मुग्ध हो जाता था। आपकी वाणी में माधुर्य एवं मिठास था। व्याख्याता के साथ आप कवि भी थे। आपने अपने जीवन काल में अनेक चरित्र और ढालें बनाई।

आपका स्वभाव बहुत शान्त, सरल और मधुर था। आप मिलन-सार प्रकृति के सन्त थे। प्रत्येक सम्प्रदाय के साधु-साध्वी के साथ साम्प्रदायिक भेदों को दूर रखकर बड़े प्रेम स्नेह से मिलते थे। और रात-दिन सेवा एवं स्वाध्याय और ध्यान में तल्लीन रहते थे। सेवा के समय आप न छोटे-बड़े का भेद देखते और न अपने-पराए का। जिस भाव से आप अपने पूज्य गुरुदेव एवं अपने प्रियतम शिष्य की सेवा शुश्रूषा करते, प्रसंग आने पर इसी भाव से अन्य सन्तों की सेवा-शुश्रूषा में लग जाते।

आपने अपने जीवन में बहुत लम्बे-लम्बे विहार किए हैं। आपने अपने साधना काल में गुजरात, सौराष्ट्र, बम्बई, महाराष्ट्र, खानदेश, राजस्थान (मारवाड़), मालव (मध्य-प्रदेश), मद्रास, मैसूर, हैदराबाद दिल्ली, उत्तर-प्रदेश आदि प्रान्तों की सड़कों और कच्चे धूल भरे रास्तों को अपने पैरों से नापा है। जन-जन के मन में धर्म की ज्योति जगाई, जनता की धर्म-भावना को जगाया, श्रद्धा-भक्ति को बढ़ाया और जनता के आचार-विचार को शुद्ध, सात्विक एवं उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न किया।

★

वि० सं० १९२७ की बात है। वैशाख के महीने में आचार्य प्रवर श्री नन्दलालजी महाराज, प्रवर्तक श्री ताराचन्दजी महाराज, पूज्य बावाजी श्री पूर्णमलजी महाराज, पूज्य गुरुदेव श्री किशनलालजी महाराज आदि सन्त खाचरोद पधारे। उस समय बालब्रह्मचारिणी महासती मेनकुंवरजी, प्रखर व्याख्यात्री विदुषी महासती श्रीमेहताब कुंवरजी आदि साध्वियाँ भी खाचरोद में विराजमान थीं। वैशाख कृष्ण तृतीया के दिन ब्राह्मणीपुरा के स्थानक में आचार्य श्री के सान्निध्य में उदयचन्द की दीक्षा होने वाली थी। उस समय सेठ मियाचन्दजी बालक सौभाग्य को लेकर स्थानक में आए। उस समय आचार्य श्री के पास खाचरोद के प्रमुख श्रावक जीतमलजी सेठिया, लखमीचंदजी नवलखा, सेठ इन्द्रमलजी कोठारी और सेठ प्यारचन्दजी छाजेड़, सेठ

चंपालालजी बूबक्या आदि बैठे हुए बातचीत कर रहे थे। सेठ मियाचन्दजी और सौभाग्यमलजी दोनों वहीं बैठ गए।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नन्दलालजी महाराज की पैनी दृष्टि ने दृष्टि पड़ते ही बालक सौभाग्य के भाग्य को परख लिया। उन्हें नन्हें बालक के जीवन में छिपा हुआ महान् व्यक्तित्व, और महान् कर्तृत्व दिखाई दिया। उन्होंने देखा कि यह बच्चा एक दिन महापुरुष बनेगा। वास्तव में जवाहरात की चट्टान या खंड को एक जौहरी ही परख सकता है। साधारण व्यक्ति के लिए तो वह सामान्य पत्थर की तरह पत्थर की चट्टान मात्र है। परन्तु उसकी बनावट एवं मिट्टी के मटमैले रंग के आवरण से आवृत्त उसकी चमक को देखकर जौहरी एवं उस विषय के विशेषज्ञ को यह अनुमान करने में देर नहीं लगती, कि यह सामान्य पत्थर नहीं, जवाहरात है। यदि इसे साफ करके काटा-छांटा जाए, और तराश लिया जाए, तो यह दर-दर की ठोकर खाने वाला पत्थर एक मूल्यवान नगीना बन सकता है। आचार्य श्री ने बालक के शारीरिक लक्षणों को देखकर श्री किशनलालजी महाराज से कहा, कि तू इस बच्चे को ऊपर ले जा, और इससे बात कर। किशनलालजी महाराज आचार्य श्री के योग्यतम शिष्य थे। वे आचार्य श्री के संकेत को तुरन्त समझ गए और बालक के मन को साधुत्व की ओर मोड़ने तथा अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगे। व्यक्ति को आकर्षित एवं उसके मन में एक भावना को जागृत करना, यह भी एक कला है। श्रद्धेय किशनलालजी महाराज इस कला में पारंगत थे।

वे इस बात को भलीभाँति जानते थे कि बच्चे तात्विक उपदेश को नहीं समझ सकते। उन्हें छोटी-छोटी कहानियाँ एवं खिलौनों तथा चित्रों के द्वारा ही समझाया जा सकता है। अतः उन्होंने सौभाग्य को

बड़े स्नेह के साथ अपने पास बिठाया और उसे नरक, स्वर्ग आदि के विभिन्न रंग-बिरंगे चित्र दिखाने लगे, और साथ में चित्रों के भावों को भी समझाने लगे। बच्चा चित्रों के देखने में इतना तन्मय हो गया, कि वह वहाँ से उठने का नाम ही नहीं ले रहा था।

सौभाग्य के ऊपर जाते ही आचार्य श्री ने सेठ मियाचन्दजी से पूछा, कि यह कौन है ?

सेठजी ने कहा—मैं इसे अपने पुत्र की तरह रखता हूँ।

"यह लड़का बहुत होनहार है। इसके शरीर के लक्षण बहुत सुन्दर हैं। यदि यह योग्य व्यक्ति के सानिध्य में रहे, तो इसके जीवन का विकास होगा, और भविष्य में यह भव्य जीवों को विकास का मार्ग दिखाएगा। यदि आप इस बालक को मुझे सौंप दें, तो यह जिन-शासन को बहुत चमकाएगा।"

आचार्य श्री के मुख से सौभाग्य के भविष्य की बात सुनकर सेठजी को बड़नगर वाले सेठजी द्वारा की गई भविष्य-वाणी की स्मृति आ गई, और उन्हें लगा कि उनकी भविष्य-वाणी साकार रूप लेने जा रही है। अब तो सेठजी को भी विश्वास होने लगा, कि इस बालक के जीवन में कुछ विशेषता है। अतः सेठजी ने कहा—पूज्य गुरुदेव ! सौभाग्य को आप दीक्षा देना चाहते हैं, इसमें मुझे कोई ऐतराज नहीं है। परन्तु, दीक्षा देने के पूर्व आप इस बच्चे के जीवन को भली-भाँति समझ लें, तो अच्छा रहेगा। यह एकदम अनपढ़ है, निरक्षर-भट्टाचार्य है। इसके लिए काला अक्षर और भैंस बराबर है। इसे नवकार-मन्त्र भी नहीं आता है। यह दिनभर खेलता-कूदता रहता है, और इधर-उधर भागता फिरता है, तथा तोड़-फोड़ करता रहता है। ऐसे अनपढ़ लड़के को दीक्षा देकर क्या करेंगे ?

सेठजी और आचार्य श्री दोनों सौभाग्य को देख रहे थे, परन्तु

दोनों की दृष्टि में अन्तर था। सेठजी सौभाग्य के वर्तमान जीवन को देख रहे थे, और आचार्य श्री उज्ज्वल भविष्य की कल्पना कर रहे थे। वे समझते थे, कि सौभाग्य सदा वैसा ही नहीं रहने वाला है, जैसा अभी दिखाई दे रहा है। यदि इसे कुशल एवं योग्य मार्ग-दर्शक मिल जाए तो सौभाग्य का व्यक्तित्व इतना निखर सकता है, और इसका प्रभाव इतना व्यापक बन सकता है, जिसकी आज कल्पना नहीं की जा सकती।

अत: आचार्य श्री ने सेठजी से कहा—आप इस बात की चिन्ता न करें, कि आज यह कैसा है? मैंने तो इसे एक मिनिट में परख लिया है। यदि आप आज्ञा दे दें, तो मैं इसे साधु बना सकता हूँ।

सेठजी ने कहा—गुरुदेव! इसे मैं अभी आज्ञा नहीं दे सकता। क्योंकि यदि कल कोई व्यक्ति इसका सम्बन्धी निकल आए, तो वह कह सकता है, कि आपने उसे दीक्षा कैसे दिला दी? आप को दीक्षा की आज्ञा देने का क्या अधिकार था? हमारे घर में, एवं गाँव में भी विरोध उठ सकता है। इसलिए अभी आप दीक्षा की बात न करें।

आचार्य श्री ने एवं पास में बैठे हुए प्रतिष्ठित श्रावकों ने तथा महासती श्री मेनकुंवरजी एवं महताबकुंवरजी ने सेठजी को समझा-बुझा कर तैयार कर लिया। सेठजी ने आचार्य श्री से कहा, कि आप दीक्षा तो दे सकते हैं, परन्तु उसके साथ मेरी एक शर्त है। और वह यह है, कि इस बात का किसी को पता न लगे, अर्थात् दीक्षा चुपचाप होनी चाहिए। गाँव के एवं मेरे परिवार के किसी व्यक्ति को यह ज्ञात न होने पाए, कि सौभाग्य ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

आचार्य श्री ने सेठजी की इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने शिष्य मुनि श्री किशनलालजी महाराज को बुलाकर उन्हें आज्ञा

दिया, कि जब मैं नीचे उदयचन्द का दाक्षा दूँ, उस समय ऊपर तुम सौभाग्य को चुपचाप दीक्षा दे देना।

सेठजी इन्द्रमलजी कोठारी ऊपर आए, और सौभाग्य से पूछने लगे—क्या तुझे भूख लगी है?

जी, हाँ, बहुत भूख लग रही है।

उठ मेरे घर चल। तुझे भोजन करा दूँ।

बच्चा उठा, और इन्द्रमलजी के साथ उनके घर गया, और चार फुलके एवं केरी का मुरब्बा खाकर पुनः इन्द्रमलजी के साथ स्थानक में लौट आया। और ऊपर किशनलालजी महाराज के पास आकर बैठ गया। उसे पता ही नहीं था, कि स्थानक में मेरे लिए क्या कुछ हो रहा है?

परन्तु वह खाना खाकर लौटा, उतने समय में उसकी दीक्षा के लिए सभी तरह की तैयारी हो गई थी। नया चोलपट्टा—धोती के स्थान पर पहनने का वस्त्र, नई चादर, रजोहरण, मुख-वस्त्रिका, पात्र आदि आ चुके थे। किशनलालजी महाराज और सेठजी ने नये-नये वस्त्रों को दिखाकर बालक से पूछा—इन वस्त्रों को पहनेगा? क्या साधु बनना है?

साधु बनने की बात तो उसके समझ में नहीं आई। परन्तु बहुत सुन्दर नये-नये चाद्दर-चोल पटक को देखकर और सन्तों की पूजा प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान को देखकर बालक का मन ललचा गया। उसने स्वीकार की भाषा में कह दिया–हाँ, इन वस्त्रों को पहन लूँगा।

इतना कहते ही उसके गृहस्थ के कपड़े उतार दिए गए, और उसे साधु के वस्त्र पहनकर ब्राह्मणीपुरा के स्थानक के ऊपर के कमरे में चुपचाप 'करेमि भंते' का पाठ पढ़ा दिया गया। अब बालक सौभाग्य मुनि सौभाग्य बन गया।

एक ही दिन स्थानक में दो दीक्षाएँ हो गईं—नीचे मुनि उदयचंदजी की, और ऊपर के कमरे में मुनि सौभाग्यमलजी की। लेकिन लोगों को मुनि उदयचन्दजी का ही पता था, दूसरी दीक्षा का उन्हें पता नहीं था। दीक्षा के बाद सब बहनें और भाई अपने-अपने घर चले गये सेठ मियाचन्दजी भी अपने घर चले गए, लेकिन सौभाग्य घर नहीं आया। जब सेठजी से सौभाग्य के सम्बन्ध में पूछा, तब उन्होंने कहा, कि उसे तो मैंने पहले ही घर भेज दिया था, पता नहीं वह कहाँ चला गया? रात के समय खाचरौद में इधर-उधर देखा, लेकिन सौभाग्य कहीं नहीं मिला। वह तो सन्त बन गया, अब किसी के घर में मिले तो कहाँ से मिले?

दीक्षा का पहला दिन :

सेठजी ने दीक्षा की बात को बहुत छिपाने का प्रयत्न किया, लेकिन वह छिप नहीं सकी। घर के व्यक्तियों को किसी के द्वारा यह ज्ञात हो गया, कि सौभाग्य तो चुपचाप साधु वन गया है। यह सुनते ही, सेठजी के परिवार के व्यक्तियों ने एवं आपकी बहन केशर बाई ने तथा भावजों ने यह निर्णय कर लिया, कि प्रातः उसे वापिस घर लाना है। सेठजी प्रातः चार वजे आचार्य श्री की सेवा में पहुँचे, और उन्हें सारी वातें बता दीं, तथा साथ में यह भी कह दिया, कि नव-दीक्षित सौभाग्य मुनि को सूर्योदय होते ही गाँव से वाहर भेज दें।

आचार्य श्री ने गांव में किसी तरह का संघर्ष न हो इसलिए सूर्योदय होते ही एक सन्त के साथ सौभाग्य मुनिजी को विहार करा दिया। केशरवाई, चाँदबाई, राजी बाई आदि जब स्थानक में आईं, तब आचार्य श्री ने उन्हें बहुत समझाया। परन्तु वे आचार्य श्री का दर्शन करके सीधी उसी गाँव की ओर आगे बढ़ गईं, जिस ओर आपने विहार किया था। और जंगल में थोड़ी दूर पर ही आकर आपको

घेर लिया। आप एकदम घबरा गए। साथ के मुनिजी भी सोचने लगे कि अब क्या करें। केशरबाई आदि बहनें मार्ग रोक कर खड़ी थीं। वे उन्हें वापिस घर ले जाना चाहती थीं। इतने में सेठ मियाचन्दजी भी वहाँ आ गए और उन्हें समझा-बुझा कर घर ले गए। अब आपका मार्ग प्रशस्त हो गया। आप दोनों मुनि आगे बढ़ने लगे। और खाचरौद से चार मील पर जो गाँव था, वहाँ आकर ठहर गए। क्योंकि आचार्य श्री ने वहीं ठहरने का आदेश दिया था।

उसी दिन—वैशाख कृष्ण चतुर्थी को प्रात: प्रतिलेखन आदि कार्य से निवृत्त होकर आचार्य श्री ने भी विहार कर दिया। चम्पाबाई के पिता की मिठाई की दुकान थी, और वे आचार्य श्री के परम-भक्त थे। अत: विहार के समय उन्होंने अपनी दुकान पर पधारने का अत्यधिक आग्रह किया। उनका आग्रह आचार्य श्री टाल नहीं सके। वहाँ से कुछ मिठाई लेकर आचार्य श्री अपने सभी साधुओं के साथ खाचरौद से चल दिए, और उसी स्थान पर आ पहुँचे जहाँ आप ठहरे हुए थे। वहाँ आने पर सभी साधु आहार करने बैठे। आप नवदीक्षित थे, और सब से छोटे भी थे, इसलिए आचार्य श्री ने आप को लड्डू, पेड़े, खोपरापाक आदि मिठाई खाने को दी तो आपने पेट भर कर खूब खाया। और मन में सोचने लगे, कि यह दीक्षा तो बहुत मजेदार है। इसमें बहुत आनन्द है। अच्छा हुआ, मैंने दीक्षा स्वीकार कर ली।

दीक्षा के भेद :

स्थानांग—सूत्र में चार प्रकार की दीक्षा का वर्णन आता है। सिंह की तरह दीक्षा स्वीकार करे, और उसी तरह पालन करे। सियार की तरह दीक्षा स्वीकार करे, और उसी तरह उसका पालन करे। दीक्षा लेते समय सिंह जैसी साहस-युक्त वृत्ति से ले, परन्तु बाद में

सियार की तरह पालन करे। दीक्षा लेते समय सियार की तरह डरता हुआ ले, परन्तु बाद में सिंह की तरह दीक्षा का शूरवीरता के साथ परिपालन करे। इसमें प्रथम सिंह की वृत्ति से लेना, और परीषह आने पर सिंह की तरह वीरता से उनका सामना करते हुए दीक्षा का परिपालन करना, साधना का सर्व-श्रेष्ठ मार्ग है। परन्तु परीषहों की कल्पनाओं से डरते-डरते सियार की तरह साधना के पथ पर कदम रखना, किन्तु कदम रखने के बाद साहस एवं धैर्य के साथ परीषहों पर विजय प्राप्त करते हुए सिंह की तरह अपने साधना पथ पर गति-प्रगति करते रहना भी श्रेष्ठ है। परन्तु इसके अतिरिक्त जो अन्य दो तरह की वृत्तियाँ है—पहले ही सियार की तरह परीषहों के भय से डरते हुए, भयभीत होते हुए कदम रखना और कदम रखने के बाद अन्त तक डरते रहना, रोते-कल्पते हुए जीवन बिताना तथा पहले तो साहस के साथ कदम रखना, और परीषहों के सामने आते ही लड़खड़ाना या डर कर सियार की तरह पलायन कर जाना, निम्न कोटि की साधना है। साधना के पथ पर साधक किस प्रकार कदम रखता, इसका महत्व नहीं, महत्व इस बात का है, कि वह साधना के पथ पर किस प्रकार बढ़ता है और अपने जीवन में साधना को किस प्रकार साकार रूप देता है। साधना को जीवन के कण-कण में रमा लेना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

घेवरिया मुनि :

जैन कथा-साहित्य में अनेक मुनियों के जीवन का वर्णन मिलता है, जो साधना के पथ पर किसी लालचवश या जीवन में कुछ कठिनाइयाँ आ जाने के कारण आए, परन्तु जब उन्हें साधना एवं अपने साध्य का परिज्ञान हो गया, तब उनका जीवन आत्म-तेज से ज्योतिर्मय बन गया। घेवरिया मुनिवर ऐसे ही सन्तों में से एक सन्त हो चुके

हैं। उन के सम्बन्ध में बताया जाता है, कि गोचरी-भिक्षा ग्रहण करने को गए हुए मुनि के पात्र में घेवर देखकर एक सामान्य स्थिति के बालक के मन में घेवर खाने की इच्छा प्रबल हो उठी। वह मुनि के साथ-साथ स्थानक में आ पहुँचा जहाँ मुनि ठहरे हुए थे। और जब सब मुनि आहार करने बैठे, तब वह भी वहाँ बैठ गया। जब उसे वहाँ से उठने के लिए कहा, तब वह अपनी इच्छा को रोक नहीं सका। उसने कहा—मैं तो यहाँ घेवर खाने आया हूँ। आप मुझे भी घेवर दें?

सन्तों ने कहा—हम तुम को घेवर तो खिला सकते हैं। परन्तु इसके लिए तुमको हमारे जैसा साधु बनना होगा। क्या तुम को हमारी शर्त स्वीकार है?

बालक को घेवर खाना था। अतः उसने कहा—मुझे आपकी शर्त स्वीकार है। भले ही, आप मुझे साधु बना लें, पर पेट-भर कर घेवर खिला दें। यदि खाने को घेवर मिलते हैं, या अच्छे-अच्छे पकवान मिलते हैं, तो साधु बनना कोई बुरा नहीं है।

सन्तों ने उसे दीक्षा दे दी, और सन्तों के मध्य में बैठा कर उसे भर-पेट घेवर खिला दिया। अब वह सन्तों के साथ ही रहने लगा, और उनके जैसी क्रियाएँ भी करने लगा। और पूज्य गुरुदेव के पास बैठकर आगमों का अध्ययन भी करने लगा। आगम साहित्य का अध्ययन करते-करते उसे यह ज्ञान हो गया, कि आसक्ति, वासना, कामना एवं इच्छा ही तो दुःख का, जन्म-मरण का, एवं संसार का मूल कारण है। और मैं कैसा मूर्ख हूँ, कि भोजन में आसक्त हो रहा हूँ। साधना पदार्थों में आसक्ति बनाई रखने, या बढ़ाने के लिए नहीं, प्रत्युत आसक्ति को समाप्त करने के लिए है। वेश परिवर्तन कर लेना ही साधना नहीं है, भूखे मरना ही तप नहीं है, साधना एवं

तप और ही कुछ है। आसक्ति का त्याग करना, इच्छा का निरोध करना ही साधना है, तप है और साध्य को प्राप्त करने का मार्ग है। इसीलिए महापुरुषों ने तप की, त्याग की, साधना की एक शब्द में व्याख्या की है—

"इच्छा निरोधो तपः"

यह परिज्ञान हो जाने के बाद घेवरिया मुनि—उस बालक का नाम तो और कुछ था, जिसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु घवर खाने की भावना से प्रेरित होकर दीक्षा ली थी, और घवर खाने की अधिक लालसा रहने के कारण वे इसी नाम से प्रसिद्ध हो गए, घेवर एवं अन्य पकवानों को छोड़ने का या उनका त्याग करने का उपदेश नहीं देना पड़ा। मन में से आसक्ति का जहर निकल जाने के बाद त्याग का उपदेश नहीं देना पड़ता है। फिर त्याग तो अपने आप हो जाता है। अतः त्याग वही है जिसे करना न पड़े, प्रत्युत स्वाभाविक रूप से हो जाए।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि दीक्षा के समय उनके मन में भी अच्छे वस्त्र पहनने एवं अच्छा खाना खाने की भावना थी, और इसी इच्छा से वे साधना की ओर प्रेरित भी हुए। पर ज्ञान होने के बाद उनके जीवन की धारा भी बदल गई। आगे के पृष्ठों में हम देखेंगे, कि उनके जीवन का विकास किस प्रकार हुआ। दीक्षा के समय आप बालक ही तो थे, और साथ में अक्षर-ज्ञान से भी शून्य थे, और सैद्धान्तिक ज्ञान के सम्बन्ध में तो उस समय उन्हें यह भी पता नहीं था, कि सिद्धान्त कहते किसे हैं ? अतः उस समय इतनी ही आशा की जा सकती थी, कि वे खाते-पीते हुए भी साधना को जानने एवं उसे जीवन में उतारने के प्रयत्न में लगे रहें।

आयम्बिल-तप :

दीक्षा के पश्चात् आप आचार्य श्री के साथ-साथ बिहार करते हुए उज्जैन पधारे। आचार्य श्री का आप पर बहुत स्नेह था। वे आप को अपनी गोद में सुलाकर प्रेम और स्नेह से 'नमो अरिहंताणं' आदि नमस्कार-मंत्र के पद याद कराते। कई बार पदों का उच्चा-रण करते-करते ही आप सो जाते। तब आचार्य श्री एक ओर आसन बिछाकर आपको सुला देते। इस प्रकार आचार्य श्री ने बड़े स्नेह से आपको धीरे-धीरे नवकार-मंत्र, करेमि भन्ते सामायिक की पाटी, इच्छाकारेणं आदि करते-करते चार महीने में पूरा प्रति क्रमण सिखा दिया।

उज्जैन में चतुर्दशी का दिन था। सभी सन्तों ने आचार्य श्री से कहा—हम आज आयम्बिल करना चाहते हैं। सब के साथ आपने भी आयम्बिल का प्रत्याख्यान कर लिया। आपको यह तो पता नहीं था, कि आयम्बिल क्या होता है ? लेकिन मन में सोचा, कि सब साधु करते हैं, तो कोई अच्छी चीज होगी। यह समझकर आपने भी आयम्बिल का तप किया, और संयोग भी ऐसा मिला, कि आप का मन प्रसन्न हो गया।

आयम्बिल का आहार लाने के लिए श्री किशनलालजी महाराज गोचरी गए। पानी लाने का एक बड़ा पात्र ले गए थे, कि इस में लाई, चने, मुरमुरा आदि ले आऊंगा ? इसके लिए वे एक घर में पहुंचे, और पूछा कि सेठजी लाई, मुरमुरा, चने आदि हैं क्या ? सन्तों के आज आयम्बिल हैं। इसलिए लुखा-रूक्ष आहार हो तो वहरा दो ?

महाराज को घर में प्रवेश करते देखकर सेठजी खड़े हो गए। हाथ-जोड़ कर श्रद्धापूर्वक वन्दना की, और आदरपूर्वक रसोई में ले

गए, और आप अन्दर की ओर गए कि मैं देखता हूं, अन्दर क्या-कुछ है ?

महाराज पात्र खोल कर प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने में अन्दर से सेठजी एक टोकरी लेकर आए, और महाराज यह पूछते कि क्या है, उसके पहले ही खुले पात्र में टोकरी खाली कर दी। महाराज देख कर आश्चर्यचकित रह गए—सेठ साहव ! यह क्या किया ?

"कुछ नहीं किया महाराज ! घर में चने आदि तो थे नहीं, अभी विवाह हुआ है। उसके लड्डू पड़े थे। आप जैसे महान् सन्तों को खाली हाथ कैसे लौटाऊं ? इसलिए जो था, वह वहरा दिया। और जो वहराया है, वह निर्दोष एवं शुद्ध आहार है।"

आहार तो शुद्ध है, परन्तु आज सन्तों के आयम्विल है। अतः ये लड्डू कैसे खाएँगे ?

मैं तो वहराया हुआ आहार वापिस नहीं लूंगा। अव आप जानें। आप जो चाहें सो करें। मैंने तो शुद्ध भाव से आपको दे दिया।

जव वहुत समझाने-वुझाने पर भी सेठजी ने लड्डू वापिस नहीं लिए, तव आप वह लड्डू परिपूर्ण पात्र लेकर स्थानक में आ गए। और पात्र आचार्य श्री के सामने रख दिया।

आचार्य श्री ने कहा—आज तुम लड्डू कैसे लाए ? क्या तुम्हें पता नहीं था, कि आज तो सव सन्तों के आयम्विल है।

श्री किशनलालजी महाराज ने विनम्र भाव से कहा—पूज्य-गुरुदेव ! मुझे पता था, कि आज सव सन्तों के आयम्विल है। अतः मैं चने, फूली आदि लेने गया था। परन्तु सेठजी ने अचानक ही मेरे पात्र में लड्डू डाल दिए। मैंने उन्हें वहुत समझाया, पर उन्होंने मेरी एक भी वात नहीं सुनी। अव आप जैसे कहें, वैसा कर दिया जाए।

आचार्य श्री ने कहा—अव लाए हुए आहार को परठना-फेंकना

अच्छा नहीं है, वैसे साधु आयम्बिल में लुखा आहार ही करता है। परन्तु यदि सरस आहार आ जाए और उसे बाहर परठना पड़ता हो, तो ऐसी स्थिति में उपवास एवं आयम्बिल में भी साधु के यह आगार-मर्यादा रहती है, कि वह उस आहार को कर ले। यदि अनासक्त भाव से अत्यना को रोकने के लिए साधु आहार करता है, तो उसका तप भंग नहीं होता। इसलिए आचार्य श्री ने सभी सन्तों को लड्डू खाने की आज्ञा दे दी। क्योंकि लड्डू इतने अधिक थे, कि एक साधु खा नहीं सकता था। अतः गुरुदेव ने सब साधुओं को तीन-तीन लड्डू दे दिए। सौभाग्य मुनिजी ने बड़ी मस्ती से तीन लड्डू खाए। उनका यह पहला ही आयम्बिल था। अतः सोचने लगे, कि यह आयम्बिल तो बहुत अच्छा है। ऐसा आयम्बिल तो मैं प्रतिदिन कर लिया करूंगा। उन्होंने अपने गुरुदेव से एक लड्डू और मांगा। और वह उन्हें मिल गया। अतः खूब पेट भर कर खा लिया।

दूसरे दिन प्रातः प्रतिक्रमण के बाद आपने आचार्य श्री से कहा—आज भी मुझे आयम्बिल का प्रत्याख्यान करा दें।

आचार्य श्री ने पूछा—आज क्यों आयम्बिल कर रहा है? आज तो कोई अष्टमी-चतुर्दशी आदि तिथि नहीं है?

अष्टमी-चतुर्दशी आदि तो नहीं है, परन्तु कल किया था न! उस में बड़ा मजा आया। अतः आज भी वैसा आयम्बिल करना चाहता हूं।

कल जो खाया था, वह तो जबरदस्ती पात्र में डाल देने के कारण उसे परठना-फेंकना न पड़े, इसलिए खाने को दे दिया। परन्तु आयम्बिल में मोदक खाने को नहीं मिलते हैं।

तब वह कैसे किया जाता है?

लुखी रोटी, वह भी बिना नमक की या चावल, चने, फूली

आदि रूक्ष आहार को पानी में भिगो कर खाया जाता है। बोल, यह आयम्बिल करना है ?

बालक का आयम्बिल करने का अब उत्साह नहीं रहा। नहीं, ऐसा आयम्बिल तो नहीं करूंगा।

इस प्रकार आचार्य श्री नन्दलालजी महाराज कुछ दिन उज्जैन विराजे। चातुर्मास खाचरौद का स्वीकार किया था। अतः उज्जैन से विहार करके गाँवों का स्पर्शन करते हुए खाचरौद पधारे। अब तक आपका प्रतिक्रमण पूरा हो चुका था। इसलिए दीक्षा के चार महीने के बाद आपकी बड़ी दीक्षा भी हो गई।

बड़ी दीक्षा :

खाचरौद आने के बाद प्रतिक्रमण पूरा हो चुका था। कुछ थोकड़े भी याद कर लिए थे। अतः अब आपको हिन्दी का अभ्यास शुरू कराया। एक अध्यापक आपको पढ़ाने के लिए आता था। अ, आ से अभ्यास शुरू किया। प्रारम्भ में तो बड़ा अटपटा लग रहा था। पाटी पर लिखना, उन अक्षरों को जमाना, और फिर सबक याद करना। बड़ा झंझट लग रहा था। परन्तु कुछ दिनों के बाद आप उसी में तन्मय हो गए, और अब इतना आनन्द आने लगा, कि रात-दिन पढ़ने लिखने में ही मस्त रहते थे। प्रथम वर्षावास में हिन्दी का अच्छा अभ्यास कर लिया। पुस्तक पढ़ना एवं लिखना भी सीख गए।

वर्षावास के बाद आचार्य श्री खाचरौद से विहार करके धार पधारे। मालवा में धार एक प्रसिद्ध स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टि से धार का बहुत महत्व रहा है। महाराज विक्रमादित्य की राजधानी धार ही थी। यहीं उनका किला था। आज भी यह स्थान किला धार के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर श्री वत्सराजजी की दीक्षा हुई थी। कुछ दिन धार ठहरे। फिर आस-पास के क्षेत्रों में धर्म-प्रचार करते

हुए उज्जैन पधारे। यहाँ जेष्ठ शुक्ला पंचमी सं० १९६८ को वत्सराज जी के सुपुत्र श्री सूर्यमुनिजी—जो वर्तमान में श्री वर्धमान श्वेताम्बर स्थानकवासी श्रमण-संघ के प्रवर्तक हैं, की दीक्षा हुई। आचार्य श्री नन्दलालजी महाराज के सान्निध्य में बहुत ठाठ बाट से दीक्षा सम्पन्न हुई। सूर्य मुनिजी भी उस समय ९ वर्ष की उम्र के ही थे। अतः आप दोनों साथ-साथ पढ़ने लगे।

आपका दूसरा वर्षावास साजापुर संघ का अत्यधिक आग्रह होने से आचार्य श्री की सेवा में साजापुर हुआ। इस वर्षावास में आपका अध्ययन अच्छा हो गया। हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने लगे, दशवैकालिक का भी कुछ अध्ययन किया, और कुछ थोकड़े भी सीख लिए। इस प्रकार आप अध्ययन के क्षेत्र में आगे बढ़ने लगे। इससे आचार्य श्री जी एवं आपके पूज्य-गुरुदेव को बहुत प्रसन्नता हुई। और आपके विकास में पूरा सहयोग देने लगे।

साजापुर के बाद आचार्य श्री की सेवा में आपने १९६९ का वर्षावास जोधपुर किया। उसके पश्चात् मारवाड़ में घाणेराव सादड़ी और किशनगढ़ चातुर्मास किया। वहाँ आचार्य श्री की मूर्तिपूजक संत इन्द्रविजयजी के साथ चर्चा हुई। उसमें आचार्य श्री ने विजय प्राप्त की।

किशनगढ़ से अजमेर होकर आचार्य श्री ब्यावर पधारे। वहाँ आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मिला। उन्हीं दिनों खींचन से विहार करके पूज्य श्री ज्ञानचन्दजी म० (जो धर्मदास जी म० की समुदाय के थे), श्री पन्नालालजी म०, पण्डित श्री इन्द्रमल जी म०, तपस्वी सिरेमलजी म० और पण्डित समर्थमलजी म० एवं नन्दकुंवरजी की सम्प्रदाय की सतियें भी पधारीं। आचार्य श्रीलालजी म० के अथक परिश्रम एवं प्रयत्न से सबका संघटन होकर संभोग शुरू हुआ।

किशनगढ़ के वाद इन्दौर और इन्दौर के वाद धार चातुर्मास हुआ। लोगों के मन में वहुत उत्साह था। लोग रात को व्याख्यान सुनना चाहते थे। आचार्य श्री ने किशनलालजी महाराज से कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया, कि मैं तो प्रातःकाल व्याख्यान देता हूँ, अतः रात को नहीं दे सकता। तव आचार्य श्री ने आपको व्याख्यान देने के लिए कहा। आपने पहले कभी व्याख्यान दिया नहीं था। अतः कुछ झिझक रहे थे। परन्तु आचार्यश्री ने उत्साहित करते हुए कहा—डरने की क्या वात है ? दिन को मैं तुमको पाण्डव चरित्र में से कथा सुना दूँगा, और रात को तुम जनता को सुना देना। आपने इस वात को स्वीकार कर लिया। और पाण्डव-चरित्र में से प्रद्युम्न कुमार की कथा शुरू कर दी। दिन को आचार्य श्री से सुनते, और उसे ढाल के रूप में जोड़ लेते। फिर रात को गा कर ढाल वांचते।

आप के गले का स्वर वहुत मधुर था, और वाल सुलभ कोमलता भी थी। इसलिए आपकी कथा लोगों को वहुत रुचिकर लगी। रात को आपके व्याख्यान में हजार-वारह-सौ व्यक्ति इकट्ठे हो जाते थे। आपके व्याख्यानों का जन-जन के मन पर अच्छा असर पड़ा, और आपका साहस भी वढ़ गया। उसके वाद गाँवों में रात के व्याख्यान आप ही दिया करते थे।

राजस्थान की ओर :

धार के पश्चात् आप आचार्य श्री की सेवा में महासती माणक कुंवरजी को दर्शन देने मुलतान पधारे। यहाँ भी आप रात में व्याख्यान देते थे। मुलतान के ठाकुर साहव ने व्याख्यान सुना। आप के व्याख्यानों में अच्छी उपस्थिति होती थी। फिर आप आचार्य श्री के साथ रतलाम पधारे। रतलाम में भी आपका वहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। एक दिन व्याख्यान में समाज-व्यवस्था की वात चल पड़ी।

आपने कहा—हम तीन सन्त एक गाँव में गए। सर्दी का मौसम था। ठहरने के लिए एक मन्दिर बताया। मन्दिर पत्थर का बना हुआ था, और चारों ओर से खुला था। मेवाड़ की सर्दी से तो आप परिचित ही हैं। हमने वहाँ जो एक घर जैन का था, उससे कहा—भाई, इस मन्दिर में तो ठण्ड बहुत रहेगी। यदि कोई बन्द कमरा मिल जाए तो अच्छा रहेगा। उसने कहा—और मकान नहीं है। रात को मैं अपनी दुकान का कपड़ा ऊपर रख दूंगा, दुकान में आप सो जाना। हमने इस बात को स्वीकार कर लिया, और रात को उस दुकान में सो गए। दुकान छोटी थी, तीन आसन ही उसमें में हो पाए. हम आराम से सो गए।

कुछ रात व्यतीत होने पर दुकान में चूहे उछलने कूदने लगे। अनेक चूहे हमारे ऊपर दौड़ रहे थे, इधर-उधर कूद रहे थे। जैसे-तैसे रात बिताई। सुबह हमने सेठ से कहा—दुकान में चूहे बहुत हैं। हमने तो रात बिता दी, परन्तु तुम्हारे कपड़े तो बहुत काटते होंगे?

सेठ ने कहा—महाराज ये चूहे मेरे कपड़ों को नहीं काटते। मैं रात को सारे कपड़े ऊपर रख कर दुकान के फर्श पर सेर-डेढ़ सेर अनाज बिखेर देता हूँ। चूहे रात को आते हैं, और अनाज खाकर चले जाते हैं। परन्तु मेरे माल को नुकसान नहीं पहुँचाते।

कारण स्पष्ट है, कि यदि चूहों को खाने के लिए नहीं मिलता, तो वे दुकान में रखे कपड़ों को कुतरे बिना नहीं रहते। परन्तु जब उन्हें जमीन पर खाद्य सामग्री मिल गई, तो वे उसे खाने में ही लग गए। अब उनके पास इतना समय ही नहीं रहा, कि उछल कर ऊपर चढ़े तथा किसी के माल को नुकसान पहुँचाए।

यही स्थिति समाज की है। जब व्यक्ति सम्पत्ति को एवं साधनों को चारों ओर से बटोरना शुरू करता है, और उससे अपने घर को

भरने लगता है, तो उसका परिणाम यह होता है, कि एक ओर धन का ढेर लगजाता है, तो दूसरी ओर उसका अभाव हो जाता है।

जब पृथ्वी को खोदकर उसमें से मिट्टी-पत्थर निकाल कर कुआँ खोदा जाता है, तब क्या होता है ? एक ओर जमीन के ऊपर मिट्टी और पत्थर के टुकड़ों का छोटा-सा पहाड़ खड़ा हो जाता है, और दूसरी ओर जमीन में गहरा गढ्ढा बन जाता है। यही स्थिति आज समाज की है। केवल भारत में ही नहीं, यूरोपीय देशों का भी यही हाल है। रूस में जो रक्तमय क्रान्ति हुई उसका यही कारण था, कि कुछ व्यक्ति धन और सत्ता को अपने हाथ में बटोर कर आमोद-प्रमोद कर रहे थे और जनता का बहुत बड़ा भाग अभाव से पीड़ित था। व्यक्ति भूख एवं आर्थिक अभाव के दुःख को कब तक सहता, आखिर उसका परिणाम रक्तपात के रूप में सामने आया। अभावग्रस्त लोगों ने पूंजीपतियों के हाथों से सत्ता और सम्पत्ति दोनों छीन लीं।

भारत में भी यह हवा बहने लगी। पूंजीपतियों के सामने भय का वातावरण छा गया है। जैनधर्म का, भगवान् महावीर का कहना है—यदि व्यक्ति अपनी शक्ति का जिस व्यक्ति को, या समाज को, या राष्ट्र को जितनी आवश्यकता है, उसके अनुरूप विभाजन करके राष्ट्र के, समाज के साथ-साथ अपना विकास करे, तो उसे किसी भी समय में कोई खतरा नहीं है। उस सेठ की तरह आप भी यदि समाज एवं राष्ट्र के अभावग्रस्त व्यक्तियों के अभाव को ध्यान में रखकर अपनी शक्ति का, अपने वैभव का कुछ हिस्सा उनके सामने बिखेर दें, तो फिर आपको न तो साम्यवाद से खतरा रहेगा, और न किसी और वाद से। खतरा केवल बटोरते रहने में है। यदि बटोरने के साथ बिखेरना भी सीख लें, समाज और धर्म के विकास के लिए, हित के लिए तथा जन-कल्याण के लिए दान के द्वार खुले रखें, तो फिर आपको कोई खतरा नहीं रहेगा।

याद रखिए व्यक्ति समाज का अंग है। समाज से सम्बद्ध है। वह उसके साथ ही जन्मा है, अतः उसके साथ ही बढ़ सकेगा। व्यक्ति न तो समाज से अलग रहा है, और न रह सकेगा। उसने जो कुछ पाया है, और जो कुछ प्राप्त कर रहा है, वह समाज के सहयोग से पा रहा है। अतः उसका परम कर्त्तव्य हो जाता है, कि उसने जिस समाज से, जिस राष्ट्र से और जिसके सहयोग से जो कुछ पाया है, उसमें से कुछ हिस्सा उसके विकास के लिए भी लगाए। कहने का तात्पर्य यही है, कि व्यक्ति शक्ति को एवं पूंजी को बटोर कर एवं एकत्रित करके अथवा तिजोरी में बन्द करके न रखे, प्रत्युत जहाँ उसकी आवश्यकता महसूस हो वहाँ उसका उपभोग करना सीखें। यही शक्ति एवं सम्पत्ति का सदुपयोग है।

आचार्य श्री की अस्वस्थता :

संवत् १९७७ के रतलाम चातुर्मास में आचार्य श्री नन्दलालजी महाराज अस्वस्थ रहने लगे। तब आपने प्रमुख श्रावकों एवं साधुओं के साथ विचार किया, कि मेरे बाद सम्प्रदाय का उत्तरदायित्व किसे सौंपा जाए। कुछ प्रमुख श्रावकों ने आचार्य श्री को माधव मुनिजी का नाम बताया। आचार्य श्री को भी यह बात जंच गई। आचार्य श्री का संकेत पाकर कुछ प्रमुख श्रावक माधव मुनिजी महाराज की सेवा में आगरा पहुंचे, और उन्हें रतलाम पधारने की विनती की। महाराज श्री आगरा का चातुर्मास समाप्त करके कोटा, रानपुर, जावरा, मन्दसौर होकर चैत्र शुक्ला १२ संवत् १९७८ को रतलाम पधारे। उसके पश्चात् वैशाख शुक्ल पंचमी को श्री माधव मुनिजी महाराज को आचार्य पद देने की आचार्य श्री ने घोषणा की। उस समय व्याख्यान वाचस्पति चम्पालालजी महाराज भी वहीं विराजमान थे। उस समय लगभग १०० साधु-साध्वी उपस्थित थे। रतलाम नरेश

ने अपनी ओर से बहुत विशाल मैदान में सामयाना बंधाया। उसमें हजारों श्रावक-श्राविकाओं एवं सौ साधु-साध्वियों की उपस्थिति में आप को युवाचार्य पद दिया। और मुनि सौभाग्यमलजी महाराज को गणावच्छेदक का पद दिया। इसके पश्चात् युवाचार्य श्री धार पधारे; परन्तु आचार्य श्री का स्वास्थ्य अधिक गिर जाने के समाचार मिलते ही युवाचार्य श्री वापिस रलाम पधारे। वहुत उपचार करने के वाद भी स्वास्थ्य नहीं सुधरा, तब अपना आयुष्य समाप्ति के निकट जानकर आचार्य श्री ने संथारा कर दिया, और परम शान्ति एवं धैर्य के साथ उन्होंने अन्तिम सांस का त्याग किया। उसके वाद रतलाम में ही युवाचार्य श्री माधव मुनिजी महाराज को आचार्य पद प्रदान किया गया। स्व० आचार्य श्री की अन्तिम-यात्रा का एवं माधव मुनिजी को आचार्य पद प्रदान करने का दृश्य वहुत अच्छा, अनुपम एवं अद्भुत था। आचार्य श्री के स्वर्गवास के बाद आपने रतलाम से विहार कर दिया।

आगरा की ओर :

रतलाम का वर्षावास परिसमाप्त करके आप आचार्य श्री माधव मुनिजी महाराज के साथ जयपुर पधारे। यहाँ पर भी आप के प्रवचन खूव जमे। जयपुर की जनता पर आप छा गए। व्याख्यान के साथ आपका अध्ययन भी चलता रहा। यहाँ आचार्य माधव मुनि जी महाराज से आप श्री आगमों का अध्ययन करते, और आगम के माध्यम से ही प्रवचन देते थे।

आचार्य श्री की पढ़ाने की शैली वहुत अच्छी थी, और आगम-साहित्य का ज्ञान भी वहुत गहरा था। और अध्ययन करने वाले विद्यार्थी सौभाग्य मुनि जी महाराज की स्मरण शक्ति और ग्रहण-शक्ति वहुत तेज थी। वे केवल अध्ययन ही नहीं करते, अध्ययन

करने के बाद एकान्त में बैठकर उन पर गहराई से चिन्तन-मनन करते, और आगमों की गहराई में उतरने का प्रयत्न करते। इसलिए उनके द्वारा प्रवचनों में की गई व्याख्या जनता के हृदय को छू लेती थी।

दिल्ली वर्षा-वास :

संवत् १९६० का वर्षावास आचार्य श्री माधव मुनि जी महाराज ने आगरा किया, और श्री ताराचन्द जी म०, किशनलाल जी म०, सौभाग्यमलजी म०, वत्सराज जी, सूर्य मुनिजी आदि सन्तों ने दिल्ली की ओर विहार किया। मथुरा, वृन्दावन होते हुए आप दिल्ली पधारे और वहाँ चान्दनी चौक स्थित महावीर-भवन (बारा-दरी) में चातुर्मास किया। दिल्ली की जनता पर भी आप के व्याख्यानों का अच्छा प्रभाव पड़ा।

जयपुर-वर्षावास :

दिल्ली से आप मथुरा, वृन्दावन पधारे। इधर आगरा से विहार करके आचार्य श्री माधव मुनि जी महाराज भी वृन्दावन पधारे। वहाँ से सब सन्त भरतपुर, अलवर होते हुए जयपुर पधारे। जयपुर के चातुर्मास में आपने आचार्य श्री से आगम-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया।

जयपुर से विहार कर के आप आचार्य श्री के साथ अजमेर की ओर जा रहे थे। जयपुर से चलने के बाद आचार्य श्री ने मूल मुनि जी एवं एक सन्त को और साथ में लेकर विहार कर दिया, और ताराचन्द जी महाराज से कहा, कि आप सब एक दिन के अन्तर से आएँ। एक गाँव से विहार तो कर दिया, परन्तु कुछ दूर जाने पर आचार्य श्री को ऐसा प्रतीत हुआ, कि अब कुछ क्षण में ही सांस समाप्त होने वाला है। उन्होंने मूल मुनिजी को—जो पीछे-पीछे चल

रहे थे, कहा, कि तुम सब सुखसता में रहना, सवसे क्षमत-क्षमापना कह देना, मैं तो अब जा रहा हूँ—इतना कह कर ध्यान लगाकर बैठ गए, और कुछ ही मिनटों में आचार्य श्री का स्वर्गवास हो गया। कुछ जयपुर के श्रावक पीछे-पीछे आ रहे थे, जव उन्होंने यह दृश्य देखा तो वहुत आश्चर्य हुआ। परन्तु अव करने को क्या था? जयपुर-संघ के श्रावकों ने वहीं दाह संस्कार किया, और हमें यह सूचना दी। हम सव सन्त वापिस जयपुर आए और व्याख्यान वाचस्पति श्री चम्पालालजी महाराज को आगरा से जयपुर बुलाया। चतुर्विध संघ ने मिलकर उन्हें आचार्य पद प्रदान किया।

गुजरात की ओर :

चम्पालालजी महाराज को आचार्यपद प्रदान करने के बाद श्री ताराचन्दजी म०, किशनलालजी म०, श्री सौभाग्य मुनिजी म० आदि सन्तों ने गुजरात की ओर बिहार किया। जयपुर से अजमेर, व्यावर, सोजत, घाणेराव, सादडी होकर पालनपुर जा रहे थे। रास्ते में आवू पड़ता है। आबू के जैन मन्दिर कला की दृष्टि से वहुत महत्वपूर्ण माने गए हैं। अतः रास्ते में होने के कारण आपने आबू देखने का विचार किया। आपने एक राहगीर से पूछा—देलवाड़ा के मध्य में एक चौकी पड़ती है, जिसे रास्ते का पड़ाव मानते हैं, वह यहाँ से कितनी दूर है? क्योंकि हम थक भी गये हैं, और सूर्य भी वहुत तपने लगा है, अतः हमें उस चौकी की दूरी वता दो, जहाँ पर तीर्थ-यात्री ठहरते हैं, और वहाँ आहार-पानी भी मिलता है? उसने वताया, कि यहाँ से वह चौकी ५-६ मील दूर है और तलहटी में स्थित धर्मशाला भी यहाँ से ५-६ मील दूर है। तव सन्तों ने नीचे उतरने की अपेक्षा ऊपर जाना ही अच्छा समझा और वे देलवाड़ा की ओर आगे वढ़ने लगे। गर्मी का मौसम था, और लगभग १० वज चुके थे,

धूप तेज हो रही थी। फिर भी सन्त शान्ति से रास्ता नापने लगे। शरीर पसीने से लथपथ हो गया था चद्दर-चोल पट्टे पसीने से भीग कर तर हो गए थे। फिर भी जैसे-तैसे चौकी पर पहुँचे, लगभग १२ वज चुके थे। पर उस चौकी पर राह चलते दो-तीन पहाड़ी व्यक्तियों के अतिरिक्त और कोई नहीं मिला। जब उन से यात्रियों के ठहरने वाली चौकी के सम्वन्ध में पूछा तो उन्होंने वताया, कि वह तो यहाँ से ५-६ मील दूर है। यह सुनते ही, सन्तों का साहस टूट गया। कण्ठ प्यास से सूख रहे थे, प्यास एवं गर्मी के कारण जी घवरा रहा था, और सिर में चक्कर आने लगे। सन्तों ने सोच लिया, कि अब अन्तिम समय निकट है। इधर-उधर वृक्षों की छाया देखकर सन्त शान्ति एवं धैर्य के साथ बैठ गए, और भगवान का स्मरण करने लगे। आप और किशनलालजी महाराज साहस करके कुछ आगे वढ़े। थोड़ी ही दूर पर आपको कुछ यात्री वहनें एक सघन वृक्ष की छाया में वैठी हुई दिखाई दी। आप उनके पास पहुंचे और उनसे पूछा—आप यहाँ कैसे आईं ? उन्होंने वन्दन करके वताया, कि हम यात्रा करने जा रही हैं। हम पैदल यात्रा करती हैं। आज हमारे आयम्विल है, अतः छाया देखकर यहाँ आयम्विल करने बैठ गईं। पर, आप इतनी गर्मी में यहाँ से ऊपर कैसे पहुँचेंगे ?

आपने उन्हें वताया कि हम काफी दूर से आ रहे हैं, इसलिए हमें देर हो गई। गर्मी से सवके कण्ठ सूख रहे हैं और चौकी अभी दूर है। साथी सन्त पीछे वृक्ष की छाया में बैठे हैं। और हम छाया की तलाश करते-करते आपको देखकर यहाँ आ पहुँचे ?

उनके पास गर्म पानी था, सवने अपने-अपने मटके में से थोड़ा-थोड़ा करके हमारा पात्र भर दिया, और कुछ आयम्विल का आहार भी दिया। पहले आप दोनों ने पानी पिया, फिर साथ के सन्तों को

पानी पिलाया, और रूखा-सूखा थोड़ा-थोड़ा आहार करके उन वहिनों के साथ-साथ शाम को चौकी पर पहुँच गए। वहाँ वहुत यात्री ठहरे हुए थे। आहार-पानी की कोई कमी नहीं रही। और दूसरे दिन आनन्द पूर्वक देलवाड़ा पहुँच गए।

सन्त जीवन में अनेक वार ऐसे प्रसंग आते हैं, कि खाने को तो क्या, पीने को पानी तक नहीं मिलता। अतः यह कहावत पूर्णतः सत्य है, "कभी मिले तो घी घणा, कभी मिले नहीं मुट्ठी चणा।" अथवा कभी मिलता है, तो इतना सरस आहार मिलता है, कि खाया नहीं जाता और कभी-कभी मुट्ठी चने तो क्या, एक लोटा पानी भी समय पर नहीं मिलता। पर दोनों अवस्थाओं में समभाव को वनाए रखना यही सन्त जीवन का आनन्द है।

पालनपुर की ओर :

देलवाड़ा से विहार कर के आप सव सन्त पालनपुर पधारे। पालनपुर की जनता पर भी आपका प्रभाव वहुत अच्छा पड़ा। संघ ने चातुर्मास करने के लिए अत्यधिक आग्रह किया। संघ की प्रवल भावना देखकर श्रद्धेय ताराचन्द जी म० एवं किशनलालजी म० ने संवत् १९९२ का चातुर्मास पालनपुर करने की स्वीकृति दे दी और उसके वाद पालनपुर से विहार करके आप सव सन्त अहमदावाद पधारे। उस समय लिम्वडी सम्प्रदाय के श्रद्धेय गुलावचन्द जी महाराज, और शतावधानी पण्डितरत्न श्री रतनचन्द जी महाराज उस समय मोरवी विराज रहे थे। जव शतावधानी जी महाराज को पता लगा, कि मालवा के सन्त श्री ताराचन्द जी महाराज, किशनलालजी महाराज आदि सन्त अहमदावाद पधारे हैं, तव आप के मन में सन्तों से मिलने की, और उनको भी मोरवी चातुर्मास कराने की इच्छा हुई। शतावधानी जी महाराज ने तार दिलवाकर

पानी पिलाया, और रूखा-सूखा थोड़ा-थोड़ा आहार करके उन बहिनों के साथ-साथ शाम को चौकी पर पहुँच गए। वहाँ बहुत यात्री ठहरे हुए थे। आहार-पानी की कोई कमी नहीं रही। और दूसरे दिन आनन्द पूर्वक देलवाड़ा पहुँच गए।

सन्त जीवन में अनेक बार ऐसे प्रसंग आते हैं, कि खाने को तो क्या, पीने को पानी तक नहीं मिलता। अतः यह कहावत पूर्णतः सत्य है, "कभी मिले तो घी घणा, कभी मिले नहीं मुट्ठी चणा।" अथवा कभी मिलता है, तो इतना सरस आहार मिलता है, कि खाया नहीं जाता और कभी-कभी मुट्ठी चने तो क्या, एक लोटा पानी भी समय पर नहीं मिलता। पर दोनों अवस्थाओं में समभाव को बनाए रखना यही सन्त जीवन का आनन्द है।

पालनपुर की ओर :

देलवाड़ा से विहार कर के आप सब सन्त पालनपुर पधारे। पालनपुर की जनता पर भी आपका प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा। संघ ने चातुर्मास करने के लिए अत्यधिक आग्रह किया। संघ की प्रबल भावना देखकर श्रद्धेय ताराचन्द जी म० एवं किशनलालजी म० ने संवत् १९९२ का चातुर्मास पालनपुर करने की स्वीकृति दे दी और उग [illegible] पालनपुर से विहार करके आप सब सन्त अहमदाबाद [illegible] समय लिम्बडी सम्प्रदाय के श्रद्धेय गुलाबचन्द जी [illegible]र शतावधानी पण्डितरत्न श्री रतनचन्द जी महाराज [illegible]र्व विराज रहे थे। जब शतावधानी जी महाराज को [illegible] कि मालवा के सन्त श्री ताराचन्द जी महाराज, [illegible] महाराज आदि सन्त अहमदाबाद पधारे हैं, तब आप [illegible] से मिलने की, और उनको भी मोरबी चातुर्मास [illegible] हुई। शतावधानी जी महाराज ने तार दिलवाकर

दुर्लभजी भाई त्रिभुवन जौहरी को जयपुर से बुलाया, और उन्हें कहा—आप पालनपुर जाकर वहाँ के संघ को समझाएं, कि इस वर्ष का चातुर्मास वे हमें दे दें। दुर्लभजी भाई पालनपुर गए, और शतावधानी महाराज की भावना को और उनके विचारों को संघ के सामने रखा। वहुत-कुछ कहने-सुनने के वाद पालनपुर-संघ ने इस शर्त पर चातुर्मास स्थगित करना स्वीकार कर लिया, कि संवत् १९८३ का चातुर्मास हमारे यहाँ करना पड़ेगा ? जव दुर्लभजी भाई एवं मोरवी संघ के प्रमुख व्यक्ति ताराचन्दजी महाराज की सेवा में अहमदावाद पहुँचे, और सारी परिस्थिति एवं शतावधानी जी महाराज की आन्तरिक भावना आपके सामने रखी, तो ताराचन्द जी महाराज ने मोरवी की स्वीकृति दे दी और अहमदावाद से विहार करके आप सव मोरवी पधारे। श्रद्धेय गुलावचन्द जी महाराज एवं शतावधानी जी महाराज के दर्शन करके आपका मन परम प्रसन्न हो गया। आपने एवं सूर्यमुनि जी ने शतावधानी जी महाराज के सान्निध्य में प्राकृत एवं संस्कृत का अध्ययन करना शुरू किया। शतावधानी जी महाराज प्राकृत एवं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, आपका दोनों भाषाओं पर अधिकार था और अध्ययन कराने की शैली भी वहुत सुन्दर थी। अतः आपका व्याकरण एवं साहित्य का अध्ययन वहीं से प्रारंभ हुआ, जो भविष्य में पल्लवित एवं पुष्पित होता रहा।

मोरवी के वाद अपने दिए हुए वचन के अनुसार ताराचन्दजी म० की सेवा में आपने राजकोट, भावनगर आदि सौराष्ट्र एवं गुजरात के कुछ क्षेत्रों का स्पर्शन करते हुए पालनपुर चातुर्मास किया। यह चातुर्मास भी वहुत अच्छा रहा।

दुर्लभजी भाई त्रिभुवन जौहरी को जयपुर से बुलाया, और उन्हें कहा—आप पालनपुर जाकर वहाँ के संघ को समझाएं, कि इस वर्ष का चातुर्मास वे हमें दे दें। दुर्लभजी भाई पालनपुर गए, और शतावधानी महाराज की भावना को और उनके विचारों को संघ के सामने रखा। वहुत-कुछ कहने-सुनने के वाद पालनपुर-संघ ने इस शर्त पर चातुर्मास स्थगित करना स्वीकार कर लिया, कि संवत् १९८३ का चातुर्मास हमारे यहाँ करना पड़ेगा ? जव दुर्लभजी भाई एवं मोरवी संघ के प्रमुख व्यक्ति ताराचन्दजी महाराज की सेवा में अहमदावाद पहुँचे, और सारी परिस्थिति एवं शतावधानी जी महाराज की आन्तरिक भावना आपके सामने रखी, तो ताराचन्द जी महाराज ने मोरवी की स्वीकृति दे दी और अहमदावाद से विहार करके आप सव मोरवी पधारे। श्रद्धेय गुलावचन्द जी महाराज एवं शतावधानी जी महाराज के दर्शन करके आपका मन परम प्रसन्न हो गया। आपने एवं सूर्यमुनि जी ने शतावधानी जी महाराज के सान्निध्य में प्राकृत एवं संस्कृत का अध्ययन करना शुरू किया। शतावधानी जी महाराज प्राकृत एवं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, आपका दोनों भाषाओं पर अधिकार था और अध्ययन कराने की शैली भी वहुत सुन्दर थी। अतः आपका व्याकरण एवं साहित्य का अध्ययन वहीं से प्रारंभ हुआ, जो भविष्य में पल्लवित एवं पुष्पित होता रहा।

मोरवी के वाद अपने दिए हुए वचन के अनुसार ताराचन्दजी म० की सेवा में आपने राजकोट, भावनगर आदि सौराष्ट्र एवं गुजरात के कुछ क्षेत्रों का स्पर्शन करते हुए पालनपुर चातुर्मास किया। यह चातुर्मास भी वहुत अच्छा रहा।

बम्बई का प्रथम चातुर्मास :

चातुर्मास के बाद आप सब सन्त पुनः अहमदाबाद पधारे। यहाँ से आप सब का मालवे की ओर जाने का विचार था। परन्तु पालनपुर के सूरजमल लल्लु भाई दर्शनार्थ आए, और उन्होंने कहा, कि मैं बम्बई से लौट न आऊँ, तब तक आप विहार न करें। उस भाई ने बम्बई जाकर बम्बई संघ को आपका परिचय दिया। संघ ने मीटिंग करके आप का बम्बई चातुर्मास कराने का निर्णय किया। और वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों का एक डेपुटेशन चातुर्मास की विनती करने के लिए अहमदाबाद आया, और बम्बई चातुर्मास के लिए विनती की। ताराचन्दजी महाराज एवं किशनलालजी महाराज ने उन्हें सारी स्थिति बताई और कहा कि इस वर्ष हमारा मालवा जाने का विचार है, फिर कभी बम्बई का ध्यान रखेंगे। परन्तु बम्बई संघ ने महाराज की एक भी बात नहीं सुनी, और बम्बई चलने का आग्रह करके बैठ गए. तब महाराज श्री ने बम्बई चातुर्मास करने की स्वीकृति दे दी और कुछ दिन के बाद बम्बई की ओर विहार कर दिया।

आज से ४२ वर्ष पूर्व बम्बई इस रूप में नहीं थी, जिस रूप में आज है। उस समय बम्बई की आबादी भी कम थी, विस्तार भी कम था, और औद्योगिक विकास भी आज से कम था। जैनों की संख्या भी बहुत कम थी, और स्थानक भी गिनती के ही थे। चिंचपोकली का स्थानक ही सब से पुराना है, इसलिए उसके पास जगह भी बम्बई के सब स्थानकों से अधिक है। आप का बम्बई का प्रथम चातुर्मास चिंचपोकली कच्छी की वाड़ी में हुआ। उस समय बम्बई में महत्त्वपूर्ण स्थान वही माना जाता था। कांदावाड़ी का महत्व बाद में बढ़ा है। धर्म-ध्यान एवं व्याख्यान

आदि की दृष्टि से बम्बई का यह चातुर्मास बहुत महत्वपूर्ण रहा। लोगों को आपने अपनी ओर इतना आकर्षित किया, कि माटुंगा-संघ ने दूसरे चातुर्मास के लिए विनती की, और आपका १९८४ का चातुर्मास माटुंगा के नपु हाल में हुआ। वह भी प्रभावशाली चातुर्मास था। इस यात्रा में आपने बम्बई में दो चातुर्मास किए, परन्तु इन दो चातुर्मासों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा, कि अब तक आपके बम्बई के प्रमुख स्थानकों में १३-१४ चातुर्मास हो चुके हैं।

बम्बई का चातुर्मास समाप्त करके आप मालवा की ओर पधारे। इन्दौर, रतलाम, उज्जैन, किलाधार, खाचरौद आदि शहरों को बहुत लाभ दिया।

संवत १९८७ को आप अपने गुरुदेव के साथ बदनावर पधारे। वहाँ आषाढ़ महीने में सागर मुनिजी की दीक्षा हुई। दीक्षा बहुत ठाठ-बाट से हुई। उसके बाद करी-कस्बा में नगीन मुनिजी की दीक्षा हुई, वे आप के ही शिष्य थे। उस समय एक साथ तीन दीक्षाएँ हुई थी। फिर आप १९८८ में पंचमहाल पधारे। उस समय भाद्रव शुक्ला दसमीं को पूज्य गुरुदेव किशनलालजी महाराज की नेश्राय में विनय मुनिजी की दीक्षा सम्पन्न हुई। उसके पश्चात् आप पूज्य-गुरुदेव के साथ संवत १९८९ में अजमेर सम्मेलन में पधारे और संगठन के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। फिर किसनगढ़ चातुर्मास किया और फिर मालव में पधारे। फिर हैदराबाद एवं मद्रास की अत्यधिक आग्रह-भरी विनती होने से आपने श्रद्धेय ताराचन्द जी म०, किशनलालजी म० की सेवा में १४ ठाणा से मालवा से दक्षिण की ओर विहार किया, और सं० १९९३ का चातुर्मास हैदराबाद में किया। उस समय हैदराबाद के दीवान श्री किशनप्रसाद बहादुर, यारजंग बहादुर और अमीनजंग बहादुर अनेक बार आपके प्रवचनों में आए। आपके

प्रवचनों हिन्दू-मुस्लिम सभी धर्मों के व्यक्ति भाग लेते थे। वहाँ की जनता पर आपके उपदेश का इतना असर हुआ, कि ३३ वर्ष के बाद भी वहाँ के लोग आपको भूले नहीं है। उनकी स्मृति अभी भी ताजा है। इस चातुर्मास में एक दीक्षा भी हुई।

मद्रास का चातुर्मास :

उसके पश्चात् मद्रास संघ का अति-आग्रह होने के कारण सभी सन्तों ने मद्रास की ओर अपने कदम बढ़ाए। रास्ते में अनेक स्थानों पर स्थानकवासी जैन-समाज के घर नहीं आते थे। अन्य लोगों के घर से मोटे-मोटे चावल एवं इटली-डोसा गोचरी में मिलता था। मद्रास के लिए यह प्रथम ही अवसर था, कि स्थानकवासी साधुओं का चातुर्मास हो रहा था। इसलिए संघ के हृदय में अपरिमित उल्लास एवं उत्साह था। आपके व्याख्यानों का जैनों पर ही नहीं, अजैनों पर भी बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। आप हिन्दी में बोलते थे, फिर भी हजारों व्यक्ति आपके प्रवचन में सम्मिलित होते थे। राजगोपलाचारी आपके व्याख्यान सुनकर इतने प्रभावित हुए, कि वे प्रायः आपके प्रवचन में आते, और तामिल-भाषी लोगों की समझ में भी आपके विचार आ जाए, इसलिए आपके हिन्दी भाषण को तमिल में अनुवाद करके सुनाते थे, जिससे हर-व्यक्ति भली-भाँति समझ लेता था। इस प्रकार आपका मद्रास का वर्षावास बहुत शानदार रहा। मद्रास के स्थानकवासी समाज के इतिहास में आपका चातुर्मास सर्व-प्रथम था, और धर्म-प्रचार एवं त्याग-तप की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रहा। उसके पश्चात् आपने बेंगलोर चातुर्मास किया।

मैसूर की ओर :

मैसूर प्रान्त के दीवान सर मिर्जा इस्माइलखाँ बेंगलोर में आपके दर्शनार्थ आए। आपके प्रवचन एवं उपदेश को सुनकर इतने प्रभावित

हुए कि उन्होंने आपश्री को मैसूर पधारने की विनती की। बेंगलोर संघ के प्रमुख व्यक्तियों ने भी आप से प्रार्थना की–"दीवान साहब की भक्ति को ध्यान में रख कर आप मैसूर अवश्य पधारें।"अधिक आग्रह देखकर आपने दीवान साहब की प्रार्थना स्वीकार करके मैसूर पधारने की स्वीकृति दे दी और आप के कहै अनुसार बेंगलोर-संघ ने मैसूर विहार करने का प्रोग्राम भी मैसूर के दीवान साहब के पास भेज दिया। विहार के पूर्व कुछ सैनिक आप की सेवा में आ पहुचे। पूछने पर उन्होंने बताया कि मैसूर-स्टेट के प्राइममिनिस्टर ने आपकी सुरक्षा के लिए हमें साथ रहने का आदेश दिया है। मालव केशरीजी ने कहा—भाई ! हम साधु हैं। हमारे पास कोई धन-वैभव है नहीं। इसलिए हमारे साथ सैनिकों की आवश्यकता नहीं है। हम अहिंसा के उपासक हैं अत: हमारे साथ शस्त्रधारी नहीं चाहिए। वे चले गए। पर इसका मैसूर दरबार एवं अन्य अधिकारियों पर अच्छा असर पड़ा। यथासमय आपने मैसूर की ओर विहार कर दिया। रास्ते में जितने गाँव पड़ते थे, उनमें स्थित सरकारी बंगले सन्तों को ठहरने को खाली कर दिए। वहाँ के स्थानीय अधिकारी आपको लेने के लिए आते, और आपका प्रवचन भी करवाते। जिस दिन आपने मैसूर में प्रवेश किया, उस दिन आप का स्वागत करने के लिए जाने वाले व्यक्तियों के लिए सभी सरकारी बसें फ्री कर दी गईं। अत: आपके स्वागत में हजारों आदमी सम्मिलित हुए। मैसूर में उस समय स्थानकवासी घर ८-१० थे,फिर भी स्वागत में ५-७ हजार व्यक्ति थे। धूम-धाम से आपने प्रवेश किया, और शेष काल में मैसूर कुछ दिन ठहरे। शाम को ५ से ६ बजे तक प्रतिदिन टाउन-हाल में प्रवचन होते थे, और सरकारी कर्मचारियों को एक घंटे की छुट्टी दे दी जाती थी। मैसूर नरेश स्वयं प्रवचन सुनना चाहते थे। अत: मैसूर दरबार

भी आपके दर्शनार्थ आए। राजमहल में भी आपके प्रवचन हुए। राजा ने पहले यह पता लगा लिया था, कि आप १४ सन्त हैं। इसलिए संतरा, मौसमी, सेव आदि विभिन्न फलों की १४ टोकरियाँ मंगवा लीं, और प्रवचन के बाद नौकर से सन्तों के यहाँ पहुँचा देने को कहा। तब आप श्री ने कहा—हम इन फलो को स्पर्श भी नहीं करते। इनमें बीज हैं, अतः ये सजीव हैं। सन्तों के त्यागमय जीवन का राजा पर बहुत प्रभाव पड़ा। नरेश ने आपको टीपू सुलतान का शस्त्रागार दिखाया।

बम्बई की ओर :

बैंगलोर से वापिस लौटते समय १९९५ का चातुर्मास हैदराबाद में हुआ। इस वर्षावास में सूर्य मुनिजी म० की नेश्राय में कार्तिक शुक्ला द्वितीया को श्री रूपचन्द जी की दीक्षा हुई और तपस्वी भगवानदासजी ने ६२ दिन का तप किया, बहुत धूमधाम रही। चातुर्मास के बाद हैदराबाद के उपनगरों में विचरण करते रहे। उस समय बम्बई के गिरधर भाई दफ्तरी आदि कुछ प्रमुख व्यक्ति आए और उन्होंने बम्बई पधारने की विनती की। उन्होंने बताया कि पंजाब सम्प्रदाय के आचार्य श्री काशीरामजी महाराज, लीम्बडी सम्प्रदाय के आचार्य गुलाबचन्दजी महाराज एवं शतावधानी रत्नचन्द्रजी महाराज बम्बई में विराज रहे हैं। संघ श्रमण-संघटन के लिए एक योजना बनाना चाहता है। उसमें आपका सहयोग चाहते हैं, और आपको बम्बई पधारने का आग्रह किया है। तब प्रवर्तक श्री ताराचन्द जी म० एवं किशनलालजी महाराज ने आपको एवं नगीन मुनिजी म० को शीघ्र बम्बई पधारने का आदेश दिया। गुरुदेव के आदेशानुसार आप लम्बा विहार करके वैशाख महीने में घाटकोपर पधारे। कुछ दिनों के बाद अन्य सन्त भी पधार गए। सब

सन्तों के मिलन-मेलन एवं सम्मेलन का दृश्य अभूतपूर्व रहा। आपके सहयोग से सबने मिलकर श्रमण-संघटन की एक रूपरेखा तैयार करने में आपने महत्वपूर्ण कार्य किया। उसके बाद आपने संवत् १६६७ का चातुर्मास बम्बई में माटुंगा किया। यह चातुर्मास भी बहुत महत्वपूर्ण रहा। इस वर्ष भगवानदासजी म० ने ६२ दिन की तपस्या की। पूर के दिन पंजाब केशरी आचार्य काशीरामजी म० चिचपोकली से पधारे और बहुत धूमधाम से तप का पूर मनाया गया। इस प्रकार माटुंगा का चातुर्मास खूब चहल-पहल का रहा।

राजकोट का चातुर्मास :

दक्षिण से विहार करके आप इन्दौर पधारे। सं० २००० का चातुर्मास इन्दौर का स्वीकार किया था। परन्तु उसी वर्ष राजकोट में कानजी स्वामी का चातुर्मास स्वीकृत हो चुका था। इसलिए राजकोट के प्रमुख श्रावक आपकी विनती करने इन्दौर आए। राजकोट के प्रमुख सेठ विराणी रामजी भाई, चुनिलालजी M. P. तथा रायसाहब आदि ने भण्डारी जी एवं इन्दौर संघ को बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने इन्दौर का चातुर्मास हटाकर आप राजकोट चातुर्मास करें इसे नहीं माना। फिर दूसरे दिन व्याख्यान में सेठ चुनीलाल नागजी वोरा ने एक घंटे तक राजकोट की सारी स्थिति को संघ के सामने रखा, और कहा, कि दो लाख व्यक्तियों को धर्म में स्थिर रखने का प्रश्न है ? इसलिए हम यहाँ आप से चातुर्मास की भिक्षा माँगने आए हैं। इस स्थिति को समझकर भण्डारीजी खड़े हुए और उन्होंने गुरुदेव को तथा मालव केशरीजी को प्रार्थना करते हुए कहा—हम आपको इन्दौर चातुर्मास की जबान से मुक्त करते हैं। आप सुखसातापूर्वक राजकोट पधारें।

उसके पश्चात् आप लम्बा विहार करके राजकोट पधारे। लोगों

के मन में वहुत उत्साह था। प्रवेश के समय वहुत शानदार स्वागत किया। आप सव सन्त पंचायती भवन में ठहरे थे। व्याख्यान में उपस्थिति वहुत अच्छी होती थी। बाहर के दर्शनार्थी भी वहुत आते थे। उक्त चातुर्मास में अखिल भारतीय श्वेताम्वर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स की जनरल मीटिंग हुई। उसमें आपने कान्फ्रेन्स के नेताओं को श्रमण-संघटन का प्रयत्न करने के लिए प्रेरणा दी। और वहां काठियावाड़ में स्थापित धर्म-रक्षक समिति की मीटिंग भी हुई। और समिति के सदस्यों ने आपसे यह आग्रह किया, कि चातुर्मास के वाद कानजी स्वामी जिस दिन जिस गांव में जाएं, उस दिन आप भी वहां पधारे, और जव तक वे सोनगढ़ न पहुंच जाएँ, तव तक आप उन्हीं गाँवों में विचरण करें जिन गाँवों में वे जाएँ। उनकी विनती स्वीकार करके चातुर्मास के बाद आप काठियावाड़ के गाँवों में कानजी के साथ घूमकर स्थानकवासी समाज को अपने धर्म में स्थिर रखने का प्रयत्न करते रहे। गाँव-गाँव में धर्म-प्रचार बहुत अच्छा हुआ। हर गांव में वाहर के लोग वहुत आते थे। स्थानीय संघ अपने मेहमान श्रावकों को बैण्ड के साथ स्वागत करके लाते। इस प्रकार प्रत्येक गाँव के संघ में उत्साह का वातावरण रहा। कुछ महीने घूम कर कानजी स्वामी सोनगढ़ पधार गए, और आप सव सन्त भावनगर जाते हुए पालीताणा पहुँचे।

पालीताणा में अस्वस्थ :

पालीताणा जैन-समाज का वहुत वड़ा एवं प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ वहुत धर्मशालाएँ हैं। आप सव सन्त एक धर्मशाला में ठहरे थे। वहां अचानक मालवकेशरी जी महाराज अस्वस्थ हो गए और उस दिन ऐसी स्थिति हो गई कि जीवन रह भी पायेगा, या नहीं। सव सन्त घवरा गए परन्तु खतरनाक स्थिति टल गई और स्वास्थ्य

सुधरने लगा। उसी समय श्री राजकोट से M. P. साहब को आपका यहां होने का समाचार मिला। उन्होंने दर्शन किये और पूछा—महाराज आप यहाँ कैसे पधारे ? हमें सूचना भी नहीं दी ? यदि सूचना मिलती तो सारी व्यवस्था हो जाती ? आपने कहा - हम तो भावनगर जा रहे थे, परन्तु स्वास्थ्य विगड़ जाने से ठहरना पड़ा। उन्होंने भावनगर दरवार को सूचना कर दी, और वहाँ के श्रावकों को भी समाचार दे दिए। भावनगर के दरवार ने डाक्टर भी भेजा, और कुछ दिन में स्वास्थ्य अच्छा हो गया। फिर भावनगर आए, और २००१ का चातुर्मास वढ़वाण किया। वहाँ के नरेश एवं दीवान जी अनेक वार प्रवचन में आए, और राजमहलों में भी प्रवचन हुआ।

इसके वाद आपने महाराष्ट्र में आमलनेर, धूलिया, नासिक एवं वम्बई में तथा मालव-प्रदेश में रतलाम, खाचरोद, इन्दौर, थांदला आदि में चातुर्मास किया। इन क्षेत्रों में आपके प्रवचनों का अच्छा प्रभाव पड़ा और धर्म-ध्यान भी वहुत अच्छा हुआ।

नासिक-वर्षावास :

ई०सन् १९६७ का कोट (वम्वई) का चातुर्मास परिसमाप्त होते ही आप श्री वहाँ से मैरिन ड्राइव, वालकेश्वर, मेघजी थोभण के बंगले, चींचपोकली, दादर, माटुंगा होते हुए सायण पधारे। श्री विनय मुनि जी महाराज भी घाटकोपर से सायण पधार चुके थे। वहाँ दोनों गुरु-भ्राताओं का स्नेह-मिलन हुआ, विचार-विमर्श हुआ, और विनय मुनि जी के आगामी चातुर्मास माटुंगा करने के सम्बन्ध में विचार भी हुआ।

उस समय विजय मुनिजी महाराज कांदावाड़ी से घाटकोपर पधारे थे। वहाँ का संघ एवं महासती प्रमोदसुधा जी (जिनका १९६८ का वर्षावास घाटकोपर होने वाला था, विनय मुनिजी से

घाटकोपर वर्षावास करने का आग्रह कर रही थीं। परन्तु मुनि जी ने किसी को आश्वासन नहीं दिया। उन्हीं दिनों मालवकेशरी जी महाराज भी एक रात के लिए पधार गए—कुछ विचार-चर्चा करने को। इससे संघ की भावना बढ़ने लगी। संघ के कुछ प्रमुख व्यक्ति सायण मालवकेशरी जी की सेवा में पहुँचे, और उन्होंने घाटकोपर चातुर्मास करने की विनती की। आपने कहा, यदि विजय मुनि जी घाटकोपर चातुर्मास करते हों, तो मैं अपने चातुर्मास की स्वीकृति दे सकता हूँ। और विजय मुनिजी से प्रार्थना करने पर उन्होंने इतना ही कहा—गुरुदेव जैसी आज्ञा देंगे। वैसी मैं आपको पूना पहुंच कर सूचना दे दूंगा। और चातुर्मास के लिए हाँ या ना का जवाव अहमदनगर पहुंच कर दूंगा।

पूना पहुँचते ही कविजी म० का पत्र मिला, उन्होंने आगरा बुलाया था, इसलिए घाटकोपर संघ को इनकार लिखकर आगरा जाने का विचार कर लिया। परन्तु श्रद्धेय सूरजमलजी म० की हार्दिक इच्छा यह थी कि विजय मुनिजी का १९९८ का वर्षावास पूना हो। इसलिए उन्होंने कविश्री जी म० को पत्र लिखा, और पूना संघ के कुछ व्यक्तियों को भी आगरा भेजा। विजय मुनिजी के अहमदनगर पहुँचने के दूसरे दिन ही आगरा से पूना चातुर्मास की स्वीकृति का तार आ गया। उसी दिन नासिक संघ मालवकेशरी जी के साथ विजय मुनिजी के नासिक चातुर्मास की स्वीकृति लेने के लिए अहमदनगर आया था, परन्तु पूना की स्वीकृति मिल जाने के कारण वे कुछ कह नहीं सके। फिर उन्होंने मालवकेशरी जी को नासिक चातुर्मास करने की विनती की, और आपने अधिक आग्रह देखकर नासिक की विनती स्वीकार कर ली। फिर जनवरी में विजय मुनि जी नासिक पधारे एवं घोटी में मालव केशरीजी म० के दर्शनार्थ

पधारे तब घाटकोपर संघ नासिक, घोटी एवं लासन गाँव ६-७ बार आया, और चातुर्मास परिवर्तन के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी। कविश्री जी महाराज को भी पत्र दिया, पर उन्होंने इतना ही कहा, कि अब पूना संघ यदि आपको चातुर्मास दे दे तो घाटकोपर हो सकता है। यही बात विजय मुनि जी ने उनसे पहले ही कह दी थी। वे पूना भी गए, पर सफलता नहीं मिली। नासिक संघ से भी प्रार्थना की, कि मालवकेशरीजी का चातुर्मास हमें दे दें, परन्तु उसमें भी वे सफल नहीं हुए। अतः मालवकेशरीजी म० का १९६८ का चातुर्मास नासिक हुआ। वहाँ आप सात ठाणा से थे—मालव केशरी, महाराष्ट्रविभूषण, प्रसिद्धवक्ता सौभाग्यमल जी महाराज, पं० सागर मुनि जी महाराज, तपस्वी विमल मुनिजी महाराज, मगन मुनिजी महाराज, पं० जीवन मुनिजी महाराज, वीरेन्द्र मुनिजी महाराज, और घोर तपस्वी कमल मुनिजी महाराज। चातुर्मास बहुत धूमधाम का रहा। विमल मुनिजी ने ३१ दिन का उपवास किया, और कमल मुनि जी ने ४१ दिन का उपवास किया। पूर का दिन बहुत उत्साहपूर्वक मनाया गया। बाहर के ४-५ हजार बहन-भाई थे। इस के अतिरिक्त व्याख्यान में भी बहुत उपस्थिति होती थी। आप के प्रवचनों का जनता पर इतना प्रभाव पड़ा कि एक सार्वजनिक आयोजन करके आपको 'महाराष्ट्र-विभूषण' की उपाधि एवं एक सम्मान-पत्र दिया गया, जो जीवन-चरित्र के अन्त में अंकित है।

घाटकोपर-चातुर्मास :

चातुर्मास के समाप्त होते-होते गिरधर भाई दफ्तरी ने आपके सामने महाराष्ट्र में साधु-सम्मेलन करवाने की योजना रखी और

आपने उस योजना को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया, जिसका उल्लेख आगे के पृष्ठों—संघ-सेवा प्रकरण, में कर रहे हैं।

चातुर्मास समाप्त होते ही घाटकोपर संघ के प्रमुख मणिभाई दोसी और सेठ हरिभाई दोसी पूना विजय मुनिजी की सेवा में पहुँचे, और विहार करके नवलखा के बंगले पर पहुँचे नहीं कि उसके पहले रास्ते में रोककर विनती की,और सामने खड़े हो गए—जव तक चातुर्मास की स्वीकृति नहीं देंगे, तब तक आगे नहीं वढ़ने देंगे। उन्हें समझाकर बंगले पर आए, और अत्यधिक आग्रह देखकर उन्हें १९६९ का चातुर्मास घाटकोपर करने की स्वीकृति दे दी। परन्तु साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया, कि मालव केशरीजी महाराज का चातुर्मास भी कराना होगा। संघ ने इसका आश्वासन दे दिया। इसके वाद घाटकोपर संघ मालवकेशरीजी की सेवा में गया, और उनसे घाटकोपर की स्वीकृति देने के लिए आग्रह किया। आप मालवा में जाना चाहते थे, इसलिए आपने टालने का वहुत प्रयत्न किया, परन्तु अत्यधिक आग्रह होने के कारण अन्त में आपने भी घाटकोपर चातुर्मास करने की स्वीकृति दे दी।

पुष्कर मुनिजी से मिलन :

आप नासिक से विहार करके सिन्नर पधारे और उधर घोड़नदी का चातुर्मास समाप्त करके अहमदनगर होते हुए पुष्कर मुनिजी म० हीरा मुनिजी म०, देवेन्द्र मुनिजी म० आदि ठाणा ८ से सिन्नर पधारे। मिलन का दृश्य वहुत अच्छा था। नासिक में भी पुष्कर मुनिजी आप के साथ थे और साधु-सम्मेलन के लिए वुलाए गए महाराष्ट्र के कार्यकर्ता सम्मेलन में पुष्कर मुनिजी म० ने आपका पूरा-पूरा सहयोग दिया। आप के स्नेहमय मधुर व्यवहार से सभी सन्त वहुत प्रसन्न रहे।

घोटी में सन्त मिलन :

मालव केशरीजी म० घोटी-संघ की अक्षय-तृतीया के पारणों की विनती स्वीकार करके घोटी पधारे। घोटी आपका प्रिय क्षेत्र है। वहाँ के बच्चे-बच्चे के मन में आपके प्रति अपरिमित श्रद्धा-भक्ति है। जब आप पधारते हैं, तो वहाँ धर्म-ध्यान का ठाठ लग जाता है। तपश्चर्या तो इतनी होती है, कि जैसे पर्युषण पर्व ही आ गया हो।

इधर विजय मुनिजी म० कोट-बम्बई में अक्षय-तृतीया के पारणे कराकर घाटकोपर, भिवंडी, कसारा, इगतपुरी होते हुए घोटी पधारे। उस समय मालवकेशरीजी महाराज की प्रेरणा से ७५ बेले-तेले की तपस्याएँ हुईं, और बहुत उत्साहमय वातावरण में दोनों सन्तों का मिलन हुआ। उसके पश्चात विजय मुनिजी नासिक तक घूम-फिर कर पुनः घोटी होकर इगतपुरी पधारे। महाराज श्री उस समय इगतपुरी विराज रहे थे। वहाँ भी तप-साधना चल रही थी। छोटी-छोटी लड़कियां उत्साहपूर्वक तेले कर रही थीं। बहुत ठाठ रहा। फिर वहाँ से दोनों—मालव केशरी जी एवं विजय मुनिजी और अन्य सभी सन्त कसारा तक साथ-साथ चले। फिर विजयमुनिजी पहले थापा पहुँच गये, और ४ दिन बाद मालव केशरी जी भी थापा पधार गए।

मुलुण्ड दवाखाने का उद्‌घाटन :

मुलुण्ड संघ इगतपुरी और घोटी में १५ जून को दवाखाने के उद्‌घाटन पर मुलुण्ड पधारने की विनती करने आया था, और उन्हें स्वीकृति दे दी थी। उसी प्रोग्राम के अनुसार आप १४ जून को मुलुण्ड पधारे। परन्तु कोट-संघ के प्रमुख श्रावक एवं बम्बई की अनेक संस्थाओं के प्राण मगन भाई पी० दोसी का उसी दिन अचानक हार्ट-फेल हो जाने के कारण मुलुण्ड-संघ को उद्‌घाटन स्थगित रखना

पड़ा, क्योंकि मगन भाई ही उस सभा के स्वागताध्यक्ष थे। और उसके बाद संघ ने विचार-विमर्श करके १३ जुलाई को उद्घाटन रखा, और अत्यधिक आग्रह करके आप से एवं विजय मुनिजी से उस प्रसंग पर उपस्थित रहने की स्वीकृति ले ली।

इसी बीच कांदावाड़ी-संघ ३० जून और १-२ जुलाई तीन दिन अध्यात्म-साधना-शिविर के लिए विनती करने मुलुण्ड आया, और आपने विजय मुनिजी को जाने की स्वीकृति दी। वह साधना-शिविर बम्बई के स्थानकवासी समाज के इतिहास में प्रथम और अभूतपूर्व था, और बहुत ही शानदार एवं सफल रहा।

इसके पश्चात १३ जुलाई को ६ से १२ बजे तक बहुत धूम-धाम से उद्घाटन का आयोजन किया गया। बृहत बम्बई के सभी संघों के प्रमुख-प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। कार्यक्रम बहुत अच्छे ढंग से सम्पन्न हुआ, आपका एवं विजय मुनिजी का प्रवचन भी संघ के लिए प्रेरणादायक रहा। इस आयोजन के समाप्त होते ही मुलुण्ड से विहार करके हरीभाई दोसी की मिल में पधारे। वहाँ स्वागत का आयोजन था। बम्बई के प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। लगभग चार-पाँच-सौ व्यक्तियों की उपस्थिति थी। स्वागत का कार्य-क्रम भी बहुत शानदार रहा। १४ जुलाई को संघाणी-इस्टेट में ठहरे, और १५ जुलाई को ८ बजे हरीभाई दोशी के बंगले में दो-ढाई घन्टे तक विश्राम किया और फिर ११ बजे घाटकोपर के जैन-स्थानक में चातुर्मास के लिए प्रवेश किया। स्वागत में उपस्थिति बहुत अच्छी थी, सात-आठ सौ बहिन-भाई साथ थे। संघ के सेक्रेट्री ने स्वागत भाषण किया, उसमें आपने चातुर्मास करने की जो कृपा की उसके लिए आभार माना। घाटकोपर का चातुर्मास बहुत अच्छे ढंग से हो रहा है। प्रातः विजय मुनि महाराज ८॥ से ९॥ तक प्रभावशाली

शैली में समयसार पर प्रवचन देते हैं, जनता बहुत ही ध्यानपूर्वक इन आध्यात्मिक प्रवचनों को सुनती है। उसके वाद मालव केशरीजी महाराज जनरल विषयों पर भाषण देते हैं। दोपहर को मालव-केशरीजी महाराज भगवती सूत्र एवं धन्नाचरित्र का वाचन करते हैं। तपस्वी रत्नमुनि जी चातुर्मासी—आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से तप-साधना कर रहे हैं, ८१ का प्रत्याख्यान लिया है, और श्रावण कृष्णा अमावस्या (गुजराती आषाढ़ कृष्णा अमावस्या) से घोर तपस्वी कमल मुनिजी ने तप- साधना प्रारंभ की है। ये वहुत वड़े तपस्वी हैं, ४१ दिन का उपवास कर चुके हैं। इस वार भावना कुछ अधिक है, परन्तु स्वास्थ्य एव सुखसाता पर अवलम्वित है। इस तरह तपस्वियों की तप-साधना एवं प्रवचन के प्रभाव से धर्म-ध्यान का अभी से ठाठ लग रहा है।

१५-१६ और १७ अगस्त १९६९ को मालव केशरीजी महाराज एवं विजय मुनिजी शास्त्री, साहित्य रत्न के सान्निध्य में आध्यात्म-साधना-शिविर का घाटकोपर संघ की ओर से आयोजन किया गया। इसमें वृहत् वम्वई के सभी क्षेत्रों से लगभग ५०० से अधिक व्यक्तियों ने भाग लिया प्रातः ५ से ६ तक प्रतिक्रमण, ६ से ६॥ तक प्रार्थना, ६॥ से ८ तक शारीरिक आवश्यकताओं से निवृत्ति, ८ से १० तक नवतत्व पर प्रवचन, १० से ११॥ तक तत्व-चर्चा, फिर भोजन, २ से ३ तक तत्व चर्चा, ३ से ४ तक नव-तत्व पर प्रवचन, फिर विश्रान्ति, ७ से ८ तक प्रतिक्रमण, ८ से ९ तक तत्व-चर्चा, फिर प्रार्थना, उसके वाद विश्राम। कार्यक्रम वहुत अच्छा रहा और साधना-शिविर पूर्णतः सफल रहा। इस प्रकार वर्षावास का कार्यक्रम व्यवस्थित ढंग से चल रहा है।

☆

जो सहस्सं सहस्साणं,
संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं,
एस सो परमो जओ !

जो लक्षाधिक योद्धाओं को,
दुर्जय रण में लेता जीत ।
एक आत्म को स्वयं जीतना,
विजय यही है परम पुनीत ॥

शिक्षा, जीवन का प्राण है। शिक्षित एवं विचारशील व्यक्ति ही अपने विवेक को जागृत कर सकता है, और जीवन को संस्कारित एवं परिमार्जित बना सकता है। अध्ययन के अभाव,में शिक्षा के बिना वह जीवन के असली रहस्य को समझ नहीं सकता, जीवन की गुत्थियों को सुलझा नहीं सकता और बिना समझ के, बिना विवेक के न तो जीवन में निखार आ सकता है, न विचारों में तेजस्विता आ सकती है, और न धार्मिक आचार, धार्मिक क्रिया-काण्ड एवं धार्मिक अनुष्ठानों में प्राणों का संचार हो पाता है। इसीलिए जीवन के क्षेत्र में तथा साधना के क्षेत्र में ज्ञान का, अध्ययन का एवं चिन्तन का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान एवं विवेक से रहित व्यक्ति साधना के पथ पर तो क्या, संसार के किसी भी पथ पर गति-प्रगति नहीं

कर सकता। विकास एवं प्रगति के लिए—भले ही वह आध्यात्मिक हो या भौतिक अध्ययन एवं शिक्षा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

इसलिए साधना का प्रथम सोपान है—ज्ञान, और द्वितीय सोपान है—आचार, क्रिया-काण्ड। भगवान महावीर ने जीवन में, साधना के क्षेत्र में ज्ञान को सबसे अधिक महत्व दिया है। भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—ज्ञान ही मानव जीवन का सार (Cream) है— **" नाणं नरस्स सारं "**

ज्ञान को साधना का, आचार-धर्म का प्राण बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—"ज्ञान के बिना चारित्र्य के गुण नहीं होते, चारित्र की पर्यायों में शुद्धि नहीं आती"—

" नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा "

अस्तु, आचार को विशुद्ध बनाने के लिए विचारों की, ज्ञान की परिपक्वता आवश्यक है। शिक्षा एवं अध्ययन के बिना जीवन का विकास संभव नहीं है। शिक्षा का अर्थ केवल अक्षरी ज्ञान तक ही सीमित नहीं है। अक्षरी ज्ञान आत्मा की चिन्तन-शक्ति, विचार-शक्ति को बढ़ाने में सहायक है, परन्तु शिक्षा का सही अर्थ है—आत्म-ज्ञान और भारतीय संस्कृति में उसी शिक्षा को शिक्षा माना है, और उसी अध्ययन को अध्ययन कहा है, जो व्यक्ति को बन्धन से मुक्त कर सके— **" सा विद्या या विमुक्तये। "**

श्रद्धेय मालव केशरीजी महाराज का अध्ययन इसी भावना को साकार रूप देने की दृष्टि से हुआ था। आपके अध्ययन के पीछे एक ही लक्ष्य था—अक्षरी ज्ञान के माध्यम से आगमों के गूढ़ रहस्य को समझकर जीवन में उतारा जाए। इसी भावना से आपने अपने जीवन के अरुणोदय से ही संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी का अध्ययन शुरू कर दिया। आप अध्ययन में इतने संलग्न रहते थे, कि उस

समय आपका ध्यान अन्यत्र कहीं नहीं जाता था। गुरुदेव की सेवा और अध्ययन, ये दो ही काम आपके पास थे। गुरुदेव की कृपा भी आप पर बहुत थी। अध्ययन के लिए सब तरह की व्यवस्था करने का वे पूरा ख्याल रखते थे।

इसलिए आपने संस्कृत व्याकरण और साहित्य का सांगोपांग अध्ययन किया। उसके साथ जैन आगमों में भी गहरी डुबकी लगाई, और उसमें से अनमोल मुक्ता-कण निकाले। आपने आगम-साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन किया। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती पर आपका पूरा अधिकार है। मालवी बोली तो आपके जीवन के कण-कण में व्याप्त है। बातचीत के प्रसंग में या जब कभी मालव-प्रदेश में आप प्रवचन करते हैं, तब आपकी मालवी भाषा की छटा निराली ही रहती है।

वाणी का प्रभाव :

अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए व्यक्ति को वाणी का साधन महत्वपूर्ण मिला है। बोलने की शक्ति पशु-पक्षियों मे भी है, परन्तु उनकी भाषा में स्पष्टता नहीं है। विश्व में मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपने भावों, अपने विचारों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर सकता है।

भाषा का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति करता है, फिर भी श्रोता पर सब की वाणी का प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि बोलना भी एक कला है। जिसे बोलने की कला का ज्ञान नहीं है, विवेक नहीं है, उसकी वाणी दूसरे व्यक्ति को आकर्षित नहीं करती। अत भाषा का कलाकार अपने विचारों की धारा प्रवाहित करता है, तो श्रोताओं के तन-मन को अपने विचारों से भर देता है। अपने मन-मस्तिष्क को जन-जन के सामने खोलकर रख देता है। इसलिए एक पाश्चात्य

विचारक सेनेका (Seneca) ने कहा है—"वक्तृत्व कला विचारों का मापदण्ड है"—"Speech is the index of mind."

वक्ता की जबान पर नृत्य करने वाली वाणी को सुनकर हम उसके विचारों की गहराई एवं उसके चिन्तन की व्यापकता को नाप सकते हैं। वाणी व्यक्ति के मन में तरंगित होने वाले विचारों का प्रतिबिम्ब है।

श्रद्धेय मालवकेशरीजी महाराज वक्तृत्व कला में निपुण हैं। आपका अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है, आप में विचारों को अभिव्यक्त करने की कला है, और आपकी वाणी में ओज है, तेज है, और शक्ति है। सचमुच में वाणी का कलाकार वह है, जो श्रोता की भावना को जागृत कर देता है, और भावना के प्रभाव में बहकर श्रोता स्वयं अपनी इच्छा से कार्य करने को तत्पर हो जाता है। श्रद्धेय मालवकेशरीजी में इस शक्ति का विकास स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

आपने एक बार कहा था—"वाणी में वह शक्ति है, जो बड़े-बड़े शस्त्रों में नहीं है। शस्त्रों से संहार ही किया जा सकता है, परन्तु वाणी के द्वारा व्यक्तियों के हृदय को बदला जा सकता है, उनके जीवन का निर्माण किया जा सकता है और अपने विचारों के अनुरूप बदला जा सकता है। एक पाश्चात्य विचारक ने एक बार उद्घोषणा की थी—"मुझे बोलने दो, मैं विश्व पर अधिकार कर लूँगा—Let me speak, I will conquer all the world."

मालवकेशरीजी महाराज की जबान में इतनी शक्ति है, कि जब वे बोलने लगते हैं, तब जन-जन पर अपनी छाप अंकित कर देते हैं, और मैंने देखा है, कि सभा पर उनका अधिकार हो जाता है। उस समय श्रोता उनके विचारों के प्रवाह में बह जाता है।

उनकी वाणी में जादू है। मारवाड़, मालवा, बम्बई, गुजरात, सौराष्ट्र, मैसूर, बैंगलोर, मद्रास, हैदराबाद, जहाँ-जहाँ आपने अपने चरण रखे हैं, वहाँ के जन-मानस पर आज भी आपकी वाणी का प्रभाव है। हैदराबाद में मैंने स्वयं देखा है, आपको वहाँ गए हुए कई वर्ष हो गये, फिर भी लोगों की स्मृति में आपके प्रवचन अभी भी तरोताजा हैं। मैंने जिधर देखा उधर जन-जन के मन पर आपकी वाणी का प्रभाव दिखाई दिया।

आपके प्रवचन की विशेषता यह है, कि आपकी वाणी में सरलता, स्पष्टता एवं माधुर्य है, और बात को सीधे-सादे ढंग से कहने की कला है। उन्हें किसी बात को शब्दों के आवरण में बंद करके कहने की आदत नहीं है। जो कुछ कहना है, वह बिना लाग-लपेट के कहते हैं, और उनके शब्द-सीधे हृदय से प्रस्फुटित होते हैं। यही कारण है, कि उनकी वाणी हृदय को छू जाती है, और उस पर अपनी अमिट छाप अंकित कर देती है।

प्रचार एवं प्रसार :

मालवकेशरी, प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमल जी महाराज जैन-समाज के गगन के देदीप्यमान एवं तेजस्वी सूर्य हैं। आपने विचार आलोक से जन-जन के मन-मन में रहे हुए अज्ञान अन्धकार को दूर करके ज्ञान के प्रकाश को फैलाने का प्रयत्न किया है। आपने वाक्-शक्ति से जिन-शासन की सेवा और प्रभावना की है। बचपन में एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी—"यदि यह बालक संसार में रहा तो राज्य लाभ प्राप्त करेगा और यदि वैराग्य की ओर कदम बढ़ाया तो मुनि बनकर जन-जन के मन में धर्म की ज्योति जलाएगा और यश-कीर्ति प्राप्त करेगा।" मैंने देखा कि ज्योतिषी की बात शत-प्रतिशत सत्य हो रही।

आपके प्रवचनों एवं उपदेशों का प्रभाव केवल जैन जनता तक ही सीमित नहीं था। जैनेतर व्यक्ति भी आपके वचनामृत का श्रद्धा के साथ पालन करते रहे हैं, और आज भी कर रहे हैं। आपके उदार विचारों एवं समझाने की अद्‌भुत कला के द्वारा वड़े-बड़े राजा महाराजा, प्रधानमंत्री एवं राष्ट्र के भाग्य विधाता राजनेता भी आपकी ओर आकर्षित रहे हैं। मालव प्रदेश के प्रत्येक गाँव के जागीरदार ठाकुर आपके उपदेशों से प्रभावित रहे हैं। अनेक रावलों-जागीरदारों के महलों में आपके प्रवचन होते रहे हैं। इन्दौर, देवास, सरलाणिया, खवासा, कुशलगढ, मुलतान, सैलाना, झाबुआ के राजाओं तथा कोद वीडवाल, वखतगढ़, दोतर्या, लीवडी, पंचमहल, वडवेट, पंचेड नामली, तलगारा, मोखमपुर, सारंगी के ठाकुरों आदि ने भी आपके प्रवचन सुने हैं और आपके उपदेश से उन्होंने अपने राज्य में पर्व दिनों में हिंसा को रोकने के लिए जीवदया के पट्टे लिख कर दिए हैं। गुजरात और सौराष्ट्र में वढ़वाण, जसदण, लाठी, चूज, भावनगर, जामनगर और पालीताणा आदि रियासतों के राजाओं ने भी आप के प्रवचन सुनकर अपनी धर्म भावना को वढ़ाया। दक्षिण भारत में हैदरावाद के नवाव साहव और उनके दीवान श्री किशनप्रसाद वहादुर, यारजंग वहादुर, अमीनजग वहादुर और मैसूर नरेश तथा वहाँ के दीवान सर मिरजा इस्माइल खाँ की भी आप पर विशेप भक्ति थी, और उन्होंने अपनी रियासत में पर्व दिनों में हिंसा न हो इसलिए कत्लखाने वन्द रखने के लिए पट्टे लिखकर दिए थे।

गांधीजी और मालव केशरीजी :

भारत को परतन्त्रता की वेड़ी से मुक्त करने के लिए अंग्रेजों से अहिंसक युद्ध करने वाले, और अहिंसा एवं सत्य के द्वारा राष्ट्र को आजाद करने वाले रा[illegible] महा[illegible] आप से कई वार

मिले और सत्याग्रह, अहिंसा एवं धर्म के द्वारा देश की समस्याओं

को सुलझाने के लिए आप से विचार–विमर्श किया। गांधीजो से वातचीत के प्रसंग में आपने वताया—"अहिंसा कायरता नहीं है। वह कायरों का हथियार नहीं है, और न उत्तरदायित्व से वचने का वहाना है। अहिंसा वीरों का धर्म है। वीर व्यक्ति अहिंसा, क्षमा को स्वीकार कर सकता है। विश्व में जव भी शान्ति होगी, तव अहिंसा के द्वारा ही होगी। हिंसा एव युद्धों के द्वारा न कभी शान्ति आई है और न भविष्य में शान्ति स्थापित हो सकेगी।"

आपने अपनी वात को आगे वढ़ाते हुए कहा—''हिंसा का जन्म विद्वेष की भावना से होता है। व्यक्ति के मन में जब दूसरे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के प्रति द्वेष बुद्धि होती है, अपना स्वार्थ साधने एवं दूसरे का शोषण करके अपने आपको परिपुष्ट करने की मनोवृत्ति होती हैं, तव वही भावना शस्त्रों के निर्माण में लगती है। शस्त्रों में आने वाली तीक्ष्णता एवं भयंकरता मानव-मानस में विद्वेष का ही परिणाम है। जव शस्त्र-अस्त्र एवं उनसे होने वाली हिंसा का मूल कारण वैर-विरोध एवं विद्वेष की भावना है, तव उससे शान्ति कैसे होगी? यदि कोई पेट्रोल छिड़क कर आग को बुझाना चाहे, तो

यह उसका मूर्खतापूर्ण कार्य कहा जाएगा। इसी तरह वैर से वैर बढ़ता है। शस्त्रों से हिंसा की ज्वाला प्रतिपल, प्रतिक्षण बढ़ती ही है। क्यों कि शस्त्रों में तीक्ष्णता है, भयंकरता है और विनाशक शक्ति है, फिर आप ही बताइए उनसे शान्ति कैसे मिलेगी?"

गांधीजी को आपके विचार बहुत अच्छे लगे। उन्होंने अपने सत्याग्रह एवं अहिंसा के विचार भी मालवकेशरीजी के सामने रखे, और उन पर अपने विचार जानने चाहे। मालवकेशरीजी महाराज ने कहा,—"अहिंसा का पहला सूत्र है—प्रेम। अहिंसा और प्रेम परस्पर अभिन्न हैं। जिस व्यक्ति के मन में जन-जन के प्रति, पशु-पक्षी जगत के प्रति प्रेम, स्नेह एवं मैत्री की भावना होगी, वह उसके विनाश की कल्पना ही नहीं कर सकता। वह तो हर व्यक्ति का, प्रत्येक प्राणी का हित चाहेगा, विकास चाहेगा और उदय चाहेगा। सर्वोदय की भावना को सार रूप देने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति न किसी को उत्पीड़ित कर सकता है, और न किसी के धन का शोषण करता है, न किसी के अधिकारों का शोषण करता है, और न किसी के विचारों का शोषण करता है। वह शोषण एवं नाश करता है, तो केवल अपने विकारों का, अपने विद्वेष भाव का, जो व्यक्तिगत और समाजगत अशान्ति का कारण है। अस्तु, विश्वशान्ति का मूल अहिंसा के द्वारा क्रूर से क्रूर प्राणी के हृदय को बदला जा सकता है, और बदला गया है। यह सत्य है, कि अहिंसा का व्यक्ति पर असर कुछ देर से होता है, परन्तु होता है, स्थायी। वह शस्त्रों से होने वाली श्मशान की शान्ति की तरह क्षणिक नहीं होता, और न ऐसा ही होता है कि बाहर से वातावरण शान्त प्रतीत होता है, परन्तु भीतर में चिता की ज्वाला जल रही है। अहिंसा-आन्दोलन शत्रु के मन में शत्रुता के भाव निकाल कर प्रेम के बीज बोता है। इसमें मुझे जरा भी सन्देह

नहीं है कि आपका सत्याग्रह आन्दोलन सफल होगा, और अवश्य ही सफल होगा।" और हमने अहिंसा की महान शक्ति को प्रत्यक्ष रूप से देखा कि खून की एक बूंद बहाए बिना हमें आजादी मिल गई और ब्रिटेन के साथ भी हमारी मित्रता वनी रही।

नेहरुजी और मालवकेशरीजी :

जन-जन के मन का लाल, स्वतन्त्रभारत का भाग्य-विधाता, अन्तदर्शी पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी मालवकेशरीजी से मिले थे। उस समय आप में जवानी का जोश अधिक था, पर आत्मा का होश कम था। पण्डितजी राष्ट्रीय कर्तव्य के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को नहीं मानते थे। आप विज्ञानवाद के परम उपासक रहे हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व आपके मन में भारत का विकास वैज्ञानिक ढंग से करने की कल्पना थी, जिसे उन्होंने अपने प्रधानमंत्री पद के समय में कुछ अंश में पूरा करने का प्रयत्न किया।

मालवकेशरीजी महाराज ने उन्हें स्पष्ट रूप से वताया—"राजनीति, विज्ञान और धर्म तीनों मानव हित के लिए वने हैं। परन्तु राजनीति और विज्ञान वाह्य-व्यवहार एवं भौतिक पदार्थों से संवद्ध हैं, और धर्म अन्तर-वृत्तियों को माँजने का काम करता है,

विद्वेष एवं काम-क्रोध आदि मनोविकारों को नष्ट करता है। यदि राजनीति और विज्ञान के साथ धर्म रहा, तो व्यक्ति कभी भी उनका दुरुपयोग नहीं करेगा, और इन से धर्म को निकाल दिया गया, तो राजनीति और विज्ञान मानवजाति के लिए अभिशाप रूप बन जाएँगे। वह मानव जाति को विनाश के कगार पर ले जाकर खड़ा कर देगा।' उस समय पण्डितजी ने उस पर विचार तो किया होगा, परन्तु वह बात पूरी तरह उनके दिमाग में नहीं उतरी। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विज्ञान के संहारक रूप को देखकर, और उसके बाद भी विश्व में बढ़ते हुए तनाव को तथा अणुशस्त्रों के निर्माण में लगने वाली होड़ को देखकर, आपको मालवकेशरीजी के शब्दों में यह स्वीकार करना पड़ा कि धर्म-शून्य विज्ञान से कदापि शान्ति नहीं हो सकती। आपने "The world confercnce of scientists" में स्पष्ट शब्दों में कहा था—'जब तक वैज्ञानिक सन्त की दृष्टि को नहीं अपनाएँगे, तब तक धरती पर शान्ति का स्वर्ग उतर नहीं सकता।"

डा० राजेन्द्रबाबू और मालवकेशरीजी :

स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति, सन्त हृदय डा० राजेन्द्रप्रसाद भी मालवकेशरीजी महाराज के सम्पर्क में आए थे। उस समय विचार

चर्चा में आपने राजेन्द्रबाबू को इतना ही कहा था—"कांग्रेस ने स्व
त्रता प्राप्त करने के लिए जिस आदर्श त्याग को स्वीकार किया
उसकी ज्योति धूमिल नहीं पड़नी चाहिए। अधिकारलिप्सा
कामना नहीं जगनी चाहिए। यदि कामनापूर्वक कार्य किया गया,
कांग्रेस का गौरव तो कम होगा ही, साथ में देश का हित कुछ
नहीं होगा। नेता लोग देशहित को छोड़ कर अपना स्वार्थ साधने
लग जाएँगे। इसलिए आजादी प्राप्त करने एवं देश-सेवा के लिए
कुछ कर रहे हैं, निष्काम भाव से करें। निष्काम वृत्ति से किए
कार्य से ही देश का विकास हो सकेगा।"

राजेन्द्रबाबू बहुत सरल प्रकृति के प्रामाणिक व्यक्ति थे। वे स
फल की कामना से कर्म करने में विश्वास नहीं रखते थे। अत
मालवकेशरीजी के विचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

राजगोपालाचारी और मालवकेशरीजी :
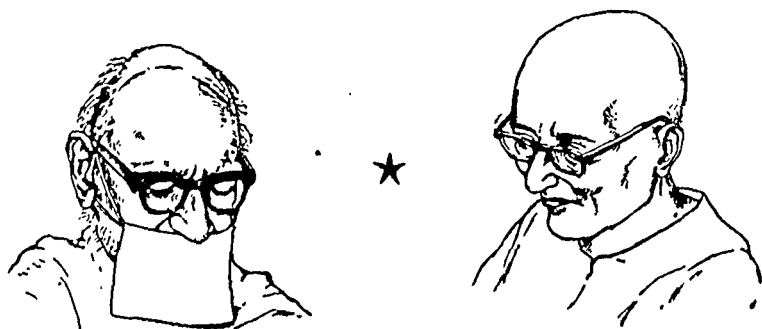
भारत के प्रथम गवर्नरजनरल, तर्कशीलविचारक चक्रवर्ती
राजगोपालाचारी, जब मालवकेशरीजी से मद्रास में मिले, तब आपने
उनसे अहिंसा, सत्याग्रह, स्वतन्त्रता आदि विषयों पर बातें कीं। इसी
प्रसंग पर आपने कहा—"देश को एक सूत्र में आबद्ध रखने के लिए
भारत की एक ऐसी भाषा होनी चाहिए, जो सभी प्रान्तों को जोड़ने

का काम करे। उस भाषा को भारत की अधिकांश जनता जानती, समझती और बोलती हो, और भारत के लिए गौरवशाली हो। विदेशी भाषा को बनाए रखने में भारत का अपना गौरव नहीं है। इतने विशाल राष्ट्र की अपनी एक राष्ट्र-भाषा न हो, यह भारत के लिए कितनी शर्म की बात है।" आगे आपने कहा कि "मेरे विचार से हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है– जो भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। उसका शब्द भण्डार भी विशाल है, और अधिक बढ़ाया भी जा सकता है। इसमें वैज्ञानिकता भी है। इसलिए अंग्रेजी के स्थान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में ही भारत का हित है।"

इस प्रकार प्रसिद्ध वक्ता सौभाग्यमलजी महाराज ने भारत के अधिकांश प्रान्तों में घूम-घूमकर जन-जन के जीवन में धर्म एवं कर्तव्य की भावना को जगाया। ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म क्या है, इसका स्वरूप बताया। परिवार एवं समाज के साथ कैसे रहना चाहिए, यह भी सिखाया। जहाँ-जहाँ आप पधारे, वहाँ की जनता के मानस पर आज भी आपश्री के प्रवचनों की छाप अंकित है। आज भी आपकी वक्तृत्व कला उनकी स्मृति में है, और युग-युग तक रहेगी। आपके व्यक्तित्व एवं विचारों की उनके मन पर इतनी गहरी छाप अंकित हो गई है, कि वह कभी धुल जाएगी ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कुछ विशिष्ट घटनाएँ :

१. प्रवर्तक श्री ताराचन्दजी महाराज, मालवकेशरीजी आदि चवदह सन्त मद्रास के पुणमली बाजार में ठहरे हुए थे। उन्हीं दिनों मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन या कोई विशेष मीटिंग हो रही थी। उसमें गांधीजी, नेहरूजी आदि कांग्रेस के महाननेता एवं लीडर उपस्थित थे। गांधीजी को जब यह ज्ञात हुआ, कि मालवकेशरीजी

कल मद्रास आ रहे हैं, तो आपने नेहरूजी के भाषण के वाद उनका भी प्रोग्राम रख दिया। परन्तु उसी दिन रात को दो वजे एक व्यक्ति ने मालव केशरीजी को आकर यह सूचना दी, कि गांधीजी विशेष कार्य-उपस्थित होने के कारण यहाँ से चले गए हैं। यह समाचार सुनकर आपने मद्रास जाने का प्रोग्राम स्थगित कर दिया, और आप सव त्रिवलुर पधार गए।

प्रातः गांधीजी आपको लेने आए, परन्तु आप नहीं पहुँचे तव वापिस लौट आए, यह समाचार लेकर श्री पूनमचन्दजी त्रिवलुर आए, तव आपने रात्रि में घटित घटना सुनाई, और मद्रास नहीं आने का कारण वता दिया—उन्हें महात्माजी के मद्रास से चले जाने की सूचना मिल गई थी, जो कि यथार्थ में गलत थी। जब श्री पूनमचन्दजीने गांधीजी को सव वातें वताईं, तव उन्हें वहुत दुःख हुआ, और ट्रेन से ही उन्हाने आपको एक पत्र लिखा—जिसमें आप से आज मुलाकात न होने पर दुःख व्यक्त किया और अन्यत्र यह सौभाग्य प्राप्त करने की भावना जताई।

२. एक वार आप वम्वई विराज रहे थे। एक दिन आप गोचरी (भिक्षा) के लिए एक वँगले पर गए। वंगले में प्रवेश करते ही आप ने देखा, कि गांधीजी भी यहीं ठहरे हुए हैं। अचानक ही मिलन का प्रसंग उपस्थित होने पर दोनों को प्रसन्नता हुई। उस दिन सोमवार था, और गांधीजी के मौन था। फिर भी विशेष प्रसंग होने के कारण गांधीजी ने अहिंसा पर आपसे कुछ देर तक वातें कीं।

३. एक समय की घटना है, कि आप प्रवर्तक ताराचन्दजी म० की सेवा में भुसावल में विराज रहे थे। एक दिन प्रातःकाल पूनमचन्दजी नाहटा आए, और उन्होंने कहा—कि आज इतनी जल्दी इसलिए आया हूँ—आज गांधीजी अभी ट्रेन से भुसावल आ रहे हैं,

वे यहाँ एक घण्टा ठहर कर वापिस चले जाएँगे। उनका थोड़े समय के लिए ही यहाँ कार्यक्रम है, इसलिए मैं स्टेशन जा रहा हूँ। तब आपने कहा—"आप गांधीजी से कह देना, कि मैं (सौभाग्यमलजी महाराज) यहीं हूँ।" तदनन्तर नाहटाजी स्टेशन गए, गांधीजी से मिले और नमस्कार करने के बाद आपने गांधीजी को मालवकेशरी जी का संदेश कह दिया। आप के समाचार मिलते ही वहाँ का कार्यक्रम परिसमाप्त करके, आप स्थानक में आपकी सेवा में आए। मालव केशरीजी ने कहा—"मैं सूर्योदय के पहले कहीं आ-जा नहीं सकता, यदि दिन में आपके आगमन का प्रोग्राम होता, तो मैं ही स्टेशन आ जाता, आपने यहाँ तक आने का कष्ट क्यों उठाया।"

महात्माजी ने कहा—"मुझे यह मालूम था, कि आप सूर्योदय के पहले स्थानक से बाहर नहीं जाते इसी कारण मैं यहाँ चला आया।"

इस शिष्टाचार रूप बातचीत के बाद किशनलालजी महाराज ने पूछा– "आपने स्वराज्य प्राप्त करने के लिए अनेक कष्ट सहन किए हैं। इसके लिए आपने लाठियों की मार भी सहन की, जेल भी अनेक बार जा आए हैं। क्या आपको विश्वास है, कि सत्यागह के द्वारा आप स्वराज्य को प्राप्त कर लेंगे?"

गांधीजी ने इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने कहा—मैंने आज तक किसी भी व्यक्ति का, किसी भी जाति का, किसी भी राष्ट्र का बुरा नहीं किया, किसी के प्रति मन में द्वेष एवं घृणा नहीं रखी है, और क़िसी का बुरा चाहा भी नहीं है और सोचा भी नहीं। फिर क्या कारण है, कि मेरा प्रयत्न सफल नहीं होगा? अर्थात् हमारा पुरुषार्थ अवश्य ही सफल होगा। हम स्वराज्य को अहिंसा एवं सत्य के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। अतः इसी शक्ति से हम स्वतन्त्रता को प्राप्त करेंगे।"

४. एक समय आप अपने पूज्य गुरुदेव के साथ कोट में विराज रहे थे। उन दिनों हजारों बन्दर भारत से विदेश भेजे जा रहे थे। उन्हीं दिनों पं० जवाहरलाल नेहरू वम्वई आए हुए थे। तव आपने एक कांग्रेसी स्वयंसेवक से कहा, कि नेहरूजी से कहना, कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। यदि नेहरूजी के पास अवकाश हो तो मैं उनके निवास स्थान पर जाकर मिल सकता हूँ। स्वयंसेवक ने नेहरू जी को महाराज श्री का सन्देश सुना दिया। दूसरे दिन प्रातः कोट संघ के नाम पर नेहरू जी का पत्र आया, और मिलने का समय दिया। मालव केशरीजी, प्रखरवक्ता विनय मुनिजी दोपहर को तीन वजे गवर्नर के वंगले पर प्रधानमंत्री नेहरूजी से मिलने गए। उस समय आपके साथ वम्वई के प्रमुख व्यक्ति गिरधर भाई दामोदर दफ्तरी, डा० नाराणजी वोरा साथ थे। नेहरूजी ने आपका वहुत सम्मान एवं आदर किया। और नेहरूजी एवं आपकी वहुत देर तक अहिंसा एवं शासन के सम्वन्ध में वातें होती रहीं। आपने वन्दरों को वाहर भेजने एवं मारने की ओर भी नेहरूजी का ध्यान आकर्षित किया, और विना कारण ही होने वाली इस हिंसा को रोकने का भी आग्रह किया।

नेहरूजी ने महाराज श्री की वात को ध्यानपूर्वक सुना, और इस हिंसा को रोकने का प्रयत्न करने का आश्वासन दिया।

उसके वाद आप कोट के स्थानक में वापिस पधार गए।

५. एक वार श्रद्धेय किशनलालजी महाराज एवं मालवकेशरी जी आदि सन्त झावुआ पधार रहे थे। जव झावुआ नरेश को यह मालूम हुआ, कि महाराज श्री झावुआ पधारने वाले हैं, तव उन्होंने आगमन के एक दिन पूर्व शहर में अगता पालन करने की घोषणा करवा दी। अगते का तात्पर्य यह है—उस दिन कसाई हिंसा नहीं

कर सकते, खेत जोतने की भी उस दिन छुट्टी रहती है। इसके अतिरिक्त झाबुआ नरेश अपने दीवान, सरकारी कर्मचारियों एवं जैन-अजैन जनता के साथ सरकारी बैंड लेकर शहर से एक मील दूर स्वागत करने आए। महाराज श्री के पधारने पर नरेश एवं अन्य अधिकारियों ने वन्दन करके आपका स्वागत किया, और सरकारी बैण्ड की मधुर ध्वनि भी दशों-दिशाओं को ध्वनिमय बनाने लगी, और पुलिस ने सलामी दी। तब मालव केशरीजी ने नरेश से कहा—"राजन् ! हम साधु हैं। यह बैन्ड एवं पुलिस आदि हमारे साथ नहीं रह सकते।"

नरेश ने कहा—"यह सब तो मैं अपनी इच्छा से कर रहा हूँ। इस में आप को क्या दोष लगेगा ? यह तो हमारी भक्ति एवं श्रद्धा है। आपको इसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

मालवकेशरीजी ने कहा—जहाँ तक आपकी श्रद्धा एवं भक्ति का प्रश्न है, वह तो ठीक है। वह तो अन्दर की वस्तु है, परन्तु सशस्त्र पुलिस एवं बैण्ड आदि जो भय और विकार उत्पन्न करने के साधन हैं, वे साधु के साथ शोभा नहीं देते। श्रमण भगवान महावीर के चरणों में राजा एवं श्रेष्ठि-वर्ग जब जाता, तो वह पुष्पमाला दण्ड एवं शस्त्र आदि बाहर रखकर जाता था। सन्तों के साथ हथियारों से सुसज्जित पुलिस एवं वाद्य यंत्र उनकी साधना के अनुरूप नहीं है। उनके साथ तो सादगी एवं सात्विकता ही रहनी चाहिए। त्यागी-विरागी सन्तों का स्वागत त्याग विराग बढ़ाने वाली वृत्ति के साथ करना चाहिए। आपने विस्तार के साथ झाबुआ नरेश को सन्त जीवन का आदर्श समझाया। इससे नरेश की श्रद्धा और बढ़ गई। पुलिस, बैण्ड एवं राज्य कर्मचारियों को वापिस भेज दिया, और स्वयं नरेश भी—महाराज के कहने से, उस समय वापिस चले गए। फिर महाराज श्री धूमधाम से

शहर में पधारे। और दोपहर के समय दरबार हाल में मालवकेशरी जी का जाहिर व्याख्यान हुआ। उस प्रवचन में अपने परिवार एवं स्वजन-स्नेहियों के साथ झाबुआ नरेश भी आए। प्रवचन सुनकर नरेश बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—मेरी इच्छा होती है, कि आप जैसे सन्तों की वाणी सुनकर कुछ लाभ उठाऊँ। परन्तु गवर्नर ने मुझे कलकत्ता मिलने को बुलाया है। वहाँ जाना आवश्यक है। इसलिए मैं आज शाम को कलकत्ता के लिए रवाना हो रहा हूँ। महाराज के पास भी अधिक समय का अवकाश नहीं था। अतः दूसरे दिन मालव-केशरी जी ने भी अपने पूज्य गुरुदेव के साथ झाबुआ से विहार कर दिया। ★
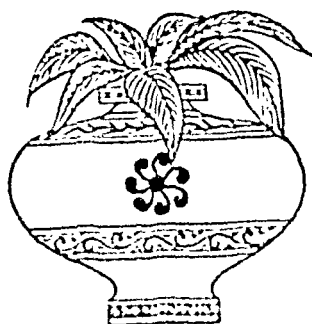
मालवकेशरीजी महाराज की जीवन धारा किसी एक क्षेत्र में ही प्रवहमान नहीं रही। मालव में उसका उद्भव हुआ, परन्तु वह मालव की परिधि को लाँघकर अन्य प्रान्तों में जन-जीवन को आप्लावित करती रही है। आप अपने पूज्य गुरुदेव के साथमें और स्वतंत्र रूप से भारत के अधिकांश भू-भाग को अपने चरण स्पर्श से पावन कर चुके हैं। और आपने अपनी ज्ञान-ज्योति से जन-जन के जीवन-पथ को आलोकित किया है, और उनका मार्गदर्शन भी करते रहें हैं।

मालव की जनता पर तो आपके विचारों की अमिट छाप है ही, परन्तु दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, बम्बई, महाराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर, बैंगलोर, एवं मद्रास के श्रावक भी उपदेश-धारा द्वारा तन-मन के ताप-संताप को मिटाते रहे हैं। और आप ने

अजमेर सम्मेलन के वाद १४, १५ साल तक संगठन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सन् १९४८ के अन्त में कान्फ्रेन्स ने इस कार्य को पुनः अपने हाथ में लिया, और एकता का वातावरण तैयार करने के लिए सप्त-सूत्री योजना वनाई। इस योजना को सफल वनाने में आपने पूरा सहयोग दिया।

संवत् २००६ का मालवकेशरी जी महाराज का चातुर्मास उज्जैन था। उस समय कान्फ्रेन्स श्रमण-संघटन के लिए प्रयत्न कर रही थी। कान्फ्रेन्स की ओर से श्री धीरज भाई तुरखिया आदि सभी प्रमुख सन्तों के पास यह योजना लेकर गए—हमने सभी परंपराओं की समाचारी की प्रतियाँ व्यावर में एकत्रित की हैं, अतः आप सव व्यावर में मिलकर सभी समाचारियों को देखकर एक सर्व-मान्य समाचारी तैयार करें। किशनलालजी म० एवं मालवकेशरीजी म० की सेवा में उज्जैन से भी डेपुटेशन आया, और उनसे प्रार्थना की। इधर दिवाकरजी महाराज ने रतलाम से सूचना भेजी कि संघटन एवं समाचारी के सम्वन्ध में विचार करना है, अतः आप उज्जैन खाचरौद पधारे। वर्षावास के वाद आप खाचरौद पधारे, परन्तु दिवाकर जी म० वहाँ से विहार करके नागदा पधार चुके थे, अतः आप नागदा जंकशन पधारे। वहाँ दिवाकर जी से मिले और संघटन एवं समाचारी पर विचार किया। वहाँ कान्फ्रेन्स की ओर से एक डेपुटेशन भी आया था। उसकी विनती को सुनकर एवं कान्फ्रेन्स का आग्रह देखकर श्रद्धेय दिवाकर जी महाराज ने अपनी ओर से प्यारचन्द जी म० को और श्रद्धेय किशनलाल जी म० ने अपनी ओर से सौभाग्यमलजी म० को भेजने की स्वीकृति दी। मालवकेशरीजी म० नागदा से व्यावर जा रहे थे, तव रास्ते में प० श्री गब्बूलालजी म०, चान्दमल जी म० मिले, उनसे भी संघटन के सम्वन्ध में वातें

हुई । फिर मावली में आचार्य श्री मोतीलाल जी म० से आप मिले । उन्होंने आपके विचार सुनकर संघटन के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अधिकार आपको सौंप दिए । उसके वाद कजोड़ीलालजी म० मिले, उनसे भी विचार-विमर्श हुआ । फिर आप व्यावर पधारे । वहाँ आचार्य आनन्द ऋषि जी म०, कजोड़ीमल जी म०, मरुधरकेशरी मिश्रीमल जी म०, प्यारचंदजी म०, केशरीमलजी म०, आचार्य सहस्रमलजी म० आदि सन्तों का मिलन-मेलन सम्मेलन हुआ । व्यावर शहर के वाहर सेठ श्री लालचन्द जी कोठारी के वगीचे में मीटिंग हुई, और सब सन्तों ने यह निर्णय किया, कि मालवकेशरी जी म० सभी समाचारियों को सामने रख कर एक समाचारी तैयार करें । आपने तीन दिन तक परिश्रम करके एक समाचारी तैयार की, जिसे सबने स्वीकार कर लिया ।

इसके वाद सौभाग्यमल जी म० ने कहा—यदि समाचारी वनाने के लिए आप सब सन्त पधारे हैं, तो यह काम तो कहीं भी कर सकते थे । अब मिले हैं, तो कुछ महत्वपूर्ण कार्य करना चाहिए, जिससे संघ एवं समाज को प्रेरणा मिले । आपने सर्व-प्रथम व्यावर श्रमण-संघ की योजना रखी । आचार्य सहस्रमल जी म० को आपकी योजना वहुत पसन्द आई, और उन्होंने उसी समय अपनी चद्दर उतार कर आपकी गोद में रख दी, और कहा, कि संघटन के लिए मैं अपना आचार्य पद छोड़ने को तैयार हूँ । फिर आपने आचार्य आनन्दऋषि जी महाराज के साथ विचार-विमर्श किया, और तीन दिन तक निरन्तर उन्हें समझाने, एवं उनकी तर्कों का समाधान करने के वाद उनके मस्तिष्क में श्रमण-संघ की योजना जम गई । और उन्होंने इस योजना को स्वीकार कर लिया ।

संघटन की दिशा में मालवकेशरी जी महाराज ने सबसे पहले

प्रयत्न किया, और इसके लिए उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, और उन्हें अपने प्रथम-कदम में ही सफलता मिल गई। आपके परिश्रम से ब्यावर में पूज्य आनन्दऋषि जी म०, प्रवर्तक ताराचन्द जी म०, प्रसिद्धवक्ता चौथमल जी म० आचार्य सहस्रमल जी म०, आचार्य मोतीलाल जी म० (मेवाड़ी) और कजौड़ीमल जी म०, इन पाँच सम्प्रदायों का संघटन हुआ, और सबने मिल कर श्री वर्धमान-श्रमण-संघ का निर्माण किया। उस समय आपने संघ के सामने एक समाचारी प्रस्तुत की, और एकता को स्थायी बनाए रखने तथा उस के क्षेत्र को विस्तृत वनाने के लिए एक समाचारी को स्वीकार करना क्यों महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है, यह भी आपने विस्तार से समझाया। आपने कहा—जब तक समाचारो, परंपराएं एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं में एकरूपता नहीं आयेगी, और अन्तर के मन एक-दूसरे के साथ नहीं मिलेंगे, तब तक एकता एवं संघटन टिक नहीं सकता।

उसके बाद आपने पाँचों सम्प्रदायों की व्यवस्था के लिए आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म० को प्रधानाचार्य पद देने का प्रस्ताव रखा, जिसे सवने एक स्वर से स्वीकार किया, और उनको कुन्दन-भवन में प्रधानाचार्य का पद धूमधाम से प्रदान किया गया।

इस प्रकार आचार्य आनन्दऋषिजी महाराज के नेतृत्व में ब्यावर में पाँच सम्प्रदायों का संगठन हुआ, जिसमें आप भी सम्मिलित हुए। और संघ-ऐक्य की भावना को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया।

सन १९५२ में स्थानकवासी साधु-समाज का जो महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ, उसको सफल वनाने में आपने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। जव कभी कोई वरिष्ठ सन्त रूठ जाता, तव उसे मनाने का और निकट लाने का प्रयत्न आप ही करते थे। विचारों की गुत्थियों को सुलझाने का काम उपाध्याय अमरचन्दजी महाराज ने किया,

और मनों की दूरी को मिटाने का प्रयास आपने किया। इसी का परिणाम है कि सादड़ी सम्मेलन शत-प्रतिशत सफल हो सका।

आप में संगठन की भावना बहुत प्रवल थी। इस की कल्पना हम इस वात से कर सकते हैं कि वम्वई से इन्दौर होकर आप सादड़ी पधारे, और सम्मेलन के समाप्त होते ही फिर से वम्वई के लम्वे पथ को नापने के लिए चल पड़े, क्योंकि आप वम्वई का वर्षा-वास स्वीकार कर चुके थे। आपके मन में साधु समाज को संगठित देखने की तीव्र भावना थी। इसलिए इतना लम्वा विहार करके सम्मेलन के प्रांगण में पधारे।

सादड़ी के वाद सोजत और भीनासर सम्मेलन के समय भी मैंने देखा कि उन्होंने लगन एवं उत्साह के साथ काम किया। कुछ परिस्थितियों के कारण जव विचार भेद वढ़ने लगा, तो आपने कुशलता के साथ उस खाई को पाटने का कार्य किया। आप में एक-दूसरे को समझाने की अद्‌भुत कला है। जीवन में विनम्रता और वाणी में इतना माधुर्य है कि आप की वात को एकाएक कोई नहीं टाल सकता। यही कारण है कि सादड़ी के वाद सोजत, भीनासर और पुन: अजमेर में हुए सम्मेलन सफल हो सके। और कुछ व्यक्तियों ने, एक-दो वरिष्ठ सन्तों ने, जव-जव संगठन को तोड़ने की योजनाएं वनाई, तव-तव आपके एवं अन्य वरिष्ठ अधिकारियों के प्रयत्नों से उनकी योजनाएँ पूर्णत: असफल रहीं। सम्मेलनों के समय आपने जो अद्‌भुत कार्य किया, वह स्थानकवासी समाज के इतिहास में युग-युग तक अमर रहेगा, और आने वाले इतिहासकार उसका मूल्यांकन किए विना नहीं रहेंगे। अनागत के इतिहास लेखक जव सम्मेलनों का इतिहास लिखेंगे, वे तव मालवकेशरीजी महाराज के परिश्रम को एक ओर छोड़कर चलने की भूल नहीं करेंगे। आप ने

अनन्य भाव से संघ की महत्वपूर्ण सेवा की है। श्रमण संघ को संगठित, शसक्त एवं मजबूत बनाने का प्रयत्न किया है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है ?

सन् १९६७ में कांदावाडी – बम्बई का वर्षावास परिसमाप्त कर के विजय मुनिजी महावीर जयन्ती के पावन-प्रसंग पर महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में पाथर्डी पधारे। उस समय सेठ चन्द्रभानजी डाकलिया, पं० बद्रीनारायण जी शुक्ल आदि के साथ बातचीत में महाराष्ट्र में सम्मेलन की योजना का जिक्र किया। उसके बाद घोड़नदी में महाराष्ट्र कार्यकर्ता सम्मेलन में महाराष्ट्र में साधु-सम्मेलन कराने का विचार निश्चित किया। परन्तु वह योजना कुछ कारणों से आगे नहीं बढ़ सकी, इसलिए १९६८ के पूना चातुर्मास में उसे स्थगित कर दिया गया।

परन्तु श्रद्धेय मालवकेशरी जी ने अपने १९६८ के नासिक वर्षावास के अन्त में महाराष्ट्र में साधु-सम्मेलन कराने की चर्चा को पुनर्जीवित किया। कांदावाडी संघ के प्रमुख गिरधरभाई दामोदर दफ्तरी का उन्हें पूर्णतः समर्थन मिला। फिर आपकी प्रेरणा से २ फरवरी १९६९ को नासिक में महाराष्ट्र के कार्यकर्त्ताओं की एक मीटिंग बुलाई गई। उस समय पं० श्री पुष्कर मुनि जी महाराज भी अपनी शिष्य मण्डली के साथ वहीं विराज रहे थे पुष्कर मुनि जी महाराज उस समय मालवकेशरी जी के विचारों के साथ थे।

आपकी एवं विजय मुनिजी की प्रेरणा से नासिक, पूना आदि से ३० व्यक्तियों का एक डेपुटेशन दिसम्बर के अन्त में आचार्य श्री एवं उपाध्याय श्री की सेवा में चण्डीगढ़ एवं आगरा गया, और दोनों महापुरुषों का आश्वासन लेकर आया। उसके बाद सन् १९६९ के वर्षावास के लिए घाटकोपर में प्रवेश करने के पूर्व आपके सान्निध्य

में मुलुण्ड में वृहत् वम्वई एवं महाराष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों की एक मीटिंग हुई। और आपकी तथा विजय मुनिजी की प्रेरणा से वम्वई के प्रमुख व्यक्तियों का एक डेपुटेशन दिल्ली और आगरा आचार्य श्री तथा उपाध्याय श्री की सेवा में गया। उसमें वम्वई से गिरधर भाई दफ्तरी, खिमचंद भाई वोरा, हरिभाई दोसी, मणिभाई दोसी, दलीचन्द भाई देसाई, हरिभाई वोरा एवं नासिक के व्यक्ति थे। अभी आचार्य श्री ने सम्मेलन के लिए पूर्ण स्वीकृति नहीं दी है। परन्तु मालवकेशरी जी का यह प्रयत्न अभी भी चालू है, कि स्थानकवासी समाज का संघटन मजबूत वने। वे वने वनाए महल को विखेरने के पक्ष में नहीं, प्रत्युत उसे मजबूत वनाने के पक्ष में हैं और चाहते हैं कि संगठन में दृढ़ता व एकरूपता आये। और इसके लिए वे रात-दिन प्रयत्नशील हैं।

★
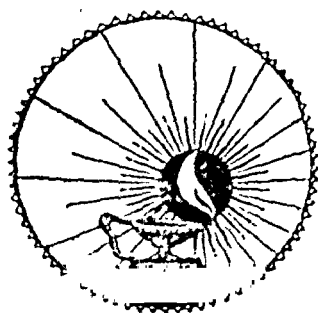
६
गोरवमय कृतित्व

स्पष्टतः झलकती है। उनके द्वारा किए गए कार्य इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

१. अनेकान्त का प्रचार :

काठियावाड एवं सौराष्ट्र में आप ने कानजी स्वामी के एकान्त अध्यात्मवाद का, व्यवहारशून्य निश्चयवाद का और जड़ पूजा का तर्क-प्रवण मस्तिष्क से दूषण बताकर जन-जन के मन में भगवान महावीर के अनेकान्त दर्शन, निश्चय-व्यवहार दृष्टि एवं गुणपूजा के प्रति श्रद्धा भाव जागृत किया। उन्होंने मिथ्यात्व की ओर से हटाकर सम्यक्त्व में स्थिर किया। आप के आगमिक एवं सैद्धान्तिक विचारों से सोनगढ़, राजकोट एवं सौराष्ट्र के अन्य सभी क्षेत्रों के श्रावक अत्यधिक प्रभावित हुए। इस में कोई अतिशयोक्ति नहीं है, कि आप गुजरात और सौराष्ट्र पर छा गए।

२. धर्मदास जैन-मित्र-मण्डल :

स्थानकवासी समाज का प्रारम्भ से क्रिया की ओर विशेष लक्ष्य रहा है, और जिस युग में स्थानकवासी समाज का उदय हुआ, उस युग में क्रिया-काण्ड की विशेष प्रतिष्ठा थी। इसलिए ज्ञान एवं स्वाध्याय की ओर जितना लक्ष्य देना चाहिए, नहीं दिया गया। उसी कमी को दूर करने के लिए आपने रतलाम में "धर्मदास जैन-मित्र-मंडल" को स्थापित करने की प्रेरणा दी, और वहाँ से साहित्य का प्रकाशन हुआ और हो रहा है।

३. जैन सिद्धान्त-शाला :

साधु-साध्वियों की शिक्षा की व्यवस्था की ओर भी आपका ध्यान गया। समाज में शिक्षा की कमी आपको अखरती थी। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका धार्मिक शिक्षण प्राप्त कर सकें, इसके लिए आपने "जैन सिद्धान्त-शाला" की स्थापना की, जिसमें अनेक साधु-

ध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं ने ज्ञान-साधना की और आज भी र रहे हैं।

४. श्री कृष्ण जैन-महिला कला-केन्द्र :

आज के युग में समाज में मध्यम श्रेणी की बहनों के लिए जीवन निर्वाह करना बहुत कठिन हो रहा है। वे अपने पैरों पर खड़ी न हो सकने के कारण बहुत ही कष्टप्रद जीवन व्यतीत करती हैं। उनकी दयनीय स्थिति को देखकर आपका कोमल हृदय करुणा से भर गया, और उनके जीवन को स्वावलम्बी बनाने के लिए आप ने "श्री कृष्ण जैन महिला कला-केन्द्र" का उपदेश दिया। आपके उपदेश का ही फल है कि अनेक बहनें अपने पैरों पर खड़ी हो सकी हैं।

५. श्री धर्मदास-कृष्ण-स्मृति जैन-भवन :

परम प्रतापी आचार्य प्रवर परम श्रद्धेय धर्मदास जी महाराज एवं अपने पूज्य-गुरुदेव किशनलाल जी महाराज की पावन-पुनीत-स्मृति को जन-जन के मन में सदा-सर्वदा जीवित रखने के लिए श्री धर्मदास जैन मित्र-मण्डल रतलाम ने और श्री जैन साहित्य समिति उज्जैन ने श्री मालवकेशरीजी महाराज की प्रेरणा से श्री धर्मदास-कृष्ण-स्मृति जैन-भवन' की स्थापना की और उसी का मधुर फल है, कि इन्दौर के राजमोहल्ला में स्मृति भवन बन कर तैयार हो गया। इसमें साधु-साध्वियां ठहरते हैं, चातुर्मास करते हैं, और श्रावक-श्राविकाएं धर्म-ध्यान करती हैं। इस के अतिरिक्त स्मृति-भवन में एक पुस्तकालय की भी व्यवस्था की गई है। जिसमें जैन-साहित्य एवं अन्य-साहित्य का भी अच्छा संग्रह है। पुस्तकालय को अच्छा एवं व्यवस्थित तथा सर्वोपयोगी बनाने में श्रद्धेय मालवकेशरी जी

महाराज का महत्वपूर्ण हाथ रहा। आपकी कृपा का ही सुफल है, कि वह साकार रूप ले सका।

६. आचारांग की विस्तृत व्याख्या :

आप वक्तृत्व कला में प्रवीण हैं और प्रवचनों की दृष्टि से ही आप समाज में प्रसिद्ध हैं। साहित्य के क्षेत्र में आप इतने प्रसिद्ध नहीं, पर आप ने इस क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। आप ने लेखनी कम चलाई है, पर जो कुछ लिखा है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आप ने आचारांग सूत्र का संपादन किया, और उस पर हिन्दी में विस्तृत विवेचन भी किया है। आचारांग अंग-साहित्य में सर्वप्रथम आगम है। उसमें आचार का दार्शनिक शैली में निरूपण किया गया है। सूत्र शैली में लिखे गए इस आगम के गूढ़ भावों को साधारण पाठक के लिए समझना कठिन है। आप ने उसका विस्तृत विवेचन करके भावों को समझने की कठिनाई का हल कर दिया। आपकी प्रस्तुत कृति साहित्य के क्षेत्र में नक्षत्र की तरह देदीप्यमान है। इसका महत्त्व आज भी है, और कल भी रहेगा।

आपने स्वाध्याय प्रेमी पाठकों के लिए दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, सुखविपाक आदि मूल आगमों का सम्पादन करके इन्हें सब के लिए सुगम बना दिया।

७. जाति-सुधार :

एक समय मालवकेशरीजी अपने पूज्य-गुरुदेव के साथ रतलाम विराज रहे थे, तब इन्दौर से श्री किसनजी नीमा और उनके छोटे भाई, रतलाम महाराज की सेवा में आए, और उन्होंने कहा—हमारी जाति-बिरादरी के लोग कट्टर वैष्णव हैं, और हम दोनों भाइयों के दो घर जैन-धर्म का परिपालन करते हैं। हमारी बिरादरी के लोगों का कहना है, कि तुम जैन-धर्म का परित्याग कर दो, अन्यथा हम

तुम्हें नीमा-समाज से बाहर निकाल देंगे। हम दोनों जैन-धर्म का परित्याग करने वाले नहीं हैं। यदि आप हमें जैन-समाज की किसी जाति में सम्मिलित कर दें, तो हमें जैन-धर्म का पालन करने में कठिनाई नहीं होगी।

महाराज ने पूछा—तुम कौन-सी जाति में मिलना चाहते हो ?

उन्होंने कहा—हम भटेवरा जाति में मिलना चाहते हैं।

महाराज ने कहा—अभी तुम जाओ। मैं इसका प्रयत्न करूंगा, तुम्हारी समस्या को हल करने का पूरा प्रयास करूँगा।

इसके बाद पूज्य-गुरुदेव एवं महाराज श्री खाचरोद, हातोद एवं बाद में इन्दौर पधारे, वहाँ के भटेवरा-समाज को बुलाकर उनके सामने यह समस्या रखी, और उन्हें समझाया, कि, नीमा जाति के दो घरों को मिलालें, तो वे निर्विघ्न धर्म का पालन कर सकेंगे, और तुम्हारी जाति में दो घर बढ़ेंगे। १५-२० दिन तक परिश्रम करने के बाद महाराज श्री को सफलता मिल गई। भटेवरा-समाज ने दोनों घरों को अपने में सम्मिलित करना स्वीकार कर लिया और यह बात सारे इन्दौर में फैल गई, और चर्चा का विषय भी बन गई।

एक दिन नीमा जाति के नगर सेठ ने महाराज श्री को अपनी दुकान पर बुलाया। सन्तों एवं श्रावकों के मन में सन्देह था, कि पता नहीं वहाँ कुछ हो जाए। इसलिए सबने इन्कार किया। फिर भी मालवकेशरीजी अकेले ही उसकी दुकान पर पधार गए। वहाँ नीमा जाति के सभी पहले से ही एकत्रित हो गए थे, और वे सब महाराज श्री की प्रतीक्षा कर रहे थे। आप के पहुंचने पर उन लोगों ने आप से कहा—आप नीमा जाति के लोगों को भटेवरा क्यों बना रहे हैं ?

मालवकेशरीजी ने कहा—मैं तो किसी को भटेवरा नहीं बना रहा हूं। आप ही उनको नीमा से भटेवरा बनने की प्रेरणा दे रहे हैं, और आपके कारण ही वे भटेवरा बनने जा रहे हैं।

सेठ ने पूछा—यह कैसे ? हमने तो उन्हें भटेवरा बनने के लिए नहीं कहा। फिर हमारी प्रेरणा आप कैसे बता रहे हैं ?

"सेठजी जरा शान्त-चित्त से सोचिए। आप उन्हें उनकी श्रद्धा के अनुरूप धर्म-साधना एवं धार्मिक क्रियाएँ नहीं करने देते। आप उन्हें सामायिक-संवर करने से रोकते हैं। इसी कारण वे विवश होकर भटेवरा-समाज में सम्मिलित हो रहे हैं।"

सेठ ने कहा हम किसी के धर्म-पालन में बाधक नहीं बनते हैं, वे अपनी रुचि के अनुसार धर्म का पालन कर सकते हैं।

मालवकेशरीजी ने कहा यदि आप लोगों के मन में इतनी उदार भावना है, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पर आप नीमा-समाज के सभी पंच आज शाम को ५ बजे तक मुझे लिखित रूप से पत्र दे दें, तो फिर जातीय परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया, और महाराज श्री अपने स्थानक पर आ गए। परन्तु उनकी ओर से कोई लिखित पत्र नहीं आया। इसलिए दूसरे दिन भटेवरा-समाज की ओर से बगीचे में जातीय भोजन बनाया गया, और धूमधाम से किसनजी नीमा एवं उनके भाई को अपने साथ भोजन करवा कर भटेवरा समाज में मिला लिया गया। इस कार्य में सर सेठ हुकमचन्द जी, और राज्य-भूषण सेठ कन्हैयालालजी का बहुत सहयोग रहा। इस प्रकार मालवकेशरी जी महाराज ने समाज के लिए एक महत्वपूर्ण कार्य का सूत्रपात किया।

८. मुस्लिम बहिन को जैन बनाया :

एक बार आप सब सन्त आमलनेर जा रहे थे। रास्ते में सिरपुर पधारे। वहाँ सेंधवा से लखमीचन्द जी जैन आए। उन्होंने मालव

केशरीजी से पूछा—इन्दौर में मैं जिस कालेज में पढ़ता था, उसी में एक मुस्लिम लड़की भी पढ़ती थी। हम दोनों विवाह करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में जैन धर्म क्या कहता है, और आप क्या आदेश देते हैं?

जैन-धर्म त्याग का आदेश देता है, भोग का नहीं। जहाँ तक जातिवाद का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में जैन-धर्म जन्म से नहीं, कर्म से जाति मानता है। वह जात-पांत एवं छूआछूत में विश्वास नहीं रखता। मानव के नाते सब मनुष्य एक हैं. प्रत्येक मनुष्य को विकास करने का अधिकार है। परन्तु विवाह के लिए हम सन्त आज्ञा नहीं दे सकते। इसके लिए आप सन्त विनोबा भावे से सम्मति ले सकते हैं। वे वहां से विनोबा जी के पास गए, और उन्हें उनसे परामर्श करने पर विवाह करने की सम्मति मिल गई, और बड़े-बड़े राष्ट्र नेताओं की उपस्थिति में उनका फातिमा बहिन के साथ विवाह हो

फिर आप नाम क्यों बदलवाते हैं। भविष्य में लोगों को यह जानने को मिलेगा, कि फातिमा में भी जैनत्व था। फिर वे दोनों सेंधवा चले गए।

४-५ वर्ष के बाद मालवकेशरी जी अपने पूज्य गुरुदेव के साथ सेंधवा पधारे। प्रातःकाल के समय लगभग चार साल की लड़की "अरिहन्त जय जय सिद्ध प्रभु जय जय' आदि प्रार्थना बोल रही थी। बड़े मधुर स्वर से मस्ती के साथ गा रही थी। मालवकेशरी जी ने एक भाई से पूछा—यह किसकी लड़की है? उसने बताया—यह फातिमा की लड़की है और समाज ने इस के घर को जाति से निकालकर बाहर कर दिया है।

महाराज श्री ने १५ दिन तक व्याख्यान में एवं दोपहर को सेंधवा के लोगों को समझाया कि जैन-धर्म जात-पांत को नहीं मानता है, वह कर्म के अनुरूप व्यक्ति के विकास को मानता है। यदि यह मुस्लिम संस्कार में जन्म लेती और बड़ी होती, तो 'बिसमिल्ला-उल-रहेमान रहीम' कहकर मुर्गे आदि जानवरों का वध करती, मांस खाती। परन्तु जैन सन्तों एवं सत्संग के कारण इसमें जैन-धर्म के संस्कार आए, और उसी संस्कार में इसका पालन-पोषण हो रहा है। और इस बच्ची के संस्कारों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि इसकी माता फातिमा के संस्कार कितने उज्ज्वल बन गए हैं। अतः आप लोगों को इनके साथ घृणा का व्यवहार नहीं करना चाहिए। मालव-केशरी जी के समझाने से समाज ने इस घर को पुनः समाज में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार आपने अनेक जातीय समस्याओं एवं सामाजिक गुत्थियों को सुलझाया है। वस्तुतः जोड़ने के काम में आप बहुत कुशल हैं। आपकी वाणी में वह जादू है, कि आप जो कुछ कह देते हैं, कोई भी पक्ष उस बात को इनकार नहीं करता।

७ सन्त परिवार

मालवकेशरीजी महाराज का अपना सन्त परिवार भी है। उनके गुरु भ्राता हैं, गुरु भ्राताओं के शिष्य, और उनके अपने भी शिष्य हैं। उन में कुछ प्रवचनकार हैं, कुछ विचारक हैं, कुछ लेखक हैं, कुछ सेवाभावी हैं, और कुछ तपस्वी हैं। आप के परिवार में सब तरह के सन्त हैं।

१. सूर्य मुनिजी :

सूर्य मुनिजी महाराज श्रमण-संघ के प्रवर्तक हैं। आप आगमों के अच्छे ज्ञाता और प्रवक्ता हैं। आपकी प्रवचन शैली बहुत सुन्दर है। आप का स्वभाव मधुर है और मिलनसार प्रकृति के सन्त हैं। आप के शिष्य उमेश मुनिजी 'अणु' बहुत अच्छे लेखक हैं। आपके अन्य दो शिष्य सुरेन्द्र मुनिजी रूपेन्द्रमुनिजी भी शान्तस्वभावी और सेवा-निष्ठ सन्त हैं, और सदा अध्ययन में संलग्न रहते हैं।

२. नगीन मुनिजी :

नगीन मुनिजी आपके विद्वान सरल एवं शान्त स्वभावी शिष्य थे। आपकी बड़ी बहन श्री सुन्दर कुंवर जी ने आपसे पूर्व ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

आपको आगम के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और अध्ययन की रुचि थी। इसीलिए आपने सुदृढ़ अध्यवसाय के साथ प्राकृत एवं संस्कृत का अध्ययन किया। आप प्राकृत में पद्य-रचना भी कर लेते थे एवं प्रवचन भी। प्राकृत भाषा के अध्ययन के लिए आप भाई बहनों को बहुत प्रेरणाएं देते रहते। बी.ए. एम.ए. के अनेक विद्यार्थी आपके पास प्राकृत का अभ्यास करने एवं कठिन स्थलों को पूछने के लिए आते। आप उन्हें बड़े प्रेम एवं स्नेह पूर्वक समाधान देते।

आपकी प्रवचन शैली भी बहुत रोचक एवं मधुर थी। हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषाओं में आप धारा प्रवाह बोल लेते। आपके प्रवचन प्रायः आगमों पर ही होते। समाज में सर्वत्र आपकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि थी।

श्री नगीन मुनिजी की हस्त-लिपि भी बहुत सुन्दर एवं शुद्ध थी। आपने अनेक आगमों की प्रतियाँ लिखी है। लेखन को आप मानसिक एकाग्रता का प्रमुख साधन मानते थे। आपकी स्मृति में 'पं० श्री नगीन चन्द्र जी म० स्मारक सुकृत ट्रस्ट' भी स्थापित किया हुआ है जो विविध प्रकार की सेवाएं कर रहा है।

३. विनय मुनिजी :

विनय मुनिजी आप के गुरु भाई हैं। शान्त, सौम्य और सरल स्वभाव के सन्त हैं। हिन्दी और गुजराती भाषा पर आप का अच्छा अधिकार है। आपकी प्रवचन शैली बहुत सुन्दर है। आप हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में प्रवचन करते हैं। गुजरात, सौराष्ट्र एवं

बम्बई की जनता पर आप का अच्छा प्रभाव है। आपके प्रवचनों की हिन्दी, गुजराती एवं मराठी भाषाओं में ४-५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। शान्ति मुनि और प्रमोद मुनि आप के दो शिष्य हैं। दोनों सेवाभावी, और अध्ययनशील सन्त हैं। प्रमोद मुनिजी से समाज को बहुत आशाएँ हैं।

४. केवल मुनिजी :

स्व. शतावधानी केवलमुनिजी आपके सबसे बड़े शिष्य थे। संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा पर उनका अधिकार था। उनकी प्रवचन शैली बहुत गजब की थी। मालवे की जनता पर उनका अच्छा प्रभाव था। वे अवधान की कला में प्रवीण थे। बड़ी-बड़ी सभाओं में सौ तक अवधान कर चुके थे। उनकी स्मरण शक्ति के चमत्कार को देखकर बड़े-बड़े विद्वान भी आश्चर्य चकित रह जाते थे।

ज्ञान के साथ आप में सेवा का भी बहुत बड़ा गुण था। अपने पूज्य गुरुदेव की सेवा-भक्ति में वे सदा संलग्न रहे हैं। आप योग्यतम गुरु के योग्यतम शिष्य थे। मालवकेशरीजी का भी उन पर अपरिमित स्नेह था। परन्तु दुर्भाग्य से ट्रेन से दुर्घटना हो जाने के कारण वे छोटी उम्र में ही दिवंगत हो गए। उनके निधन का समाचार सुन कर आपके हृदय को बहुत बड़ा धक्का लगा।

५. सागर मुनिजी :

सागर मुनिजी ज्ञान, सेवा और साधना में सदा संलग्न रहते हैं। स्वभाव के बहुत मधुर एवं मिलनसार सन्त हैं। आप की प्रवचन शैली भी बहुत अच्छी है।

६. मगन मुनिजी :

मगन मुनिजी सीधे-सादे और सरल स्वभाव के सन्त हैं। आप

को व्याख्यान देने का वहुत शौक है। आप घण्टों व्याख्यान देने पर भी थकान की अनुभूति नहीं करते।

७. हुकम मुनिजी :

हुकम मुनिजी अच्छे पढ़े-लिखे सन्त हैं। आपकी व्याख्यान शैली सुन्दर है। इस समय आप गुजरात में धर्मप्रचार कर रहे हैं, और आप मधुर एवं मिलनसार प्रकृति के हैं।

इस प्रकार मालव केशरीजी महाराज का सन्त परिवार काफी अच्छा है। आगम अभ्यासी, साहित्य के ज्ञाता, व्याख्याता, सेवाभावी एवं तपस्वी सभी तरह के संत आप के पास हैं और अन्य परंपराओं के सन्त भी आप की ओर आकर्षित रहते हैं। आप में साम्प्रदायिक भेद वुद्धि नहीं है, इसलिए अन्य परंपराओं के सन्तों की सेवा का लाभ भी आपको मिलता रहता है। यह आप के मधुर स्वभाव की विशेषता है, कि जो आप की सेवा में आता है, वह आपका वन जाता है।

★

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, नासिक
की ओर से दिया गया

★ सन्मानपत्र ★

भक्ति भाव की सरस भेंट यह, विनय भाव से अर्पित है।
जो कुछ है सौभाग्य करों में, आदर सहित समर्पित है।।

परमश्रद्धेय पंडित–रत्न, शास्त्र-विशारद, मालवकेशरी, 'महाराष्ट्र-विभूषण', वालब्रह्मचारी—

१००८ श्री सौभाग्यमलजी महाराज के पवित्र कर कमलों में

नासिक जैसे पुनीत तीर्थ-क्षेत्र स्थान में वर्षावास निमित्त ज्ञानी, तपस्वी छः शिष्य-गण समेत अधिष्ठित होकर ज्ञानदान का अविरत स्रोत वहाकर मानव समाज के मुक्ति-साधना-पथ को ज्योतिर्मय वनाकर, विवेक दृष्टि प्रदान करने का महान् कार्य करके यहाँ के संघ को अतीव ऋणी कर रखा है।

आपश्री की जन्म भूमि सरवाणिया, वैराग्य भूमि खाचरोद, कर्म भूमि अखिल भारत यह आपश्री के अहिंसा, संयम, तप-त्याग आदि की आराधना का सत्परिणाम है।

शैक्षणिक, धार्मिक क्षेत्र में शरीर, मन, वाणी द्वारा आप का सेवा-कार्य सर्व-श्रेष्ठ है। और आपने मालवा की ही नहीं, प्रत्युत तमाम भारतवर्ष की जनता का हृदय लोह-चुम्बक के समान आकर्षित करके जैन समाज को ऋणी कर रखा है। लोकप्रिय महात्मा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह श्रमण संघ के लिए शोभास्पद है।

परम-पूज्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि भारत के अग्रगण्य नेताओं का संपर्क राजनैतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण एवं उपयुक्त हुआ, यह जैन संघ के लिए अभिमानास्पद है।

महाराष्ट्र प्रांतीय जनता के प्रति आपका वत्सल-भाव, करुणा-भाव और प्रेम-भाव अपूर्व है। आप ने अनेक क्षेत्र, व संस्थाओं का निर्माण करके, मानव समाज की सेवा कर के महाराष्ट्रीय जनता को सदैव के लिए ऋणी कर रखा है। अतः 'महाराष्ट्र विभूषण' इस पद से आप श्री का गौरव करते हुए हमारे संघ को अति हर्ष और आनन्द होता है।

श्रमण-संघ की एकता, एकात्मता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। आप अवर्गवाद के उपासक होने से आपने श्रमण-संघ के संघटन कार्य में अतुलनीय श्रम किया है। यह आप श्री के सद्विचार, और सद्-आचार का सुपरिणाम है।

आप का निकटतम समागम मानव मात्र के लिए अत्यंत कल्याण-कारी होना स्वाभाविक है। यह हमारे लिए सौभाग्य का लक्षण है।

अन्त में देवाधिदेव श्री वीर प्रभु से अंजलिवद्ध होकर विनम्र भाव से प्रार्थना करते हैं, कि आप का कल्याण हो, आप की आत्म-साधना सफल हो, आप को दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त हो, आप श्री के कपाय-विजय साधना-पथ में जो शूल हों, वे फूल बनें, तथा

आप वीतरागपद के अधिकारी बनने में अद्‌भुत शक्ति, युक्ति एवं बुद्धि को प्राप्त करें।

तपस्वी मुनि श्री विमल मुनिजी के ३१ तथा श्री कमल मुनिजी के ४१ उपवास की समाप्ति के उपलक्ष्य में आप श्री का, ऐसे सन्त महात्मा का सन्मान-पत्र द्वारा गौरव करते हुए हमारा हृदय आनन्द एवं हर्ष से विकसित हो रहा है। आप श्री की सेवा में जो कुछ भी अविनय एवं त्रुटि हुई हो, तो यहाँ का संघ क्षमाप्रार्थी है। इति शुभम्।

नासिक शहर
सोमवार, ता. ६-६-६८

आप के सेवाभावी
जैन श्री संघ, नासिक

जैन धर्म इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है कि लोक में स्थित समस्त आत्माएँ एक-सी हैं। आत्म-स्वरूप की दृष्टि से उन सब में समानता है। भले ही कर्म-बन्धन एवं कर्म-जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त सिद्ध भगवान की विशुद्ध आत्म ज्योति हो या निगोद के अनन्त अन्धकार में भटकने वाली धुँधली-सी आत्म ज्योति हो, दोनों के आत्म-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा की जो अनन्त शक्ति सिद्धों में है, वही अनन्त शक्ति संसार-सागर में परि-भ्रमण करनेवाली आत्माओं में भी अन्तर्निहित है। लोक के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक रहनेवाली कोई भी आत्मा शक्तिहीन नहीं है। समस्त आत्माएँ अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, अनन्त गुणों से युक्त हैं। आन्तरिक दृष्टि से देखने पर उनमें कहीं भी भेद की रेखा परि-लक्षित नहीं होती।

यदि सब आत्माओं में समानता है, एकरूपता है, तब उनमें विषमता एवं अनेकरूपता क्यों दिखाई देती है ? सिद्धों की आत्म-ज्योति में और संसार में स्थित व्यक्तियों की आत्म-ज्योति में इतना भेद क्यों नजर आ रहा है ? यदि थोड़ी देर के लिए सिद्धों की बात एक ओर रख दें तब भी सभी संसारी आत्माओं का विकास एक-सा क्यों नहीं परिलक्षित होता है ? मानव-मानव के जीवन विकास में एक समानता नहीं है। मनुष्य और पशु के जीवन में अन्तर है। पशु और पक्षी के जीवन में भेद की रेखाएँ स्पष्ट नजर आ रही हैं। इसी प्रकार अन्य जीवों में भी जीवन विकास एक-सा दिखाई नहीं देता। जिधर देखो, उधर अभेद नहीं, भेद ही नजर आता है। कुछ व्यक्ति विकास के चरम शिखर को पदाक्रान्त करते दिखाई दे रहे हैं, तो कुछ व्यक्ति पतन के महागर्त में रौरव की भयंकर सड़ांध में सड़ते हुए परिलक्षित हो रहे हैं। जीवन में इतना अन्तर क्यों ? इस भेद-रेखा का मूल कारण क्या है ? यह एक प्रश्न है।

यह प्रश्न आज के युग का ही नहीं, युगान्तर से चला आ रहा है। जैन परम्परा के महान् चिन्तकों ने, विचारकों ने इस पर गहराई से सोचा-विचारा है और अपने चिन्तन के द्वारा भेद के मूल कारण को खोज निकाला है। अपने आत्म-साक्षात्कार के द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि आन्तरिक दृष्टि से आत्मा-आत्मा के मध्य में कोई अन्तर नहीं है। भेद अन्तर में, आत्म स्वरूप में नहीं, बाहर में है। और उसका मूल कारण कर्म है। आत्म-ज्योति सबकी एक सी है, परन्तु कर्म आवरण के कारण उसके जीवन विकास में भिन्नता परिलक्षित होती है।

एक राजस्थानी कवि ने सीधी और सरल राजस्थानी भाषा में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"जीव-संसारी आत्मा

सिद्धों के तुल्य है। आत्मा और परमात्मा में एकरूपता है। जीव ही सिद्ध बनता है। कर्म के आवरण को दूर करते ही आत्मा परमात्मा के स्वरूप को प्रकट कर लेता है। आत्मा और परमात्मा में जो बाह्य अन्तर दिखाई देता है, वह यह है—जीव-संसारी आत्मा, कर्म-मल से युक्त है, और परमात्मा कर्म-मल से रहित है। इसके अतिरिक्त उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है –

"सिद्धों जैसो जीव है. जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म-मैल का अन्तरा, बुझे विरला कोय॥

आत्मा और परमात्मा में जो अन्तर दिखाई देता है, वह कर्म के आवरण और निरावरण का है। कर्म के कारण ही हम मनुष्य को मनुष्य कहते हैं, ईश्वर नहीं कहते। परन्तु यथार्थ में वह ईश्वरत्व से शून्य नहीं है। यदि उसमें ईश्वरत्व शक्ति, परमात्म ज्योति हो ही नहीं, तो वह कदापि आत्मा से परमात्मा नहीं बन सकता। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है, भले ही सुप्त दशा में क्यों न हो ? है, अवश्य है।

"आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं है।
लेकिन खुदा के नूर से, आदम जुदा नहीं है॥"

इन्सान और खुदा में क्या अन्तर है, इसे बताते हुए एक शायर ने बहुत सुन्दर बात कही है—"जब मनुष्य अपने आपको समझ लेता है, जान लेता है, तब वह खुदा बन जाता है। और जब वह स्वयं को ही पहचानने का प्रयत्न नहीं करता तब वह खुदा से जुदा पड़ जाता है दूर हो जाता है—

तू, तू को जाने तो खुदा—ही खुदा है।
तू, तू को न जाने तो जुदा—ही जुदा है॥"

इससे स्पष्ट है कि मूल में कोई भेद नहीं है। भेद कर्म-जन्य है। व्यक्ति के द्वारा कृत कर्म ही व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य में भेद-रेखा

नजर नहीं आयेगा, परन्तु सभी अवस्थाओं में सूर्य का अस्तित्व बना ही रहेगा और वह इन सब आवरणों से भिन्न दृष्टिगोचर होगा। ये आवरण सूर्य के प्रकाश को एक सीमा तक रोक सकते हैं, पृथ्वी पर आनेवाले किरणों के तेज को मन्द, मन्दतर और मन्दतम कर सकते हैं, परन्तु उसके अस्तित्व को मिटा नहीं सकते, और न उसके आलोक को अन्धकार में ही बदल सकते हैं, यही स्थिति कर्म-आवरण की है।

कर्म से आवृत होने पर भी सूर्य की तरह आत्मा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, और कर्म आत्मा के संपर्क में आने पर भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करते। दोनों द्रव्य एक-दूसरे के साथ रहने पर भी अपने-अपने स्वरूप में परिणत होते हैं।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है—संसारी आत्मा आज से नहीं, अनादि काल से कर्मों से आवद्ध है। जैसे खान में रहा हुआ स्वर्ण मिट्टी से संयुक्त रहता है, उसी प्रकार आत्मा कर्म-रज से युक्त है। जब तक आत्मा संसार में रहता है, तब तक वह अपने आवद्ध कर्म के फल को भोगकर ही उससे छुटकारा पाता है। परन्तु परिणामों में विशुद्धता नहीं होने के कारण उसी क्षण नए कर्म का वन्ध कर लेता है। इसी प्रकार सरिता के प्रवाह की तरह कर्म वर्गणा के पुद्गलों का प्रवाह भी सतत प्रवहमान रहता है, जब तक कि आत्मा अपनी साधना के द्वारा उस प्रवाह को आगे बढ़ने से रोक नहीं देता, और उसके स्रोत को जड़-मूल से समाप्त नहीं कर देता है।

यह सत्य है कि कर्म का वन्ध आत्म-परिणामों के अनुरूप होता है। मन, वचन और काया योग है। जब योगों में स्पन्दन, हलन-चलन एवं गति-प्रगति आदि प्रवृत्ति होती है, तब कर्मवर्गणा के पुद्गल आते हैं, परन्तु जब तक योग के साथ परिणामों का सम्बन्ध नहीं जुड़ता, तब तक कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का वन्ध नहीं होता।

योग कर्मवर्गणा के पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं, क्रिया से कर्म आते अवश्य हैं, परन्तु उनको बान्धने की शक्ति, योग एवं क्रिया में नहीं, परिणामों में है। इसलिए स्थानांग सूत्र में स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है "**परिणामे बंध**"—वन्ध परिणामों से ही होता है।

परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। राग-द्वेष से युक्त परिणाम शुभ और अशुभ होते हैं, और जिन परिणामों में राग-द्वेष का पुट नहीं होता, वीतराग भाव रहते हैं, वे परिणाम शुद्ध होते हैं। परिणामों से संबद्ध होने के कारण योग भी शुभ, अशुभ और शुद्ध माने गए हैं, शुभ और अशुभ परिणामों से युक्त योग से कर्म-बन्ध होता है, और जब परिणामों की धारा शुद्ध होती है, तब वन्ध नहीं होता, केवल निर्जरा होती है। क्योंकि परिणामों की विशुद्धता आत्मा की स्वभाव-दशा है और स्वभाव-दशा में कदापि बन्ध नहीं होता।

आगमकारों का वज्र आघोष रहा है—यदि आत्मा अपनी शुद्ध परिणति में परिणत होता है, अपने स्वरूप में रमण करता है, तो वह कदापि कर्म का वन्ध नहीं करता, शुद्ध भाव में वन्ध का अभाव रहता है। यदि शुद्ध स्वभाव में रमण करते हुए बन्ध हो, तो फिर मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। मुक्त आत्मा भी कर्मों से बन्ध जाएगा। क्योंकि मुक्ति में पुद्गल परमाणु है। परन्तु वहाँ आत्मा स्वभाव में रहता है, इसलिए वह बन्ध नहीं करता।

आत्मा की तरह पुद्गल की भी स्वाभाविक और वैभाविक दो स्थितियाँ हैं। परमाणु पद्गल का शुद्ध स्वरूप है, और परमाणुओं के मिलन से निर्मित स्कध पुद्गल का अशुद्ध रूप है। वह स्वभाव स्थिति में नहीं, विभाव में बदल जाता है। जब तक पुद्गल अपने शुद्ध-

है। मैं इस समय कर्म-प्रकृतियों एवं इन के भेदोपभेदों की चर्चा करना उचित नहीं समझता। अभी तो मैं आप के सामने आठ कर्मों की कुछ चर्चा करूंगा।

कर्म-ग्रन्थों (Kerma-philosophy) एवं आगमसाहित्य में आत्मा का लक्षण उपयोग बताया है-"उवओगो लक्खणं" उपयोग में ज्ञान और दर्शन दोनों का समावेश हो जाता है। आत्मा ज्ञानमय है, दर्शनमय है। कभी भी ऐसा समय नहीं आता कि वह ज्ञान एवं दर्शन से शून्य हो जाए।

आत्मा सदा-सर्वदा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तशक्ति से संपन्न है। प्रत्येक आत्मा में अनन्तचतुष्टय विद्यमान रहता है। भले ही वैभाविक परिणति के कारण आत्मा पतन के कितने ही गहरे गर्त में क्यों न गिर जाए, उसकी चेतना शक्ति कदापि विलुप्त नहीं होती। निगोद के गहन अंधकार में स्थित आत्मा में भी ज्ञान, दर्शन, सुख एवं शक्ति का अजस्र स्रोत बहता रहता है। भले ही आवरण की सघनता के कारण उक्त गुणों का विकास स्वल्प ही दिखाई दे, परन्तु इनका सर्वथा नाश नहीं होता। किसी भी कर्म में इतनी ताकत नहीं है, कि वह आत्मा की चेतना शक्ति एवं ज्ञानादि गुणों को संपूर्ण रूपेण आवृत कर ले, आत्मा को चेतनाहीन बना दे। कर्म केवल आत्मा की शक्ति को धूमिल कर सकता है, उसके विकास को, एक सीमा तक रोक सकता है।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति आत्मा के मूल गुण हैं। इस अनन्त चतुष्टय को आवृत करने वाले कर्म को घातिक कर्म कहते हैं। ये कर्म मूल आत्मा के मूल गुणों के घातक हैं। जब तक आत्मा के साथ इन कर्मों का सम्बन्ध रहता है, तब तक अनन्त चतुष्टय पूर्ण रूपेण प्रकट नहीं हो सकता, तब तक आत्म-ज्योति का धुंधलापन भी पूर्णतः परिसमाप्त नहीं होता।

घातिक कर्मों के साथ-साथ अन्य कर्म भी आत्मा को घेरे रहते हैं। परन्तु ये कर्म आत्मा के मूल स्वभाव का घात नहीं करते। आत्म-शक्ति के विकास के अवरोधक नहीं बनते। इसलिए उन कर्मों को आगमकार अघातिक कर्म कहते हैं। अघातिक कर्म जब तक आत्मा संसार-सागर से पार नहीं हो जाती, तब तक उससे सम्बद्ध रहते हैं। परन्तु उसके पूर्ण विकसित होने में किसी भी तरह की रुकावट नहीं डालते।

मैंने आप को बताया कि कर्म दो भागों में विभक्त है–१ घातिक कर्म २ अघातिक कर्म। १ ज्ञानावरण कर्म, २ दर्शनावरण कर्म, ३ मोहनीय कर्म, ४ अन्तराय कर्म, घातिक हैं। ये चारों मूल गुणों के घातक हैं। १ वेदनीय कर्म, २ आयुकर्म, ३ नामकर्म ४ गोत्र कर्म, ये चार अघातिक कर्म हैं।

कर्मों के क्रम को रखते समय घातिक-अघातिक के क्रम से उन्हें नहीं रखा। उसके पीछे मेरी दृष्टि से एक ही कारण रहा है—अपने क्रम से आत्म-गुणों को आवृत करने की शक्ति को बताना। इस क्रम के द्वारा यही बताया गया है, कि कर्म अपना प्रभाव किस प्रकार डालते हैं।

ज्ञान और दर्शन सहभावि हैं। दोनों सदा-सर्वदा आत्मा के साथ रहते हैं। हमें दर्शन के द्वारा वस्तु के सामान्य स्वरूप का बोध होता है, और ज्ञान के माध्यम से उसकी विशेषता का परिज्ञान होता है। यह नितान्त सत्य है कि हमें स्व और पर के स्वरूप का बोध ज्ञान और दर्शन से ही होता है। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति न तो अपनी स्थिति को समझ सकता है, और न अन्य को जान सकता है। व्यक्ति जैसे सूर्य के प्रखर प्रकाश में सब कुछ देख सकता है, जान सकता है, वैसे ही वह ज्ञान के उजाले में अपने, और पर द्रव्यों के स्वरूप का सही मूल्यांकन कर सकता हैं।

ज्ञान और दर्शन के अनन्त आलोक में व्यक्ति लोकालोक में स्थित सभी द्रव्यों एवं उनकी त्रैकालिक पर्यायों को देख सकता है। उसमें सब कुछ जानने की शक्ति है। परन्तु ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म आत्मा की निरावरण अनन्त ज्योति को पूर्णरूपेण प्रकट नहीं होने देता। जब तक दोनों कर्मों का अस्तित्व बना रहता है, तब तक देखने और जानने की शक्ति धूमिल बनी रहती है।

संसार में स्थित सभी व्यक्तियों में ज्ञान गुण की सत्ता एक-सी है। फिर भी हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष रूप में हमें सब के ज्ञानविकास में एकरूपता नहीं, अन्तर परिलक्षित होता है। एक व्यक्ति पूंजीपति घर में जन्म लेता है। वहाँ उसे सब तरह के साधन सुलभ हैं। वह जितना चाहे अध्ययन कर सकता है, अक्षरी ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। उसके लिए अध्यापक घर पर पढ़ाने आता है, पुस्तकों की भी कमी नहीं है, अन्य साधन भी उसे प्राप्त हैं। फिर भी वह अध्ययन नहीं कर पाता। अपनी बुद्धि के द्वार उद्घाटित नहीं कर सकता। बुद्धि परीक्षा में असफलता ही उसके हाथ लगती है।

हम यह भी देखते हैं, एक लड़का साधारण घर में अवतरित होता है। उसे पढ़ने के लिए, अपनी बुद्धि को विकसित करने के लिए पूरे साधन भी सुलभ नहीं हैं। वह पूरी पुस्तकें भी नहीं खरीद सकता। पाठशाला जाते समय उसे अपने घर के काम में भी हाथ बँटाना पड़ता है। पुस्तकों की कमी को इधर-उधर से मांगकर या पुस्तकालयों से लाकर पूरी करता है। साधनों की कमी होने पर भी उसकी बुद्धि एवं तर्क शक्ति का विकास रुकता नहीं, ज्ञान की अजस्र धारा बहती ही रहती है। वह प्रत्येक परीक्षा में उत्तीर्ण ही नहीं होता, प्रत्युत प्रथम श्रेणी में भी प्रथम स्थान को प्राप्त करता है।

दोनों के जीवन में आकाश-पाताल जितना अन्तर क्यों है? एक

को सब साधन सहज ही उपलब्ध हैं, फिर भी वह शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ जाता है, आगे कदम नहीं बढ़ा पाता है। और दूसरे के पास साधनों की सुलभता न होने पर भी वह ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ जाता है। इसका रहस्य इतना ही है–प्रथम छात्र का ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम कम था, और दूसरे का क्षयोपशम अधिक था। ज्ञानावरण कर्म के आवरण के क्षयोपशम की तरतमता के अनुरूप ही व्यक्ति के जीवन में ज्ञान-ज्योति विकसित होती हुई दिखाई देती है। ज्ञान और दर्शनमय-आत्मा का स्वरूप है और उस स्वरूप को आवृत करने वाले कर्म को ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहा है। इसी दृष्टि से आगमकारों ने उनको प्रथम स्थान दिया है।

व्यक्ति के जीवन के कण-कण में ज्ञान परिव्याप्त है। और ज्ञान के माध्यम से ही व्यक्ति के सुख-दुःख का संवेदन होता है। आनन्द और वेदना की अनुभूति होती है। परन्तु जब एक व्यक्ति प्रतिमा की पूजा करता है, उसे पुष्पों का हार पहनाता है और दूसरा हथौड़े का या अन्य शस्त्र का प्रहार करता है। न तो पूजा के समय मूर्ति को सुख का संवेदन होता है और न प्रहार के समय प्रतिमा दुःख के आँसू ही बहाती है। क्योंकि वह जड़ है, उसमें ज्ञान चेतना का अभाव है। ज्ञानाभाव के कारण प्रतिमा न तो अनुकूल संयोग मिलने पर हर्ष विभोर होती है, और न प्रतिकूल प्रसंग आने पर संवेदना की अनुभूति करके दुःखी होती है। वेदना की अनुभूति वहीं होती है, जिस जीवन में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित रहती है। वह संवेदन सुख रूप हो, या दुःख रूप उसका अनुभव ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बाद वेदनीय कर्म को स्थान दिया है। इस कर्म के उदय से व्यक्ति सुख-दुःख का वेदन करता है। शुभ कर्म के

उदय से सुख की प्रतीति होती है, और अशुभ कर्म का उदय होने पर दुःख का अनुभव होता है। सुख-दुःख दोनों कर्म जन्य है।

वेदनीय कर्म के पश्चात् मोह कर्म का नम्बर आता है। महान् विचारकों ने मोह कर्म को सब कर्मों का राजा कहा है। मोह कर्म का क्षय करते ही शेष तीन घातिक कर्मों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय हो ही जाता है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है, कि मोह कर्म को सर्वप्रथम न रखकर चौथा स्थान क्यों दिया गया ?

यह सत्य है कि मोह कर्म सबसे प्रबल है। इसको क्षय करना आसान नहीं है। फिर भी इसे पहला स्थान इसलिए नहीं मिला कि मोह, आसक्ति, नम्रता एवं कषायभाव सुख:दुख के साधन रूप पदार्थों एवं परिस्थितियों पर होता है। जब हमारी ज्ञान पर्याय अशुद्ध होती है, हम बाह्य पदार्थों में ही अपनत्व भाव समझने लगते हैं, तब उन वस्तुओं में हमारी आसक्ति बढ़ती है, ममता जागृत होती है और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का उदय होता है। और जब तक ज्ञान और दर्शन पर्याय में शुद्धता नहीं आती, तब तक व्यक्ति न तो स्व-स्वरूप को समझ सकता है और न सुख-दुःख के साधन रूप पदार्थों की आसक्ति का परित्याग ही कर सकता है ! इसलिए मोह कर्म को चतुर्थ स्थान दिया है।

मोह के उदय से परिणामों में राग-द्वेष रहता है। शुभ और अशुभ राग-द्वेष की तीव्रता एवं मन्दता के अनुरूप ही किसी भी कर्म या किसी भी गति का आयुष्य बन्धता है। और शुभ एवं अशुभ परिणामों के अनुसार ही शुभाशुभ नाम और शुभाशुभ गोत्र कर्म का बन्ध होता है। इसलिए मोह कर्म के अनन्तर आयु, नाम और गोत्र को रखा है।

मोह के उदय से अनुकूल पदार्थों पर राग और प्रतिकूल पदार्थों पर द्वेष आता है और व्यक्ति दूसरों के मार्ग में रोड़े अटकाकर

दूसरों के सुखों में, हितों में बाधा उपस्थित करके अपने स्वार्थ को साधने का प्रयत्न करता है। इसका परिणाम यह होता है, कि उसकी शक्ति का विकास रुक जाता है। दूसरों के कार्य में विघ्न उत्पन्न करने वाला अन्तराय कर्म के उदय से सुख-साधनों को पा नहीं सकता। अन्तराय कर्म भी मोह से संबद्ध होने के कारण सब से अन्त में रखा गया है।

कर्म फल :

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि व्यक्ति जो करता है, उसका फल अवश्य मिलता है। हम फल चाहे या न चाहे यह बात अलग है, परन्तु कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होती, जो अपना फल न दे। व्यक्ति कर्म करने में स्वतंत्र है, वह चाहे तो उससे बच भी सकता है, परन्तु कर्म का बन्ध करने के बाद यह सम्भव नहीं है कि वह अपना फल न दे। यह बात अलग है कि उसका फल तुरन्त मिले या कुछ समय के बाद। ऐसा भी हो सकता है कि इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म-जन्मांतरों में मिले, परन्तु मिलेगा अवश्य।

पाश्चात्य विचारक कोल्टन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है– 'अभाग्य से हमारा धन, नीचता से हमारा यश, मुसीबत से हमारा जोश, रोग से हमारा स्वास्थ्य, मृत्यु से हमारे मित्र हम से छीने जा सकते हैं, किन्तु हमारे कर्म मृत्यु के बाद भी हमारा पीछा करेंगे—

Our riches may be taken away by the fortune, our reputation by malice, our spirits by calamity, our health by disease, our friends by death, *our actions must follow us beyond the grave.*

तथागत बुद्ध ने मज्झिमनिकाय में कहा है, व्यक्ति जो कर्म करता है, आगामी जन्म में उसे उसका फल मिलता ही है—

"यं करोति, तेन उप्पज्जति ।"

यह सव मानते हैं कि व्यक्ति अच्छा या बुरा जैसा कर्म करता है, उसे उसका अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है, परन्तु प्रश्न यह है कि कर्म फल कौन देता है ? क्या कर्म में स्वयं फल देने की शक्ति है ? या कोई अदृश्य शक्ति कर्म का फल देती है ?

ईश्वर को कर्ता मानने वाले सभी विचारकों का कहना है कि ईश्वर कर्म का फल देता है। इस्लाम धर्म की यह मान्यता है कि कयामत के दिन अल्लाह सव की किस्मत का फैसला करता है। ईसाइयों का कथन है कि सव के कर्मों का फैसला God (ईश्वर) करता है। इन सव का यह मानना है कि जो व्यक्ति ईश्वर की भक्ति करता है, अल्लाह की इवादत करता है, God से प्रार्थना करता है, ईश्वर, अल्लाह या God उसके दोपों को, अपराधों को, पापों को, भूलों को क्षमा कर देता है।

परन्तु यह मान्यता अनेक दोपों से युक्त है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है। परन्तु किसी को न तो कर्म करने की प्रेरणा देता है और न उसके कर्म के लिए दण्ड या पारितोपिक ही वितरित करता है। क्योंकि ईश्वर निराकार और समस्त दोपों एवं राग-द्वेप आदि विकारों से पूर्णतः मुक्त होता है। जव उसके शरीर ही नहीं है और न संकल्प एवं इच्छाशक्ति ही अवशेप रही है, तव वह पापों का दण्ड और पुण्यों का शुभ-फल किस माध्यम से देगा।

दूसरी वात यह है कि ईश्वर समदर्शी होता है। वह अपने भक्त और अभक्तों में कोई भेद नहीं करता। अपनी प्रार्थना करने वाले पर रीझकर जो उसके अपराधों को क्षमा कर देता है, और अन्य व्यक्तियों की ओर ध्यान नहीं देता, वह ईश्वर नहीं, स्वार्थी व्यक्ति हो सकता है। उसकी दृष्टि में समता नहीं, विपमता आ जाती है।

स्व-पर के भेद भाव से युक्त व्यक्ति विकारमुक्त नहीं, विकारों एवं दोषों से युक्त होता है; और ईश्वर विकारों एवं विकारजन्य साधनों से सर्वथा मुक्त है इसलिए किसी भी व्यक्ति के शुभाशुभ कर्म का फल देने की योग्यता ईश्वर में नहीं है।

जैन दर्शन का यह दृढ़ विश्वास है कि फल देने की शक्ति आवद्ध कर्म में ही है। राग-द्वेष के परिणामों से जव व्यक्ति कर्म का वन्ध करता है, उसी समय उन कर्म-परमाणुओं में शुभाशुभ परिणामों की तीव्रता या मन्दता के अनुरूप रस का परिपाक होता है और उसके साथ स्थिति का भी वन्ध हो जाता है। अतः अपनी काल मर्यादा तक कर्म सत्ता में रहता है, परन्तु जव उसका समय आता है, तव वह उदय में आकर फल देता है, और फल देते ही आत्मा से अलग हो जाता है।

हम यह देखते हैं कि व्यक्ति शराव पीता है, या भंग-गांजा आदि नशीले पदार्थों का सेवन करता है, तो वे पदार्थ उस पर अपना असर किए विना नहीं रहते। उन पदार्थों में नशा जितना तीव्र या मंद होगा, और जितनी कम या अधिक मात्रा में उनका आसेवन किया जाएगा, उसी अनुपात से नशा आएगा। शराव आदि का नशा देने के लिए किसी ईश्वर या God के आने की आवश्यकता नहीं है। वह शक्ति शराव के पुद्‌गलों में निहित है। इसी प्रकार कर्म वर्गणा के पुद्‌गलों में भी अपना फल देने की योग्यता है। जिस समय जो-जो कर्म जितने समय के लिए वंधता है, वह कर्म अपने समय पर उदय में आकर फल देता है।

आत्मा कर्म को वाँधने, न वाँधने में स्वतंत्र है, परन्तु फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है। कोई भी व्यक्ति अशुभ कर्म का फल नहीं चाहता है, फिर भी उसे भोगना ही पड़ता है। परन्तु इसमें इतना अवश्य हो

सकता है, कि अशुभ कर्म के फल को समभाव से सहन करके उसे आत्मा आनन्द के रूप में परिवर्तित कर सकता है। और अपनी आत्म-साधना के द्वारा समय से पूर्व ही कर्मों की उदीरणा करके, तथा तप, संयम एवं स्वाध्याय के द्वारा उनकी निर्जरा करके बन्धन से मुक्त हो सकता है।

आत्मा और कर्म का सम्वन्ध अनादि काल से है। परन्तु यह सम्बन्ध एक ही कर्म के साथ नहीं है। वर्तमान बन्ध की अपेक्षा कर्म सादि है, क्योंकि जव तक व्यक्ति राग-द्वेष से युक्त है, तब तक वह प्रत्येक समय में आबद्ध कर्म फल को भोगकर उसकी निर्जरा करता है, और नए कर्म का बन्ध करता है परन्तु कर्म-प्रवाह की दृष्टि से कर्म अनादि से है। उन्हीं के कारण आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है।

परन्तु जब हम आत्म-साधना के द्वारा राग-द्वेष को परिसमाप्त करके कर्म के स्रोत को रोक देते हैं, तब उसका प्रवाह आगे बढ़ नहीं पाता। और तप, ध्यान, चिन्तन, मनन एवं स्वाध्याय के द्वारा व्यक्ति पूर्व बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करके उनका क्षय कर देता है · तव वह कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इतनी लम्वी चर्चा से यह स्पष्ट हो गया कि जड़ कर्मों के आवरण से अपने आपको आवृत करने वाले भी हम स्वयं हैं, और आवरण को हटाकर आत्म-ज्योति को अनावृत करने वाले भी हम ही हैं। जव हम ने स्वयं कर्म-वन्ध किया है, तव तोड़ने के लिये और कोई नहीं आएगा। इन वन्धनों को आत्म-साधना के द्वारा हम स्वयं तोड़ने में समर्थ हैं।

★

आत्मा और उसकी शक्ति

विश्व में दो शक्तियाँ विद्यमान हैं—आत्मा और पुद्गल, जड़ और चेतन। इन दो शक्तियों में अन्य सब ताकतों का समावेश हो जाता है। विभिन्न विचारकों ने संसार में जितने तत्व माने हैं, जितनी शक्तियों की कल्पना-परिकल्पना की है, वे सब चेतन और अचेतन, जीव और अजीव से भिन्न नहीं है। कुछ तत्वों का जीव में समावेश हो जाएगा, तो कुछ तत्व अजीव में समाविष्ट हो जाएँगे। परन्तु ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो जीव-अजीव से भिन्न हो, आत्मा या जड़ से सम्बद्ध न हो।

आत्मा अपने आप में अनन्तशक्ति संपन्न हैं, और जड़ भी शक्ति से संयुक्त है। दोनों स्वतंत्र तत्व हैं, और दोनों अपनी स्वयं की शक्ति को प्रकट कर सकते हैं, परन्तु एक-दूसरे की शक्ति को प्रभावित नहीं

कर सकते। आत्मा अपने सत् प्रयत्न के द्वारा अपनी अनन्तशक्ति को अनावृत कर सकता है। परन्तु जड़ की शक्ति को, पुद्गलों की ताकत को अपने रूप में कदापि परिणत नहीं कर सकता, उसे परिवर्तित करने की शक्ति किसी भी आत्मा में नहीं है। इसी तरह पुद्गल अपने आवरण से आत्म-शक्ति को धूमिल बना सकता है, परन्तु उसे जड़ रूप में नहीं बदल सकता। आत्मा की चेतना शक्ति को बदलने की, नष्ट करने की ताकत कर्म-वर्गणा के किसी भी पुद्गल में नहीं है।

कुछ विचारक ऐसा सोचते हैं, ऐसी कपोल-कल्पनाएँ करते हैं कि आत्मा की शक्ति से कर्मों की शक्ति अधिक है। पुद्गलों की शक्ति के कारण ही आत्मा पुद्गलों की ओर आकर्षित होता है, जड़ के पीछे बेतहाशा दौड़ लगा रहा है, और पुद्गल उसे विभिन्न प्रकार से नाच नचा रहे हैं। इससे ऐसा लगता है, कि व्यक्ति पुद्गलों के संकेतानुसार नाचने वाली कठपुतली मात्र है। उसमें जो कुछ शक्ति है, वह पुद्गलों की है, अपनी कुछ नहीं है।

परन्तु ऐसा सोचना सत्य से कोषों दूर है। यह मानव की भ्रान्ति है, कि कर्म की शक्ति आत्मा से प्रबल है। जिस व्यक्ति ने आत्म-स्वरूप को सम्यक्तया नहीं समझा है, अपने अन्तर में झांक कर अनन्त शक्ति के स्रोत को देखा नहीं है, वही यह कह सकता है—कर्म-पुद्गलों में शक्ति अधिक है।

संसार में स्थित आत्मा और कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध अनादि काल से है, और जब तक कर्म रहेंगे तब तक आत्मा सर्वथा बन्धन मुक्त नहीं हो सकता। कर्मों का बन्ध भी आत्मा करता है, और उन्हें तोड़ने वाला भी आत्मा है। कर्म-पुद्गलों में यह शक्ति नहीं है, कि वे स्वयं आकर आत्मा को बांध ले। योगों में स्पन्दन होने पर

कर्म परमाणु आते अवश्य हैं, परन्तु उनमें तब तक बन्ध की योग्यता नहीं आती, जब तक योगों के साथ राग-द्वेष से युक्त शुभाशुभ परिणाम नहीं रहते। भले ही वे परिणाम वैभाविक हैं, परन्तु हैं आत्मा के ही। अतः कर्म-पुद्गल आत्मा को नहीं बांधते, प्रत्युत अपने वैभाविक परिणामों में परिणत होने के कारण आत्मा स्वयं कर्मों के घेरे में आवृत होता है।

परन्तु यह भी पूर्णतः सत्य है—जब आत्मा वैभाविक परिणति से हट कर स्वाभाविक भाव में स्थित होता है, आत्म-साधना, आत्म-चिन्तन एवं आत्म-समाधि में संलग्न तथा समाधिस्थ होता है तब अनेक भवों के बंधे हुए कर्म-वर्गणा के अनन्त-अनन्त पुद्गलों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है, परिसमाप्त कर देता है, और एक दिन समस्त कर्म बन्धनों से पूर्णतः मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है। आत्म-शक्ति के जागृत होने पर कर्म-बन्धन उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे थोड़ा सा खींचते ही सूत का धागा टुकड़े-टुकड़े होकर गिर जाता है।

आप देखते हैं कि बादलों को बनाने में भी सूर्य निमित्त है और उन्हें बिखेरने में भी सहस्र-रश्मि की किरणों की शक्ति निहित है। जब सूर्य अपने आतप से समुद्र के पानी को वाष्प के रूप में ऊपर उठाता है, तब वह हवा का संयोग पाकर वह वाष्प से जल के रूप में बदलकर बादल बन जाता है, और अपनी कालिमा से सूर्य के प्रखर प्रकाश को कुछ देर के लिए आवृत कर लेता है। परन्तु जब सूर्य की तेजोमय किरणें पुनः बादलों पर पड़ती हैं, तो उसके ताप से बने हुए बादल उसी के ताप से बिखर जाते हैं।

यही स्थिति आत्मा और कर्म की है। जब आत्मा राग-द्वेष में परिणत होता है, तब वह कर्म का बन्ध करता है, परन्तु जब वह

राग-द्वेष से विमुक्त हो कर स्व-स्वभाव में परिणत होता है, तब कर्म-बन्धन एवं बन्धन के हेतुओं को परिसमाप्त करके निरावरण बन जाता है, अपने पूर्ण स्वरूप को प्रकट कर लेता है।

इससे स्पष्ट होता है, कि आत्म-शक्ति के समक्ष कर्म की ताकत नगण्य-सी परिलक्षित होती है। आत्मा की ताकत अनादि काल से आत्मा में निहित है, आज भी है, और भविष्य में उसका अस्तित्व विलुप्त नहीं होगा। आवश्यकता है अपने-आपको समझने की, अपनी दृष्टि को बदलने की। जब हम अपनी दृष्टि को बाहर से हटाकर अपने अन्दर झाँकने का, देखने का प्रयत्न करेंगे, तब अन्तर-शक्ति का स्रोत स्वतः परिलक्षित हो जाएगा।

आज से हजारों-हजार वर्ष पूर्व हम जिस अणुशक्ति के भण्डार को देख नहीं पाए, कुछ वर्ष पूर्व हम जिसे केवल कल्पना की उड़ान मात्र मानते थे, द्वितीय विश्व-युद्ध (Second World War) के समय वैज्ञानिकों ने जब अपनी दृष्टि अणुशक्ति के भण्डार को खोजने में लगाई, तो अणु की विराट् शक्ति को हमारे सामने रख दिया। और उसके अनन्तर किए जाने वाले सतत अन्वेषण ने उस समय से सहस्र गुणा अधिक शक्ति के रहस्य को खोलकर विश्व के सामने रख दिया। अभी तक अणु की जितनी ताकत दुनिया के सामने प्रकट की गई, उससे और अधिक ताकत अभी भी अणु की परतों में तिरोहित है, जिसके द्वार को उद्घाटित करना अवशेष है। द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर किए गए प्रयोगों (Experiments) ने यह सिद्ध कर दिया, कि एक अणु में विध्वंसक ही नहीं, विकासक ताकत भी है, निर्माण करने वाली शक्ति भी उसमें निहित है।

परमाणु में यह शक्ति आज नए रूप में उत्पन्न नहीं हुई है। वह उसमें पहले भी थी। परन्तु तब व्यक्ति की दृष्टि उस ओर नहीं गई,

इसलिए उसका स्रोत अणु की तहों में ही छिपा रहा। इसी प्रकार आत्म-शक्ति का जव तक अन्वेषण नहीं किया जाएगा, तव तक हमें यह परिज्ञान नहीं हो सकता कि हमारी ताकत कितनी है, और भौतिक पदार्थों की शक्ति कितनी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने आपको जागृत करे। जव उसका आत्म-भाव जागृत हो जाएगा, तव वाहरी ताकत उसे कथमपि वन्धन में नहीं रख सकती।

रामायण के पृष्ठों पर हनुमान के जीवन का प्रसंग अंकित है। आपने पढ़ा या सुना होगा, कि जव वीर हनुमान सीता की खोज करने लंका गया और वहाँ अशोकवाटिका में नजरवन्द सीता का दर्शन करने के वाद अपने आगमन की सूचना देने, एवं अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए उसने रावण की वाटिका को उजाड़ना प्रारंभ कर दिया। उद्यान रक्षकों एवं सैनिकों के भी जव वह वश में नहीं आया, तो उसे पकड़ने के लिए रावण का पुत्र मेघनाद स्वयं गया।

वहुत लम्वे समय तक संघर्ष एवं प्रयत्न करने के वाद भी जव मेघनाद उस पर कावू नहीं पा सका, तव उसने नागपाश शक्ति का उपयोग किया, और महा-शक्तिशाली योद्धा हनुमान उस नागपाश में आवद्ध हो गया। मेघनाद ने उसे रावण की सभा में उपस्थित किया।

उस समय वीर हनुमान अन्दर ही अन्दर छटपटा रहा था। उससे मुक्त होना चाहता था, परन्तु वह उसे तोड़ नहीं सका। उसके मन में यह हीन भावना आ गई थी कि नागपाश का वन्धन इतना मजवूत है, कि इसे तोड़ना मेरी शक्ति के वाहर है। इसलिए वह अपमानित होकर भी वहाँ वंधा हुआ खड़ा रहा।

राग-द्वेष से विमुक्त हो कर स्व-स्वभाव में परिणत होता है, तब कर्म-बन्धन एवं बन्धन के हेतुओं को परिसमाप्त करके निरावरण बन जाता है, अपने पूर्ण स्वरूप को प्रकट कर लेता है।

इससे स्पष्ट होता है, कि आत्म-शक्ति के समक्ष कर्म की ताकत नगण्य-सी परिलक्षित होती है। आत्मा की ताकत अनादि काल से आत्मा में निहित है, आज भी है, और भविष्य में उसका अस्तित्व विलुप्त नहीं होगा। आवश्यकता है अपने-आपको समझने की, अपनी दृष्टि को बदलने की। जब हम अपनी दृष्टि को बाहर से हटाकर अपने अन्दर झाँकने का, देखने का प्रयत्न करेंगे, तब अन्तर-शक्ति का स्रोत स्वतः परिलक्षित हो जाएगा।

आज से हजारों-हजार वर्ष पूर्व हम जिस अणुशक्ति के भण्डार को देख नहीं पाए, कुछ वर्ष पूर्व हम जिसे केवल कल्पना की उड़ान मात्र मानते थे, द्वितीय विश्व-युद्ध (Second World War) के समय वैज्ञानिकों ने जब अपनी दृष्टि अणुशक्ति के भण्डार को खोजने में लगाई, तो अणु की विराट् शक्ति को हमारे सामने रख दिया। और उसके अनन्तर किए जाने वाले सतत अन्वेषण ने उस समय से सहस्र गुणा अधिक शक्ति के रहस्य को खोलकर विश्व के सामने रख दिया। अभी तक अणु की जितनी ताकत दुनिया के सामने प्रकट की गई, उससे और अधिक ताकत अभी भी अणु की परतों में तिरोहित है, जिसके द्वार को उद्घाटित करना अवशेष है। द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर किए गए प्रयोगों (Experiments) ने यह सिद्ध कर दिया, कि एक अणु में विध्वंसक ही नहीं, विकासक ताकत भी है, निर्माण करने वाली शक्ति भी उसमें निहित है।

परमाणु में यह शक्ति आज नए रूप में उत्पन्न नहीं हुई है। वह उसमें पहले भी थी। परन्तु तब व्यक्ति की दृष्टि उस ओर नहीं गई,

इसलिए उसका स्रोत अणु की तहों में ही छिपा रहा। इसी प्रकार आत्म-शक्ति का जब तक अन्वेषण नहीं किया जाएगा, तब तक हमें यह परिज्ञान नहीं हो सकता कि हमारी ताकत कितनी है, और भौतिक पदार्थों की शक्ति कितनी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने आपको जागृत करे। जब उसका आत्म-भाव जागृत हो जाएगा, तब बाहरी ताकत उसे कथमपि बन्धन में नहीं रख सकती।

रामायण के पृष्ठों पर हनुमान के जीवन का प्रसंग अंकित है। आपने पढ़ा या सुना होगा, कि जब वीर हनुमान सीता की खोज करने लंका गया और वहाँ अशोकवाटिका में नजरबन्द सीता का दर्शन करने के बाद अपने आगमन की सूचना देने, एवं अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए उसने रावण की वाटिका को उजाड़ना प्रारंभ कर दिया। उद्यान रक्षकों एवं सैनिकों के भी जब वह वश में नहीं आया, तो उसे पकड़ने के लिए रावण का पुत्र मेघनाद स्वयं गया।

बहुत लम्बे समय तक संघर्ष एवं प्रयत्न करने के बाद भी जब मेघनाद उस पर काबू नहीं पा सका, तब उसने नागपाश शक्ति का उपयोग किया, और महा-शक्तिशाली योद्धा हनुमान उस नागपाश में आबद्ध हो गया। मेघनाद ने उसे रावण की सभा में उपस्थित किया।

उस समय वीर हनुमान अन्दर ही अन्दर छटपटा रहा था। उससे मुक्त होना चाहता था, परन्तु वह उसे तोड़ नहीं सका। उसके मन में यह हीन भावना आ गई थी कि नागपाश का बन्धन इतना मजबूत है, कि इसे तोड़ना मेरी शक्ति के बाहर है। इसलिए वह अपमानित होकर भी वहाँ बंधा हुआ खड़ा रहा।

उस समय रावण ने उसे अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न किया। उसे बताया गया, कि तू हमारे अनुशासन में रहने वाले महाराज पवनंजय का पुत्र है। अनेक पीढ़ियों से हमारा मित्रता का सम्बन्ध रहा है। तुम्हारे पूर्वजों ने अनेक बार युद्ध में मेरी सहायता की है, फिर तुम हमारे शत्रु राम के पक्ष में कैसे चले गए ?

नागपाश में आवद्ध होने के बावजूद भी हनुमान ने निर्भयता के साथ कहा, मेरा आपसे कोई विरोध नहीं है। जो विरोध है, वह आपकी अनीति एवं आपके अत्याचार के साथ है। राम का पक्ष न्यायसंगत है इसलिए मैं राम के साथ हूँ। आप सीता को राम के हाथ में सौंप दें, तो मेरा भी आपके साथ विरोध नहीं रहेगा, और राम भी आपके साथ शत्रुता नहीं रखेंगे।

हनुमान का यह स्पष्ट सत्य रावण के गले नहीं उतरा। उसने अहंकार की भाषा में कहा, तुम्हारा अपराध इतना भयंकर है कि इसका दण्ड मृत्यु से कम नहीं दिया जा सकता। परन्तु इस समय तुम यहाँ राम के दूत बनकर आए हो, और दूत सदा अवध्य होता है। अतः इसे मारा नहीं जाए, परन्तु इसे काले वस्त्र पहनाकर, इसका मुख काला करके, इसके गले में फटे-पुराने जूतों की माला पहनाकर, काले गधे पर बैठाकर नगर में घुमा-फिराकर लंका की सीमा से वाहर ढकेल दिया जाए।

काला रंग घिसते हुए, और जूतों की माला तैयार करते हुए देखकर वीर हनुमान की क्षणभर पहलेतक सुषुप्त चेतना एक ही क्षण में जागृत हो गई। वह सोचने लगा यह मेरा अपमान नहीं, मेरे रूप में राम का अपमान है। जो कुछ भी हो, में अपने प्राणों के रहते राम को अपमानित नहीं होने दूँगा। उसके जीवन के कण-कण में आत्म स्फूर्ति जाग उठो, उस वीर ने सावधान होकर एक हुंकार की, एक वीरता की किलकारी करके नागपाश को थोडा-सा झटका

दिया, और वह अटूट समझा जाने वाला वन्धन सूत के कच्चे धागे की तरह टूट गया, और महावली हनुमान पूर्ण स्वतंत्र बनकर निर्भयता से खड़ा हो गया। अव किस में ताकत थी, कि उस महाशक्ति को फिर से वांधे, और उसे या उसके स्वामी राम को अपमानित करे।

यह घटना हमारी चेतना को झकझोर कर कहती है–आत्म शक्ति का मुकावला करने की ताकत किसी शक्ति में नहीं है। आवश्यकता है—अपनी अन्तर-चेतना को जागृत करने की। हनुमान में नागपाश का तोड़ने की शक्ति उस समय भी थी, जब वह उसमें आवद्ध हुआ था। जव वह वाँधकर रावण की सभा में लाया गया, तव भी उसमें नागपाश को तोड़ने की क्षमता थी। परन्तु उस समय उसे अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं हो रहा था। परन्तु रावण के अपमान भरे शब्दों ने जव उसकी आत्म-चेतना पर चोट की, तो उसका आत्म-विश्वास प्रवल वेग से जाग उठा और नागपाश का वन्धन, वन्धन ही नहीं रहा।

आत्म-शक्ति आत्मा में निहित है, वाह्य पदार्थों में नहीं। आज हम शक्ति की खोज अवश्य करते हैं, परन्तु अन्दर में नहीं, वाहर में खोजते हैं। हमें आत्मा की अतल गहराई में उतरते हुए डर लगता है, भय होता है, कि कहीं भौतिक सुखों से, वाह्य साधनों से हाथ तो नहीं धो बैठेंगे। इस लिए वाह्य सुखों के कंकड़-पत्थरों को वटोर कर सन्तोष की साँस लेने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु महापुरुष कहते हैं—अव्यावाध सुख, अनन्त आनन्द एवं अनन्तशक्ति के रत्न आत्म-सागर के अन्दर गोता लगाने पर ही मिल सकेंगे, वाहर नहीं। यदि महाकवि निराला की भाषा में कहूँ—

"सागर की अतल गहराई में,
रहती मछली मोती वाली ।
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल-झल-माली ॥"

वाह्य भय जब तक हमारे सामने बने रहेंगे, संसार के लुभावने एवं सुहावने दृश्यों में जब तक हम मोहित-विमोहित होते रहेंगे, तब तक अनन्त शक्ति का महास्रोत मोह, लोभ, भय एवं मनोविकारों की तहों के नीचे दबा रहेगा ।

विकारों की परतों को तोड़कर शक्ति के द्वार उद्‌घाटित करने की ताकत अन्य किसी दैवी या ईश्वरीय शक्ति के हाथ में नहीं,तुम्हारे अपने हाथ में है । विकारों को पकड़ने वाला भी तू है । तू उनसे मुक्त-विमुक्त होने वाला भी स्वयं है । जब तुम्हारे अन्दर यह चेतना जागृत हो जाएगी, कि मैं अनन्त शक्ति का स्वामी हूँ, मैं शुद्ध-बुद्ध हूँ, मैं राग-द्वेष से परे हूँ, और भौतिक एवं जड़ पदार्थों तथा वाह्य साधनों से सर्वथा भिन्न हूँ, तब तुम स्वयं ही मुक्त हो सकते हो । मुक्ति के लिए भीख मत माँगो, अपने पुरुषार्थ से मार्ग के रोड़ों को हटाने का प्रयत्न करो, अज्ञान के अन्धकार को दूर करो ।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में स्पष्ट शब्दों में कहा है—'जो कुछ है, वह तेरे पास है । उसे पाने के लिए मोह की निद्रा को त्याग कर जागृत हो । उठ, कदम बढ़ा और तब तक अपने कदमों को मत रोक, जब तक तू अपनी अनन्त शक्ति प्राप्त न कर लें । जो तेरे मन में अपनी कमजोरी का अन्ध-विश्वास घर कर गया है, उससे जाग, और अन्ध-विश्वास का परित्याग करके आगे बढ़ । वास्तव में कोई कमजोर नहीं है । आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है । वह सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है । जब तुम्हारी आत्मा आत्म- विश्वास की

ज्योति से ज्योतिर्मय बन जाएगी और तुम्हारे कदम आत्म शक्ति को पाने के लिए उठ जाएंगे, तब तुमको शक्ति प्राप्त होगी, विजय प्राप्त होगी, और तू पूर्णतः शुद्ध-बुद्ध और पवित्र बन जाएगा। जब मोह निद्रा में सुषुप्त आत्मा की आत्म-चेतना जागृत हो कर गतिशील होती है, तब जो वस्तु शुद्ध और परम-शुद्ध है, आत्मा की अपनी निधि है, वह सब तुम्हारे अन्दर प्रकट हो जाएगी, तुम्हें उपलब्ध हो जाएगी—"

"Arise, awake and stop not till the goal is reached. Arise, Awake, awake from this hypnotism of weakness. None is really weak, the soul is infinite, omnipotent and omniscient

Stand up, power will come, glory will come, purit will come and every thing that is excellent will come, when this sleeping soul is arisen to do self - conscious activity."

इस प्रकार हमने देखा और परखा, कि आत्मा की शक्ति अनन्त है और अपराजेय है। आवश्यकता यह है, कि आत्म शक्ति पर छाई हुई मोह की तहों को, अज्ञान की परतों को हटाने का प्रयत्न करें। आत्मा के श्रद्धान एवं ज्ञान गुण की पर्याय को शुद्ध-परिशुद्ध बनाकर आत्म-रमण में संलग्न हो गए कि फिर आत्म-ज्योति एवं आत्म-शक्ति के प्रकट होने में विलम्ब की कोई आवश्यकता नहीं। श्रमण भगवान महावीर की भाषा में कहूँ—

'संबुज्झह, किं न बुज्झह ?
संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइयो,
नो सुलहं पुणरवि जीवियं॥"

अभी इसी जीवन में समझो, आज ही जागृत हो जाओ। तुम क्यों नहीं समझ रहे हो? मरने के बाद परलोक में संबोधि का मिलना कठिन है। जैसे बीती हुई रातें फिर लौटकर नहीं आतीं, उसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन पुनः हाथ नहीं आता।

अतः अपने आप में सोचो-समझो, जागो, और आगे बढ़ो। साध्य-सिद्धि तुम्हारे हाथ में है, सफलता तुम्हारे चरण चूमने को तैयार है। ★

विश्व में दो तरह की विचारधाराएँ काम कर रही हैं—भौतिकवादी और अध्यात्मवादी। भौतिक और आध्यात्मिक विचारों का प्रवाह आज के युग में ही नहीं, युग-युगान्तर से चला आ रहा है। कुछ विचारकों का अभिमत है, कि आज भौतिकवाद का बोल-बोला है। भौतिकवाद वर्तमान युग की देन है। इस कथन में सत्यांश हो सकता है, परन्तु पूर्णतः सत्य नहीं है।

जब हम आगम युग के समय पर जमी हुई परतों को उठाकर देखते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है, कि श्रमण भगवान महावीर के युग में भी भौतिकवाद लोगों के मन-मस्तिष्क पर छाया हुआ था। जैन-आगम, बौद्ध-पिटक एवं उपनिषद आदि वैदिक साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने वाले विचारक इस बात को भली-भाँति जानते हैं, कि अध्यात्मवाद के प्रचारकों की तरह भौतिकवाद का

अद्वैतवादी भी ब्रह्म के अतिरिक्त माया को मानते हैं, परन्तु यह माया क्या है ? यदि यह असत् है, तो इससे सृष्टि कैसे होगी ? जिस तत्व में अपना ही अस्तित्व नहीं, वह सृष्टि में सहयोगी कैसे हो सकता है ? यदि माया सत् है, उसका अपना अस्तित्व है, तब फिर विश्व में एक ही तत्व कैसे रहा ? ब्रह्म और माया, ये दो तत्व हो गए। फिर अद्वैत नहीं, द्वैत ही रहेगा। संसार एक ही तत्व पर नहीं, दो तत्वों पर आधारित है, दोनों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, दोनों की अपनी स्वतन्त्र शक्ति है।

मैं आपको बता रहा था, कि जीवन के दो पक्ष हैं—आध्यात्मिक और भौतिकता। दोनों का अपने-अपने स्थान पर महत्व है। दोनों में एक को भी झुठलाना सत्य से कोसों दूर भटक जाना है। एकान्त-वाद—भले ही वह आध्यात्मिक पक्ष को लेकर हो, या भौतिकता को लेकर, विकास का नहीं, विनाश का कारण है, मुक्ति का नहीं, संसार का मार्ग है। व्यक्ति के जीवन को घोरातिघोर अंधकार में ढकेलने वाला है।

पाश्चात्य विचारक हेलिब्यूर्टन स्पष्ट शब्दों में कहता है—"जब तुम वस्तु के एक पक्ष को सुनते हो, समझते हो, देखते हो, और उसी का आग्रह रखते हो, तो तुम अंधकार में भटक जाओगे। वस्तु के दोनों पक्षों को सुनो, समझो और परखो, तो सब कुछ स्पष्ट हो जाएगा। कुछ भी अनदेखा—अनपरखा नहीं रहेगा"—

"Hear one side, and you will be in the dark. Hear both sides, and all will be clear.

जीवन न तो एकान्त रूप से भौतिक है, और न एकान्त रूपेण अभौतिक। केवल हाथ-पैर, मुख-नाक, कान-आँख आदि अवयवों से युक्त शरीर ही मानव नहीं है। मांस-मज्जा का ढेर, और हड्डियों का

ढाँचा मात्र ही मानव नहीं है। यह मानव की आकृति मात्र है। आत्म तत्व इससे भिन्न है। वह मन, इन्द्रियों एवं शरीर का संचालक है। इस भौतिक मन्दिर में रहने वाला अभौतिक देव है।

अध्यात्मवाद—वह विद्या है, जिससे व्यक्ति को भौतिक और अभौतिक का भेद-ज्ञान होता है और व्यक्ति अपने ऊपर आए हुए आवरण को दूर करके अभौतिकता की ओर कदम बढ़ाता है, और एक दिन निरावरण स्थिति को प्रकट कर लेता है। व्यक्ति जब तक अपनी दृष्टि को, अपने विचार को और अपने आचार को भौतिक-पदार्थों से हटाकर अपने अन्दर की ओर नहीं मोड़ेगा, तब तक वह अपने आप को न तो बन्धनों से मुक्त कर सकता है और न बन्धन के हेतुओं से। बन्धन से मुक्त उन्मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक साधना अनिवार्य है।

इतना तो मानना पड़ेगा कि हम आध्यात्मिकता की ऊँची उड़ान में भौतिकता को झुठला नहीं सकते। निश्चयदृष्टि से हम भौतिक नहीं हैं, फिर भी व्यवहार में हमारा भौतिकता से सम्बन्ध रहा है, हमारा लक्ष्य निश्चय दृष्टि है, परन्तु जब तक संसार में हैं, तब तक व्यवहार साधे बिना हम कथमपि विकास नहीं कर सकते। व्यवहार में रहते हुए व्यवहार को ठुकराना भी अज्ञान है, मिथ्यात्व है। यह सत्य है, कि व्यवहार करते समय निश्चय को न भूलें, हमारा व्यवहार निश्चय को, आध्यात्मिकता को परिपुष्ट करने वाला हो।

पाँचवे और छठे गुणस्थान में ही नहीं, तेरहवें गुणस्थान में स्थित आत्मा भी भौतिक साधना के अभाव में पूर्णता को प्रकट नहीं कर सकता। जब तक मन, वचन और काययोग का अस्तित्व है. तब तक भौतिक पदार्थों का सहयोग लिये बिना हम गति-प्रगति कर ही नहीं सकते। हमारे योग स्वयं भौतिक हैं, हम जिस मकान

में रहते हैं, शीत, ताप एवं वर्षा से बचने के लिए वस्त्रादि जिन साधनों का उपयोग करते हैं, क्षुधा, तृष्णा निवारण के लिए आहार-पानी ग्रहण करते हैं, और भी जीवन निर्वाह के लिए जिन पदार्थों का उपयोग किया जाता है, जिन्हें हम काम में लाते हैं, वे सब भौतिक ही हैं। अतः भौतिकता के भूत से डरकर पलायन करने की आवश्यकता नहीं है। हम भौतिक पदार्थों का विवेकपूर्वक उपयोग करें, परन्तु भौतिक बनने का प्रयत्न न करें। भौतिकता पाप नहीं है, पाप है भौतिकतामय बनना, अपनी दृष्टि को भौतिक बनाना। हमें धर्म यह नहीं कहता कि भौतिकता को नेस्तनाबूद कर दिया जाए। वह इतना ही संकेत करता है—भौतिकता को अपने रूप में रहने दो, किन्तु उसे अपने अन्दर प्रविष्ट मत होने दो।

भौतिक पदार्थों को यथावश्यक काम में लेना और बात है, और भौतिक बनना दूसरी बात है। आध्यात्मिक साधक पदार्थों का उपभोग करते हुए भी उन्हें अपना नहीं समझता, और वह यह नहीं मानता, कि भौतिक पदार्थ ही सब कुछ हैं। भौतिक-शक्ति जीवन विकास के लिए साधन है, साध्य नहीं।

परन्तु भौतिकवादी भौतिकता को ही सब कुछ मानता है। वह अपनी संपूर्ण शक्ति भौतिक पदार्थों को जानने-समझने और उनके संग्रह को बढ़ाने में लगा देता है। वह रात-दिन नये-नये सुख-साधनों को खोजता रहता है, धन-वैभव को बढ़ाने के स्रोत ढूंढ़ता रहता है, और अपनी प्राप्त की हुई शक्ति को सुरक्षित रखने, तथा दूसरे के पास स्थित भौतिक ताकत को अपने हाथ में लेने के लिए अपनी सैनिक-शक्ति भी बढ़ाता है। जब व्यक्ति के मन में भौतिक पदार्थों को बटोरने की लिप्सा जागृत होती है, तथा उसके साथ उसके मन में राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ आदि विकार भी सक्रिय हो

ढाँचा मात्र ही मानव नहीं है। यह मानव की आकृति मात्र है। आत्म तत्व इससे भिन्न है। वह मन, इन्द्रियों एवं शरीर का संचालक है। इस भौतिक मन्दिर में रहने वाला अभौतिक देव है।

अध्यात्मवाद—वह विद्या है, जिससे व्यक्ति को भौतिक और अभौतिक का भेद-ज्ञान होता है और व्यक्ति अपने ऊपर आए हुए आवरण को दूर करके अभौतिकता की ओर कदम बढ़ाता है, और एक दिन निरावरण स्थिति को प्रकट कर लेता है। व्यक्ति जब तक अपनी दृष्टि को, अपने विचार को और अपने आचार को भौतिक-पदार्थों से हटाकर अपने अन्दर की ओर नहीं मोड़ेगा, तब तक वह अपने आप को न तो बन्धनों से मुक्त कर सकता है और न बन्धन के हेतुओं से। बन्धन से मुक्त उन्मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक साधना अनिवार्य है।

इतना तो मानना पड़ेगा कि हम आध्यात्मिकता की ऊँची उड़ान में भौतिकता को झुठला नहीं सकते। निश्चयदृष्टि से हम भौतिक नहीं हैं, फिर भी व्यवहार में हमारा भौतिकता से सम्बन्ध रहा है, हमारा लक्ष्य निश्चय दृष्टि है, परन्तु जब तक संसार में हैं, तब तक व्यवहार साधे बिना हम कथमपि विकास नहीं कर सकते। व्यवहार में रहते हुए व्यवहार को ठुकराना भी अज्ञान है, मिथ्यात्व है। यह सत्य है, कि व्यवहार करते समय निश्चय को न भूलें, हमारा व्यवहार निश्चय को, आध्यात्मिकता को परिपुष्ट करने वाला हो।

पाँचवे और छठे गुणस्थान में ही नहीं, तेरहवें गुणस्थान में स्थित आत्मा भी भौतिक साधना के अभाव में पूर्णता को प्रकट नहीं कर सकता। जब तक मन, वचन और काययोग का अस्तित्व है, तब तक भौतिक पदार्थों का सहयोग लिये बिना हम गति-प्रगति कर ही नहीं सकते। हमारे योग स्वयं भौतिक हैं, हम जिस मकान

में रहते हैं, शीत, ताप एवं वर्षा से बचने के लिए वस्त्रादि जिन साधनों का उपयोग करते हैं, क्षुधा, तृष्णा निवारण के लिए आहार-पानी ग्रहण करते हैं, और भी जीवन निर्वाह के लिए जिन पदार्थों का उपयोग किया जाता है, जिन्हें हम काम में लाते हैं, वे सब भौतिक ही हैं। अतः भौतिकता के भूत से डरकर पलायन करने की आवश्यकता नहीं है। हम भौतिक पदार्थों का विवेकपूर्वक उपयोग करें, परन्तु भौतिक बनने का प्रयत्न न करें। भौतिकता पाप नहीं है, पाप है भौतिकतामय बनना, अपनी दृष्टि को भौतिक बनाना। हमें धर्म यह नहीं कहता कि भौतिकता को नेस्तनाबूद कर दिया जाए। वह इतना ही संकेत करता है—भौतिकता को अपने रूप में रहने दो, किन्तु उसे अपने अन्दर प्रविष्ट मत होने दो।

भौतिक पदार्थों को यथावश्यक काम में लेना और बात है, और भौतिक बनना दूसरी बात है। आध्यात्मिक साधक पदार्थों का उपभोग करते हुए भी उन्हें अपना नहीं समझता, और वह यह नहीं मानता, कि भौतिक पदार्थ ही सब कुछ हैं। भौतिक-शक्ति जीवन विकास के लिए साधन है, साध्य नहीं।

परन्तु भौतिकवादी भौतिकता को ही सब कुछ मानता है। वह अपनी संपूर्ण शक्ति भौतिक पदार्थों को जानने-समझने और उनके संग्रह को बढ़ाने में लगा देता है। वह रात-दिन नये-नये सुख-साधनों को खोजता रहता है, धन-वैभव को बढ़ाने के स्रोत ढूंढ़ता रहता है, और अपनी प्राप्त की हुई शक्ति को सुरक्षित रखने, तथा दूसरे के पास स्थित भौतिक ताकत को अपने हाथ में लेने के लिए अपनी सैनिक-शक्ति भी बढ़ाता है। जब व्यक्ति के मन में भौतिक पदार्थों को बटोरने की लिप्सा जागृत होती है, तथा उसके साथ उसके मन में राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ आदि विकार भी सक्रिय हो

उठते हैं, तब जीवन के हर क्षेत्र में संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है।

आज भारत और पाश्चात्य जगत का विकास हमारे सामने है। भारत युग-युगान्तर से आत्म-विकास की ओर बढ़ रहा है। उसने भी खोज की है, अन्वेषण किया है परन्तु वह बाहर नहीं, अपने ही अन्दर, अपने गुणों का। जिसके फलस्वरूप अनेक दर्शन एवं अनेक महापुरुषों का चिन्तन मानव मन पर पड़ी हुई अज्ञान की परतों को हटाने के लिए हमारे सामने आया।

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि शुरू से ही भौतिकवादी रही है। उन्होंने अपनी सारी शक्ति भौतिक पदार्थों के अन्वेषण एवं संग्रह में लगा दी। विज्ञान का विकास पाश्चात्य देन है। वैज्ञानिक क्षेत्र में वह भारत से हजारों वर्ष आगे है। विज्ञान के माध्यम से मानव ने सुख-साधन एवं भोग्य पदार्थों का अंबार लगा दिया। जितने सुख-साधन बढ़े, उससे अधिक लोभ, तृष्णा, मोह ममता, काम-भोग, विषय-वासना एवं अविवेक में अभिवृद्धि हुई. जिससे संहारक शक्ति का भी विकास हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध में प्रयुक्त संहारक शस्त्रास्त्रों को देखकर व्यक्ति विचार करने लगा था, कि न जाने आगे क्या होगा ? परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध में हिरोशिमा पर फेंके गए आणविक बमों एवं उसके अनन्तर निरन्तर अणु और उद्जनबमों के परीक्षणों ने समस्त मानव जगत को चिन्तित एवं भयभीत कर दिया है। विज्ञान ने आज मानव को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। आज केवल वे राष्ट्र ही चिन्तित नहीं हैं, जिनके पास आणविक आयुधों का अभाव है, प्रत्युत अणु शस्त्रों से सुसज्जित बड़ी शक्तियाँ, एवं अणु वैज्ञानिक भी चिन्तित हैं, कि इस प्रलयंकारी शस्त्र से अपनी एवं अपने राष्ट्र की रक्षा कैसे की जाए ? वे अणु-युद्ध को रोकने की बात सोच रहे हैं, परन्तु जिस रास्ते को अपनाने

जा रहे हैं, वह अज्ञान के अन्धकार से प्रच्छन्न है, इसलिए मार्ग नहीं मिल रहा है।

विज्ञान आज विनाश का कारण क्यों बन गया ? इसका उत्तर एक ही है, कि विज्ञानवेत्ताओं ने केवल भौतिक दृष्टि को महत्व दिया। उन्हीं ने कभी भूलकर भी आत्मा-परमात्मा की ओर सोचने का प्रयत्न नहीं किया। यह भो नहीं सोचा, कि मैं स्वय क्या हूँ ? मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है ? मेरी मंजिल कहाँ है ? और मंजिल पर पहुँचने का रास्ता कौन-सा है ?

महाकवि दिनकर ने वैज्ञानिकों को सम्वोधित करते हुए बहुत सुन्दर वात कही है—"तुमने अनेक लोकों को—आकाश लोक, पृथ्वी लोक और पाताल लोक, पृथ्वी के चप्पे-चप्पे को, पहाड़ों, गुफाओं, वीरान जंगलों और सागर की ऊँचाई, लम्बाई, गहराई एवं विस्तार को नापा-जोखा, और आकाश को भी छान डाला, परन्तु सदा अपने निकट रहने वाले, अपने में ही निवसित मन को, हृदय को, आत्मा को, शोधने का, देखने का कभी प्रयत्न नहीं किया।"

"तुमने एक-दो नहीं, दस-वीस नहीं, हजारों-हजार आविष्कार किए और आज भी नए-नए आविष्कार कर रहे हो, परन्तु अपने रहस्य के द्वार को उद्घाटित करने का आज तक कभी भी प्रयत्न नहीं किया।"

"इसी का परिणाम है, कि तुम्हारा विज्ञान अज्ञान बनकर तुम्हारे सामने अंधकार के रूप में प्रस्तुत है। विज्ञान की किरणों से जिधर देखो उधर का आकाश धूमिल ही नजर आ रहा है। वैसे तो तुम्हारा कोई धर्म-कर्म है नहीं, क्यों कि तुम्हारा विश्वास विनाश में है इसलिए ध्वंस करना तुम्हारा धर्म है और यम तुम्हारा देव है—

व्यक्ति को एक ओर जीवन है, और दूसरी ओर मृत्यु। जीवन में गति-प्रगति है और मृत्यु में स्थिरता। चलते रहना, बढ़ते रहना जीवन है, और निष्क्रिय होना, रुक जाना, और अपने कार्य को विराम दे देना, मृत्यु है। प्राणों का रहना मात्र ही जीवन नहीं है, और प्राणों का निकल जाना ही मृत्यु की परिभाषा नहीं है। जीवन और मरण मानव की चेतना पर, क्रियाशीलता पर, और गतिशीलता पर निर्भर है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक स्थान पर लिखा है–"जीवन विकास का सिद्धान्त है, स्थिर रहने का नहीं, सतत विकसित होने की आज्ञा-अनुज्ञा देता है, स्थिर अवस्था में रहने की नहीं।"

'Life is a principle of growth, not of standing still, a continuous becoming, which does not permit static condition."

जब मानव मन की चेतना जागृत रहती है, और चिन्तन-मनन के द्वारा प्रतिक्षण, प्रति-पल आगे कदम बढ़ाती है, तब जीवन की धारा अविराम गति से बढ़ती रहती है वह अज्ञान की परतों को ज्ञान के आवरण को हटाकर जीवन को नित्य नये आलोक से जगमगाती हुई एकदिन व्यक्ति के जीवन को पूर्ण आलोक से भर देती है।

जीवन में चिन्तन की धारा सतत प्रवहमान है, तो दुनिया में कोई ऐसी ताकत नहीं है, जो उसके विकास को अवरुद्ध कर सके। प्रवहमान झरने के प्रहारों के सामने अड़कर खड़े रहने की ताकत किसी भी चट्टान में नहीं है, जब झरने का प्रवाह उमड़कर आगे बढ़ता है, तो वह पत्थरों की दृढ़ चट्टानों को, अभेद्य शिलाओं को तोड़कर अपनी राह बना लेता है। पाषाण भी उसे मार्ग देने के लिए बाध्य हो जाता है। काव्य की भाषा में कहूँ तो—

> "खोज लेती है सुधा पाषाण में,
> जिन्दगी रुकती नहीं चट्टान में।"

याद रखो, विराट् से विराट् चट्टान भी जीवन के प्रवाह को रोकने में समर्थ नहीं है। रूढ़ियों की, जीर्ण-शीर्ण परंपराओं की, मताग्रहों की, पन्थों की, अन्ध-विश्वासों की, और जड़ता की चट्टानें चेतनाशील चिन्तन, मनन एवं विचारों के प्रवाह को कथमपि रोक नहीं सकती। परंपराओं, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों, तथा साम्प्रदायिक घेरों की दीवारें उन्हीं विचार धाराओं को आगे नहीं बढ़ने देती, जिनकी चेतना शक्ति नष्ट हो गई है, जिनमे चिन्तन में प्राण नहीं है, विचारों में तेजस्विता नहीं है, और जिनके व्यक्तित्व में ओज-तेज नहीं है। जहाँ-तहाँ रुकावट मुर्दों के लिए है, जिंदों के लिए नहीं। मुर्दा न कभी आगे बढ़ा है, न आगे बढ़ना है, और न कदापि

आगे कदम बढ़ा सकेगा। वह जहाँ पड़ा है, वहीं पड़ा रहता है, स्वयं सड़ता-गलता है, और अपनी सडाँध से दूसरों को सड़ाता हुआ एक दिन नष्ट हो जाता है।

मैं आपको यह बताना चाहता हूँ, कि जो अपने स्वतंत्र विचार-चिन्तन को लेकर जन-जन के जीवन में चेतना की स्वर-लहरी झंकृत करने का, स्वतंत्र चिंतन को जगाने का प्रयत्न करता था, समाज, पन्थ एवं सम्प्रदाय सदा-सर्वदा उसके मार्ग में काँटे बिखेरता रहा है। साम्प्रदायिक रूढ़ियों एवं जड़-परंपराओं के रोड़े, तथा अन्ध-विश्वासों की चट्टानें खड़ी करके उनके मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। परन्तु सदा स्मृति में रखिए कि चेतनाशील व्यक्ति के बढ़ते हुए कदम कभी रुकते नहीं, शिथिल होते नहीं, और पीछे की ओर मुड़ते नहीं—

"कब रुके हैं चरण, आगे बढ़न हारे"

आगम-साहित्य का एक-एक पृष्ठ, एक-एक पंक्ति, और एक-एक शब्द हमें स्पष्ट बता रहा है, कि श्रमण भगवान महावीर ने अपनी साढ़े बारह वर्ष की मौन तप-साधना के अनन्तर जो कुछ पाया, उससे जन-जन के जीवन को ज्योतिर्मय बनाने के लिए, जन-मन को आलोक से आलोकित करने के लिए, और विश्व को स्वतंत्रतापूर्ण स्वतंत्रता की राह बताने के लिए जब कदम बढ़ाया, तो उनके मार्ग में कितनी चट्टानें आकर खड़ी हो गईं। साम्प्रदायिक तत्त्वों ने, पुराणपंथियों ने अपने गुरुडम को चौपट होते देखकर उनके मार्ग में कितने विघ्न उपस्थित किए। उस महामानव को राह से विचलित करने के लिए कितने कष्ट दिए, उन पर कैसे भयंकर प्रहार किए, और कितनी अभद्र गालियाँ दीं, परन्तु वह युग-पुरुष प्रहारों से भयभीत होकर पीछे नहीं हटा, उसके कदम निरन्तर आगे बढ़ते

रहे। विघ्न-बाधाओं के तूफानों में भी वह अपने जीवन की मंजिल पर चलता रहा, एक मधुर मुस्कान बिखेरता हुआ गति-प्रगति करता ही रहा।

जीवन उसी व्यक्ति का है, जिसका दिल जिन्दा है, दिमाग जिन्दा है। केवल साँसों के बोझ को ढोना, और आपत्तियों के भय से भयभीत होकर मुर्दों की तरह पड़े रहना जिन्दगी नहीं है। यह एक प्रयोगशाला (laboratory) है, जिससे व्यक्ति नये प्रयोग (Experiments) करके अपने जीवन पुष्प को विकसित करता है।

आप इस बात को सदा स्मृति में रखें, कि फूल सदा काँटों में ही खिलता है। वह जब तक काँटों के मध्य में रहता है, तब तक खिला हुआ रहता है, अपनी भीनी-भीनी खुशबू से संसार को सुवास से परिपूरित करता है, व्यक्ति के मन-मस्तिष्क को तरोताजा बनाता है, परन्तु जब वह काँटों से अलग हो जाता है, तो अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। भले ही उसे वेणी में सजाया जाए, गले में हार बनाकर पहना जाए, सेज पर लगाया जाय, या देवता को अर्पित किया जाए, परन्तु जब वह कंटीली डाली से तोड़कर कहीं भी लगाया एवं रखा जाता है, तभी से मुझाने लगता है, उसका जीवन रस सूखने लगता है।

याद रखिए जीवन पुष्प का विकास संघर्ष के काँटों की नोंक पर ही होता है। नुकीले काँटों के अभाव में फूल के विकसित होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। विकास का मार्ग काँटों के बीच में से ही गुजरता है। अतः काँटों से डरो मत, काँटों से घबराओ मत, और काँटों को देखकर आँखों से श्रावण-भादव की झड़ियाँ मत बरसाओ। परन्तु उनके ऊपर से ऐसे चलो, कि उनकी चुभन तुम्हारे मन को विचलित नहीं कर सके। विपत्तियों की कँटीली नोंक को

तोड़े बिना कदापि मंजिल को पार करके जीवन का आनन्द नहीं लिया जा सकता। पाश्चात्य विचारक सेनेका हमारे मन-मष्तिष्क को झकझोर कर कहता है—जब तक व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक दुःखों का, कष्टों का, एवं मृत्यु का भी स्वागत करने के लिए तैयार नहीं है, तब तक वह जीवन का सच्चा आनन्द नहीं ले सकता—

"No man enjoys the true taste of life, but he who is ready and willing to quit it."

जीवन में आनन्द का आस्वादन एकांगीपन में नहीं, विविधता में ही किया जा सकता है। आप जानते हैं कि नित्य-प्रति एक पदार्थ खाते-खाते व्यक्ति ऊब जाता है। उसे खाने का आनन्द नहीं आता। परन्तु जब व्यक्ति के सामने मीठे पदार्थों के साथ खट्टे, चटपटे और मसालेदार पदार्थ रखे जाते हैं, तब उसे खाने का आनन्द आता है।

हाँ, तो जीवन का आनन्द, जीवन का विकास भी विविधता में है। व्यक्ति न तो केवल सुख के मखमली एवं डनलप के गद्दों पर सोकर जीवन का विकास कर सकता है, और न दुःख के काँटों की चुभन से विचलित होकर भी जीवन को गति दे सकता है। दुःख में रोते-तड़पते हुए पड़े रहना भी पतन का कारण है, और सुख में आसक्त होकर मस्ती से लेटे रहना भी पतन के महागर्त में गिरना है। सुख में पड़े रहो, या दुःख के महासागर में डूबे रहो दोनों ही जगह स्थिर रहना पतन है, मृत्यु है।

दुःख-सुख के झूले में झूलते रहना, इतस्ततः भटकते फिरना जीवन नहीं है। जीवन है—सुख के समय भी आगे बढ़ना, और दुःख की घड़ियों में भी जीवन की धारा को सतत गतिशील रखना।

धन्ना और शालिभद्र की स्मृति आज जन-जन के मन-मस्तिष्क पर अंकित है। दीपावली के दिन सभी व्यक्ति अपने बही-खाते पर

लिखते हैं—धन्ना-शालिभद्र की ऋद्धि प्राप्त हो। धन, वैभव एवं सुख-साधनों को प्राप्त करने की कामना आप सब के मन में तरंगित हो रही है। परन्तु धन्ना, धन्ना सेठ कैसे बना, इस जीवन-कला की ओर आपने शायद ही कभी ध्यान दिया हो।

धन्ना के तीन भाई और थे, उम्र में वे सब बड़े थे। धन्ना सब से छोटा था। परन्तु बुद्धि एवं योग्यता में वह सब से आगे था। इसलिए माता-पिता का प्यार-स्नेह उस पर अधिक था। पूरा परिवार धन्ना का आदर-सम्मान करता था। घर की चार दीवारों के बाहर भी लोगों में उसकी इज्जत-प्रतिष्ठा थी। उसने अपने मधुर व्यवहार एवं कुशाग्र बुद्धि से नगर के प्रतिष्ठित नागरिकों एवं राजा तथा अधिकारियों के हृदय में भी अपने लिए स्थान बना लिया था। राज्यसभा में पिता से भी अधिक मान-सम्मान प्राप्त कर लिया था।

उसके विकास को देखकर तीनों ज्येष्ठ भ्राता उस से ईर्ष्या करने लगे। वे इस प्रयत्न में रहने लगे कि जैसे भी हो धन्ना को नीचे गिराया जाए। अपना खोकर भी उसके सम्मान को आघात लगाया जाए। ईर्ष्या का विकार सब से बुरा है, इसके प्रवाह में बहने वाला व्यक्ति यह सोचता है, कि दूसरों की प्रतिष्ठा के महल को गिराकर उसके खण्डहरों पर अपनी प्रतिष्ठा के भवन का निर्माण किया जाए।

तीनों भाइयों ने एड़ी से चोटी तक का पसीना बहाकर धन्ना को जनता की नजरों से गिराने का प्रयत्न किया। परन्तु वे उसमें पूर्णतः असफल रहे। तब उन्होंने अपनी राह के काँटे धन्ना को निर्मूल करने का विचार किया। वे ऐसा अवसर ढूँढ़ने लगे, कि धन्ना के जीवन को समाप्त कर दिया जाए, जिससे न रहेगा बाँस और न बजेगी बांसुरी।

धन्ना को जब अपने भाइयों के कलुषित मानस का पता लगा, तो

उसने अपने भाइयों के हित के लिए स्वयं ही उनकी राह से अलग हट जाने का विचार कर लिया। और एक दिन अर्ध रात्रि के समय घर, परिवार एवं संपूर्ण वैभव को छोड़कर घर से बाहर निकल गया। रात समाप्त होते-होते, अपने नगर की सीमा को छोड़कर बहुत दूर निकल गया। अपने कदम बढ़ाते हुए वह दोपहर तक एक गाँव के बाहर, सघन वृक्ष की छाया में विश्राम करने को बैठ गया।

वहाँ खेत में एक किसान हल जोत रहा था। दोपहर के समय बैलों को एक ओर बाँधकर वह भोजन करने उस वृक्ष की शीतल छाया में आया, तो वहाँ एक पथिक को बैठा देखकर उसकी आतिथ्य-भावना जाग उठी। उसने राहगीर को भोजन करने का निमंत्रण दिया।

धन्ना ने मुस्कुराते हुए कहा, "मैं पथिक हूँ, गर्मी के कारण मैं यहाँ थोड़ा विश्राम करने बैठ गया हूँ। भूख तो लग रही है, परन्तु भोजन करने के पहले कुछ काम करना चाहता हूँ। परिश्रम किए बिना, भोजन करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। यदि तुम मुझे रोटी खिलाना चाहते हो, तो पहले मुझे कुछ काम बताओ।"

किसान धन्ना के तेजस्वी चेहरे को देखकर पहचान गया, कि यह कोई महान् व्यक्ति है। ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति को मैं हल चलाने को कैसे कहूँ ? उसने धन्ना को बहुत समझाया कि वह काम करने का आग्रह न करे, अतिथि को आतिथ्य स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु जब धन्ना अपनी बात से थोड़ा भी विचलित नहीं हुआ, तब किसान ने उसे हल चलाने को कहा। धन्ना ने प्रसन्नता के साथ बैलों को हाँका, और हल चलाया।

हल की नोंक से मिट्टी के ढेले उखड़ने लगे। एक-दो चक्कर

लगाए, परन्तु तीसरे चक्कर में हल की नोंक जमीन में गड़े हुए एक वर्तन से टकरा गई। उसकी आवाज सुनकर धन्ना देखने लगा, कि क्या वात है? धन्ना ने देखा, तो उसे मोहरों से परिपूरित एक स्वर्ण कलश मिला। उसने स्वर्ण घट किसान के सामने रख दिया, और कहा—मेरा काम हो गया, इसलिए अव तुम्हारी रोटी खाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

किसान ने कहा—यह स्वर्ण घट तुम्हारे भाग्य से निकला है। इस जमीन को मैं तीन पीढ़ियों से जोत रहा हूँ। यदि मेरे या मेरे वाप दादों के भाग्य में होता, तो अव तक कभी का ऊपर आ गया होता। परन्तु हमें उसका कभी दर्शन नहीं हुआ। यह तुम्हारे ही पुण्य का प्रतिफल है। इसलिए इसे तुम ले जाओ।

धन्ना ने कहा—भाई! मैंने रोटी खाने के लिए परिश्रम किया था, इसलिए मेरा अधिकार तो रोटी पर है, अन्य किसी वस्तु पर नहीं। जो कुछ खेत में निकला है, वह तुम्हारा है, मेरा नहीं। इस-लिए मैं इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

स्वर्ण मुद्राओं से भरा हुआ स्वर्ण घट धन्ना और किसान के वीच में एक समस्या वन गया। देखा एवं सुना जाता है, कि धन के लिए भाई, भाई के गलेपर छुरी फेरते नहीं हिचकता। उसी धन को धन्ना भी ठुकरा रहा था, और किसान भी। आखिर दोनों राजा के पास गए, और राजा से प्रार्थना की—'इस महापुरुष के पुण्य से मेरे खेत में यह धन निकला है, परन्तु यह उसे लेना नहीं चाहता। और मैं भी इस सम्पत्ति को जो दूसरे के पुण्य का प्रतिफल है, कैसे रख सकता हूँ? यह सव जमीन आप की है, इसलिए इस धन को आप अपने खजाने में रखें।'

राजा ने कहा—जमीन राज्य की है, अतः उस में जो उत्पन्न

होता है, उसका छठा भाग लेने का मुझे अधिकार है, उससे अधिक लेने का नहीं। अतः इस सम्पत्ति को तुम ले जाओ। जब स्वर्ण घट को तीनों में से एक भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ, तब मंत्री ने कहा—ऐसा किया जाए, कि इस सम्पत्ति से धन्ना की स्मृति को बनाए रखने के लिए उनके नाम पर एक गाँव बसा दिया जाए। इस योजना को सब ने स्वीकार कर लिया। किसान अपने खेत की ओर गया, और धन्ना अपने पथ पर आगे बढ़ गया।

धन्ना के जीवन का यह एक सुनहरा पृष्ठ है, जो हमें बता रहा है—वैभव में अपने आप को विस्मृति के गहन अन्धकार में मत फेंको। अपने विवेक को, अपने त्याग को, अपने संयम को जागृत रखो। लेने के लिए लालायित मत रहो दिन-रात बटोरने में ही मत लगे रहो, प्रत्युत देने के लिए सदा तत्पर रहो। फिर देखो, जीवन विकास के पृष्ठ स्वतः ही खुलते जाएँगे।

तुम्हारा काम इतना ही है, कि अपने कर्तव्य पथपर बढ़ते रहो। न पीछे मुड़कर देखो, और न अगल-बगल में झांको कि इसके प्रतिफल में क्या-कुछ मिला है? इधर-उधर देखना तुम्हारा काम नहीं है, और रुकने में भी तुम्हारी शान नहीं है। तुम्हारा गौरव है, दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाने में, और तब तक अविराम रूप से बढ़ते रहना, जब तक कि प्रगति के चरम शिखर को पादाक्रान्त न कर दो।

जीवन का लक्ष्य रुकना नहीं है, विश्राम करना नहीं है। यदि कभी विश्राम करना पड़े, तो वह वहीं पड़े रहने के लिए नहीं, प्रत्युत दुगुने वेग से आगे बढ़ते रहने के लिए है। जीवन का उद्देश्य एक मात्र यही है—विकास के पथ पर बढ़ते रहो, और तब तक बढ़ते रहो, जब तक विकास का अंतिम शिखर विजित न कर लो। हमें

उतनी ऊंचाई पर पहुंचना है, जहाँ लोक का अंत है, लोक की सीमा अनन्त को स्पर्श कर रही है, और जिसके आगे कदम रखने के लिए कोई रास्ता नहीं है—

"जीवन का उद्देश्य नहीं है,
विश्रांति-भवन में टिक रहना।
हम को उतना आगे बढ़ना,
जिसके आगे राह नहीं है।"
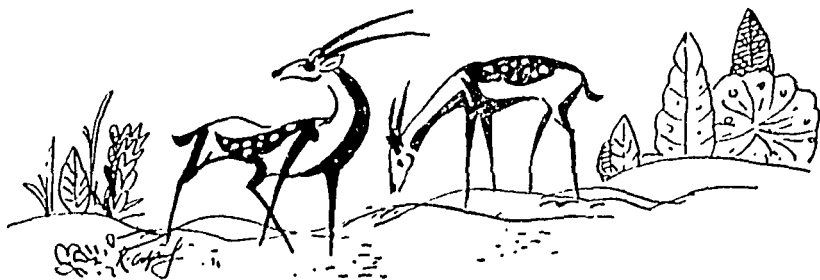
६ जीवन की साधना

जीवन का लक्ष्य है—साध्य को सिद्ध करना, आत्म स्वरूप को अनावृत करना। आत्मा का स्वरूप शुद्ध-विशुद्ध है। कर्म से संबद्ध होने पर भी उसके स्वरूप में किसी तरह का परिवर्तन नहीं आता है। आत्म-ज्योति जैसी पहले थी, उसी रूप में आज है, और भविष्य में भी सदा-सर्वदा तद्रूप ही बनी रहेगी। कर्म-वर्गणा के पुद्‌गलों की कितनी ही परतें उसे क्यों न आवृत करती रहें, फिर भी वे उसके स्वरूप को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं हैं। किसी भी कर्म में इतनी ताकत नहीं है, कि वह आत्मा को जड़ बना सके, उसकी चेतना शक्ति को समाप्त कर सके।

कर्म की शक्ति इतनी ही है, कि जब तक उसका अस्तित्व रहता है, तब तक वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पूर्णरूपेण प्रकट नहीं होने देता। जैसे उमड़-घुमड़ कर आए हुए काले कजरारे बादल सूर्य के

प्रकाश को धरती पर नहीं पड़ने देते, उसे बीच में ही रोक रखते हैं, परन्तु सहस्ररश्मि के प्रखर प्रकाश को नष्ट करने की ताकत उनमें नहीं है। हजारों-हजार सघन घटाएँ भी मिलकर आ जाए, तव भी सूर्य को प्रकाशहीन नहीं बना सकती हैं। वैसे ही कर्म के आवरण से आत्म-ज्योति धुंधली अवश्य परिलक्षित होती है, परन्तु उसके अस्तित्व का कदापि लोप नहीं होता।

आत्म-ज्योति पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए की जाने वाली क्रिया का नाम साधना है। जिस प्रकार व्यक्ति खान में से निकाले हुए स्वर्ण को रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा मिट्टी से अलग करके शुद्ध बनाते हैं. उसी प्रकार साधक साधना के द्वारा आत्मा पर लगे हुए कर्म मल को दूर करके उसे शुद्ध-विशुद्ध बनाता है। आत्मा को कर्म-आवरण से मुक्त करने तथा बन्धन एवं बन्ध के हेतुओं का क्षय करने के लिए आचार-साधना आवश्यक है। आगमकारों ने चारित्र्य उसी को कहा है—जिस साधना के द्वारा आत्मा को कर्म से पूर्णतः रिक्त किया जाए—

"एवं चयरित्तकरं, चारित्तं होई आहियं"

कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए दो प्रकार की साधना का उल्लेख मिलता है—विचार-ज्ञान-साधना और आचार-साधना। आगम-साहित्य में कहीं साधना के तीन भेद और कहीं-कहीं चार भेद भी बताए हैं, परन्तु उन सब का तात्पर्य एक ही है। साधना के त्रिवेणी संगम में दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य साधना को लिया है। और उक्त तीनों के साथ तप को जोड़ कर चार भेद किए हैं। परन्तु यथार्थ में देखा जाए तो ज्ञान और आचार में सब का समावेश हो जाता है। दर्शन, श्रद्धा और ज्ञान दोनों साथ रहते हैं, इसलिए ज्ञान-साधना में दर्शन का स्वतः समावेश हो जाता है। और तप आचार साधना का एक भेद है।

इसलिए आगम साहित्य में साधना के कहीं-कहीं दो, तीन, और कहीं चार भेदों का उल्लेख मिलता है। उनमें संख्या का भेद होने पर भी अर्थ में कोई भेद नहीं है। साधारण जन मानस को समझाने एवं साधना के पथ पर गतिशील करने के उद्देश्य से उसके और भी अवान्तर भेद-उपभेद किए जा सकते हैं। परन्तु मुख्य रूप से साधना के दो रूप हैं—विचार और आचार, ज्ञान और क्रिया।

ज्ञान दृष्टि है और आचार गति है। साधना के पथ पर गति करने का काम आचार है। परन्तु मार्ग प्रशस्त है या नहीं, उसमें दोष एवं विकार तो नहीं है, दोषों का संशोधन एवं परिमार्जन कैसे किया जाए, यह निर्णय ज्ञान के द्वारा, विचार के द्वारा ही किया जा सकता है।

साधना के क्षेत्र में आचार का भी मूल्य है, परन्तु विचार का महत्व आचार से अधिक है। क्योंकि व्यक्ति के मानस में सर्व-प्रथम विचार उद्‌बुद्ध होते हैं, उसके अनन्तर वे आचार के रूप में परिणत होते हैं। अतः आचार विचार के अनुरूप होता है। यदि विचार सम्यक् है, शुद्ध-विशुद्ध है, तो आचार भी सम्यक् होगा, शुद्ध विशुद्ध होगा और दोषों से रहित होगा। यदि विचारों में मलिनता है, अज्ञान है, अशुद्धता है, तो ज्ञान की, विचारों की अशुद्ध पर्याय से युक्त साधक की आचार-साधना कितनी ही उत्कृष्ट एवं कष्टप्रद क्यों न परिलक्षित होती हो, वीतराग प्रभु की दृष्टि में मिथ्या-साधना है, अशुद्ध आचार है। उस साधना के बल पर साधक संसार-सागर से पार नहीं हो सकता। वह उसे संसार में ही परिभ्रमण कराती है।

आचार स्वतः सम्यक् या मिथ्या नहीं है। उसकी सम्यक्त्वता एवं असम्यक्त्वता विचारों पर ही निर्भर है। जो आचार-साधना भले ही वह बाह्य आकार में साधारण-सी ही क्यों न दिखाई दे,

ज्ञान की शुद्ध पर्याय के साथ की जाती है, वही सम्यक् आचार है, वही सम्यक् चारित्र है, और उसी से साधक अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

इसलिए श्रमण भगवान महावीर ने स्पष्ट भाषा में कहा— "पढमं नाणं तओ दया।" पहले ज्ञान-साधना, उसके बाद आचार-साधना। क्यों कि जब तक ज्ञान सम्यक् नहीं होगा, दृष्टि के ऊपर से विकार नहीं हटेंगे, तब तक चारित्र्य भी सम्यक् नहीं होगा, दोषों एवं विकारों से रहित भी नहीं होगा। याद रखिये, जिस व्यक्ति की आँखों पर रंगीन चश्मा है या जिसे पीलिये का रोग हो गया है, उसे सफेद एवं उज्ज्वल पदार्थ भी रंगीन एवं पीले ही दिखाई देंगे। इसमें वस्तु का कोई दोष नहीं है. वस्तु अपने आप में उज्ज्वल, धवल एवं श्वेत है, दोष है दृष्टि का। दृष्टि पर आए हुए विकार के कारण ही वस्तु विकृत दिखाई देती है। दृष्टि पर से विकारों को हटाते ही वस्तु अपने शुद्ध स्वरूप में दिखाई देगी ही।

यही बात आचार-साधना के सम्बन्ध में है। संसार में रहते हुए साधक का उठने वाला प्रत्येक कदम, उसका प्रत्येक आचार सम्यक् है, यदि सम्यक् दृष्टि के साथ वह अपना कदम रखता है। परन्तु सम्यक्त्व के अभाव में आचार, चारित्र्य एवं क्रिया-काण्ड भले ही कितना ही उग्र और कठोर क्यों न हो सम्यक् नहीं हो सकता—

"नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं"

श्रमण भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन की तीसवीं गाथा में इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया— सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं होता। सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र्य के गुण प्राप्त नहीं होते, और

सम्यक दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र्य की प्राप्ति हुए विना मोक्ष नहीं होता। मोक्ष-कर्म-वन्धन से एवं वन्धन के हेतुओं से मुक्त हुए विना निर्वाण-शाश्वत आत्म-आनन्द प्राप्त नहीं होता—

"नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण-गुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥"

इससे यह स्पष्ट है, कि आचार को विशुद्ध वनाने के लिए ज्ञान की शुद्ध-विशुद्ध पर्याय को प्रकट किया जाए। केवल क्रिया-काण्ड की कठोरता, उग्र तप एवं विधि-निषेध के कुछ नियमों से आचार निर्दोष नहीं हो सकता है। भगवती सूत्र के शतक सात उद्देशक दो में गणधर गौतम के एक प्रश्न—प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान कैसे होते हैं, का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान महावीर ने वताया, कि जो व्यक्ति साधना के पथ पर कदम रखने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि का त्याग करता है, अपने आप को त्यागी कहता है, परन्तु जिसे यह ज्ञात नहीं है, कि जीव-अजीव क्या है, पाप-पुण्य एवं धर्म-अधर्म का स्वरूप क्या है, हिंसा-अहिंसा आदि दोषों एवं गुणों का यथार्थ रूप क्या है? यह जाने विना ही जो अपने आप को त्यागी कहता है, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। भगवान महावीर की भाषा में—वह सत्य नहीं, झूठ वोलता है, तीन करण और तीन योग से संयम-निष्ठ नहीं है, विरति—त्यागयुक्त नहीं है, पापों का प्रत्याख्यान करने वाला नहीं है, वह आस्रव से युक्त है, संवर रहित है, प्राणियों को दण्ड देने वाला है, और एकान्त रूप से वाल-अज्ञानी है।"

ज्ञान और विवेक से युक्त आचार ही सम्यक् आचार है, और उसी के द्वारा साधक वन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः ज्ञान के अभाव में जप, जप नहीं रहता और तप केवल तन को तपाने

अनागत में भी आत्मा में रहेंगे। अतीत, अनागत और वर्तमान किसी भी काल में आत्म-गुणों का अभाव नहीं होता। यह बात अलग है, कि कभी किसी आत्मा में इन की शुद्ध पर्याय रहती है, और कभी अशुद्ध पर्याय। अशुद्ध पर्याय मिथ्यात्व है, कर्म के आगमन, और बन्ध का कारण है तथा संसार सागर में परिभ्रमण कराने वाली है। शुद्ध पर्याय सम्यक्त्व है, कर्म को रोकने का साधन है, और मुक्ति की ओर ले जाने वाली है।

साधना का एकमात्र यही उद्देश्य है—दर्शन, ज्ञान, और चारित्र्य की अशुद्ध पर्यायों को शुद्ध बनाना, उनमें आए हुए दोषों को दूर करना। चिन्तन-मनन एवं विचारों में जो पर पदार्थों को अपना समझने की बुद्धि है, उनके प्रति जो आसक्ति है, ममत्व-भाव है, उससे हटाकर चिन्तन को आत्माभिमुख करना एवं आत्म-विश्वास को दृढ़ बनाना, ज्ञान और दर्शन की साधना है।

पर पदार्थों में रही हुई अपनत्व बुद्धि के कारण व्यक्ति पर पदार्थों को प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है। वह अपने आप को भूलकर सुख साधनों को प्राप्त करने की तलाश में घूमा करता है। उसका व्यवहार, उसका आचरण, उसका क्रिया-काण्ड एवं उसका जप-तप सब-कुछ यश, प्रतिष्ठा एवं भौतिक पदार्थ एवं भोगोपभोग के साधनों को पाने की भावना से होता है। श्रमण भगवान महावीर ने इहलौकिक जगत में सुख पाने की कामना से की जाने वाली आचार-साधना को मिथ्याचार कहा है। यह आचार-चारित्र्य का अशुद्ध पर्याय है, संसार को बढ़ानेवाली है।

पदार्थों की, भोगों की एवं यश-प्रतिष्ठा की आकांक्षा एवं आसक्ति को हटाकर अपनी आतमा में स्थिर होना आचार की शुद्ध पर्याय है। इसका यह अभिप्राय नहीं है, कि व्यक्ति क्रिया ही न करे, एकदम निष्क्रिय वन जाए। कुछ व्यक्ति एवं कुछ विचारक विचार-शून्य

और निष्क्रय होने की बात करते हैं। परन्तु वह केवल कल्पना की उड़ान ही है, इसमें यथार्थता का अभाव है। जब तक मन, वचन एवं काय-शरीर का योग है, तब तक व्यक्ति न तो विचार-शून्य बन सकता है, और न निष्क्रिय ही। तेरहवें गुणस्थान तक भी योगों में स्पन्दन होता ही है, वीतराग साधक भी क्रियाशील रहता ही है। साधना पथ पर गति-प्रगति करते हुए जब तक साध्य को सिद्ध न कर लिया जाए, तब तक निष्क्रिय एवं विचार-शून्य नहीं, विकार-शून्य बनना है, राग-द्वेष से शून्य होना है, आसक्ति एवं आकांक्षा से शून्य होना है। श्रमण भगवान महावीर कहते हैं—अपनी साधना के प्रति भी आसक्ति मत रखो, ममता मत रखो, अनुराग मत रखो। जो कुछ साधना करो आकांक्षा से रहित होकर करो। न इस लोक में सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से तप जप, ध्यान-स्वाध्याय करो, और न परलोक में स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा रखकर साधना करो। अपनी साधना में प्राप्ति की आकांक्षा मत रखो। केवल आत्मा को अनावृत करने के लिए साधना करो।

आप अपने स्वरूप में इतने रम जाएँ कि क्रिया करना न पड़े, आचार का पालन करना न पड़े। दैनिक कार्य करते समय भी आप का ध्यान क्रिया की ओर नहीं, आत्मा की ओर रहे। क्रिया के व्यामोह में आत्म-विस्मृति न हो।

श्रमण-भगवान महावीर की भाषा में आत्मा का आत्मस्वरूप में स्थित होना ही आचार है, चारित्र है। भगवती सूत्र में गणधर गौतम के एक प्रश्न—भगवन्! सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ क्या है?—का उत्तर देते हुए भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"हे गौतम! आत्मा ही सामायिक है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है"—

"आया णं अज्जो ! सामाइए।

आया णं अज्जो ! समाइयस्स अट्ठे ।

सामायिक का अर्थ है—समभाव को प्राप्त करना, और साधना का भी उद्देश्य है—ममता को जीवन के कण-कण में साकार रूप देना और समभाव आत्मा का स्वभाव है। अतः आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानकर उसमें स्थित होना ही विचार और आचार की साधना है, और यही जीवन का लक्ष्य है एवं साध्य को सिद्ध करने की साधना है।

जीवन पद-पद आगे बढ़ना,
पीछे हटना क्या जीवन ?
अमृततत्व की समुपलब्धि ही,
जीवन का ध्रुव सत्य निरंजन !

•

बीत गया जैसा भी कुछ था,
अब चिन्ता से परे पुरातन !
मंजुल, मंगल नव भविष्य का
करो हृदय से अभिनन्दन !

वस्तु के स्वरूप को देखने, परखने एवं समझने के लिए दो दृष्टियाँ हैं—सामान्य दृष्टि और विशेष दृष्टि। सामान्य दृष्टि सब को मिलाकर, समन्वित कर देखती है, वह भेद से अभेद की ओर जाती है। वह मनुष्य को विभिन्न जातियों, वर्गों, रंगों, प्रान्तों, देशों एवं धर्मों में विभक्त नहीं देखती। उसकी दृष्टि में मानव शब्द के अंतर्गत दुनिया के किसी भी कोने में रहने वाला मनुष्य उसमें समाविष्ट हो जाता है। मानव-मानव में अनेक तरह का भेद हो सकता है, परन्तु मनुष्य के आकार में किसी तरह का भेद नहीं है। भले ही अमरीका का रहनेवाला मनुष्य हो, या भारत का रहनेवाला मानव हो, या अफ्रीका का निवासी हब्शी हो, या और कहीं का निवासी हो, सब का आकार-प्रकार एक-सा ही मिलेगा।

इससे भी आगे बढ़कर देखें तो सभी आत्माएँ आत्म-स्वरूप की दृष्टि से एक-सी हैं। सब आत्माएँ असंख्यात प्रदेशी हैं, अगुरु-लघु हैं, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित हैं, अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और शक्ति से युक्त हैं। इसमें नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव का कोई भेद शेष नहीं रह जाता है। इस वर्णन में सिद्ध और संसारी का भेद नहीं किया जाता। आगम की भाषा से अगे आया में सभी आत्माएं— भले ही वे मुक्त हों या बद्ध, सिद्ध हों या संसारी, समाविष्ट कर ली गई हैं।

यह दृष्टि और आगे बढ़ती है, तो समस्त द्रव्यों को एक रूप में देखने का प्रयत्न करती है। जैन दृष्टि से द्रव्य छः हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवा-स्तिकाय। सबके अपने-अपने गुण एवं धर्म एक दूसरे से भिन्न भी हैं, परन्तु एक दृष्टि से सब में समानता भी है। यह है—द्रव्यत्व दृष्टि। द्रव्य–गुण और पर्याय से युक्त होता है। छहों द्रव्य-गुण-पर्याय से युक्त हैं। अतः द्रव्य में जीव-अजीव, रूपी-अरूपी सब का समावेश हो जाता है, उस में भेद को अवकाश ही नहीं रहता।

परन्तु जब हम वस्तु के स्वरूप को विशेष दृष्टि से देखते-समझते हैं, तब उसका विश्लेषण करते हैं, अभेद से भेद की ओर कदम बढ़ाते हैं। सिद्धों को अलग श्रेणी में रखते हैं और ससारी को अलग। संसारी आत्मा में भी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव का भेद करते हैं। मनुष्य मनुष्य को भी एक नहीं समझते, उसे अलग-अलग वर्गों में बाँटकर देखते हैं। इस दृष्टि में जहाँ-तहाँ भेद ही परिलक्षित होगा।

इससे हम यह समझें, कि वस्तु में एक ही गुण नहीं, अनेक गुण, और अनेक धर्म रहे हुए हैं। भले ही, एक अणु को भी हो क्यों न लें,

उसमें भी अनेक गुण विद्यमान हैं। उस में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आकार, वजन, नित्यत्व, अनित्यत्व, द्रव्यत्व, शक्ति आदि अनेक गुण हैं। अतः दुनिया में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो अनेक गुणों एवं धर्मों से युक्त न हो।

मैं आपको यह बता रहा था, कि वस्तु अनेक गुणों से युक्त है। उस में एक नहीं, अनेक गुण, अनेक धर्म समाहित हैं। अतः उसके स्वरूप को हम एक ही दृष्टि से देखना-परखना चाहें, तो उस में हम सफल नहीं हो सकते। एक ही दृष्टि से हम वस्तु के एक ही पक्ष, एक ही धर्म का अवलोकन कर सकते हैं, अन्य का नहीं। उसके संपूर्ण स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए हमें एकान्त के आग्रह क छोड़कर अनेक दृष्टियों का सहारा लेना होगा।

जब हम वस्तु को सामान्य दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं, तो हमें उस में एकरूपता दिखाई देगी। उस में रही हुई विविधता एवं अनेक-रूपता की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाएगा। और जब हम अपनी दृष्टि को विशेष की ओर मोड़ते हैं, तो हमें वस्तु में भेद ही भेद परिलक्षित होता है, उसमें बिखराव दिखाई देता है। हम समझने लगते हैं कि इसमें एकरूपता है ही नहीं, एकत्व की दृष्टि केवल कपोल-कल्पना है, मन का भ्रम है।

परन्तु सत्य यह है, कि वस्तु में एकत्व धर्म भी है, और अनेकत्व धर्म भी। यदि उसमें एकत्व या अनेकत्व धर्म है ही नहीं, तो वह चाहे जिस दृष्टि से देखा जाए, और एक दो बार नहीं, हजारों-हजार बार प्रयत्न किया जाए, वह उसमें दृष्टिगत नहीं हो सकता। वस्तु का वही धर्म, वही गुण दिखाई दे सकता है, जो उसमें निहित है। क्योंकि दिखाई देनेवाला धर्म कहीं बाहर से नहीं आता। उसका अस्तित्व वस्तु में है, वस्तु के कण-कण में परिव्याप्त है। यह एक

अनुभव-सिद्ध सत्य है, कि जो कुछ नहीं है, जिसका अस्तित्व कभी रहा ही नहीं, वह कथमपि किसी को दिखाई नहीं दे सकता। यदि कोई व्यक्ति कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, फिर भी उसे गधे के सिर पर सींग नजर नहीं आएँगे, आकाश की ओर देखते-देखते आँखें ही क्यों न फूट जाए, फिर भी किसीकी आकाश-कुसुम देखने की तमन्ना कदापि सफल नहीं हो सकती। आकाश में पराग विखेरते विकसित फूलों को वह कभी नहीं देख सकता। क्यों कि गधे के सिर पर सींग और आकाश कुसुम का अस्तित्व ही नहीं है, तो वे दिखाई देंगे कहाँ से !

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिस पदार्थ, धर्म या गुण का अस्तित्व है, वही व्यक्ति की दृष्टि में आ सकता है। व्यक्ति न तो वस्तु में किसी धर्म का निर्माण कर सकता है, और न वस्तु के गुणों का नाश करने में ही समर्थ है। वह वही देखता है, जो कुछ वस्तु में निहित है, और वह उसे नहीं देख सकता, जो वस्तु में नहीं है। अस्ति, नास्ति के रूप में परिणत नहीं हो सकती, और नास्ति अस्ति के रूप में नहीं वदली जा सकती।

इसलिए जव हम अपनी दृष्टि को एकांगी बनाकर वस्तु को देखने-समझने का प्रयत्न करते हैं, तव उसके यथार्थ रूप को नहीं समझ सकते। यही कारण है, कि हम अपनी राह से भटक जाते हैं, और अपने आग्रह के कारण सत्य से कोसों दूर जा पड़ते हैं। हमारी दृष्टि एक पक्ष पर अटक जाती है, और पक्षांधता के कारण हम वस्तु के दूसरे पक्ष की ओर अपनी दृष्टि मोड़ने का प्रयत्न ही नहीं करते। इसी कारण अलग-अलग विचारधाराएँ वहने लगती हैं, और वे विभिन्न मत एवं पन्थ का रूप धारण कर लेती हैं, और कभी-कभी वे मताग्रह, पन्थाग्रह परस्पर टकराने लगते हैं, और एक दूसरे को असत्य एवं भ्रान्त सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

कुछ विचारक इस आग्रह को लेकर चलते हैं—विश्व में एक ब्रह्म, एक आत्म-तत्व ही सत्य है, इसके अतिरिक्त और कुछ दिखाई देता है, तो वह सत्य नहीं है। वह मानव मन की भ्रान्ति है, अज्ञान है, अविद्या है। उसके रहते हुए एकत्व दिखाई नहीं दे सकता। आचार्य शंकर का कहना है, कि विश्व में ब्रह्म ही सत्य है, उसके अतिरिक्त सारा संसार मिथ्या है, भ्रम है। उसका अस्तित्व है ही नहीं—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"

कुछ विचारक विशेष दृष्टि को लेकर आगे बढ़े, और उन्होंने अपना यह मत स्थापित किया—विश्व में एक नहीं, अनेक तत्व हैं। वे पदार्थों के भेद-उपभेद करते गए, उन्हें कहीं भी उन में एकरूपता एवं अभेद दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। अतः उन्होंने यह घोषणा कर दी, कि भेद दृष्टि ही सत्य है, अभेद दृष्टि असत्य है, धोखा है। विश्व में एकत्व की परिकल्पना करना बुद्धि का दिवालियापन है। उसमें न सत्य है, न तथ्य है वह बुद्धि का विलास मात्र है।

दोनों विचारधाराएं दो दृष्टियों को लेकर आगे बढ़ीं। दोनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य को समझने का प्रयत्न किया। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है, कि दोनों ने सत्यांश को देखा, परखा और समझा। परन्तु भूल इतनी ही है, कि दोनों ने सत्यांश को पूर्ण सत्य मान लिया। प्रत्येक विचारक अपनी दृष्टि से किए गए निर्णय को परिपूर्ण सत्य और अन्य की दृष्टि को असत्य एवं भ्रांत समझने और कहने लगा। इससे दो विभिन्न दृष्टिकोण वाली विचारधाराओं का परस्पर टकराना सहज-स्वाभाविक था। इसी का परिणाम है, कि भारतीय एवं विश्व के दार्शनिक क्षेत्र में संघर्ष शुरू हो गया और एक-दूसरे पर अपशब्दों का कीचड़ भी उछाला गया। दर्शन-साहित्य

एवं पन्थों के इतिहास के पन्नों पर काले अक्षरों में अंकित संघर्ष की कहानी आज भी हमारे सामने है।

मैं आपसे कह रहा था, कि दार्शनिक धार्मिक एवं पान्थिक झगड़ों, संघर्षों का मूल कारण व्यक्ति की एकान्तदृष्टि एवं अपने विचारों का व्यामोह रहा है। अपनी बात को, भले ही उसमें कुछ त्रुटि भी क्यों न हो, सत्य और दूसरे के विचारों को, भले ही उसमें सत्य, एवं सत्यांश भी क्यों न रहा हो—असत्य और भ्रान्त सिद्ध करने का प्रयत्न युग-युगान्तर में भी रहा है, और आज भी विद्यमान है। अपने अहं का आग्रह एवं मोह ही सभी तरह के संघर्षों की जननी है। इससे वैमनष्य बढ़ता है, व्यक्ति की दृष्टि धूमिल होती है, और वह सत्य से दूर, बहुत दूर चला जाता है।

अतः भगवान महावीर ने सभी विचारकों से एक ही बात कही-लड़ो मत, झगड़ो मत, आग्रह बुद्धि को छोड़कर सत्य को समझने का प्रयत्न करो। तुम जो कुछ कह रहे हो, वह वही कह रहे हो, जो वस्तु में है। तुम्हारे कथन में भी सत्य है। परन्तु जरा शान्त मस्तिष्क से सोचो, कि दूसरा पक्ष जो कुछ कह रहा है, वह भी वस्तु में रहे हुए धर्म को बता रहा है। यदि वस्तु में जो तुम कह रहे हो, वह एक धर्म ही है, दूसरा धर्म नहीं है, तो दूसरे व्यक्ति को उसकी अनुभूति एवं उसका परिज्ञान कैसे होगा? क्यों कि वस्तु में जिस धर्म का अस्तित्व ही नहीं, वह कभी दिखाई नहीं देता। इसलिए यह समझना चाहिए, कि वस्तु में एक नहीं, अनेक धर्म एवं गुण रहे हुए हैं। एक अपेक्षा से वस्तु में एकत्व है, तो दूसरी अपेक्षा से अनेकत्व भी है। यह वस्तु का स्वभाव है, कि उसमें परस्पर विरोधी धर्म भी हैं। उदाहरण के तौर पर एक सीधी और सरल रेखा में छोटापन भी है, और बड़ापन भी। वह अपने से बड़ी रेखा की अपेक्षा छोटी है, तो अपने से छोटी रेखा की अपेक्षा बड़ी भी है। यदि कोई व्यक्ति

यह कहे—एक सरल रेखा को स्पर्श किए बिना, बिना काटे, और बिना बढ़ाए छोटी या बड़ी बनाओ ? तब हम उसके बराबर उस से बड़ी और छोटी रेखाएँ खींचकर उसे छोटी और बड़ी बना देते हैं। उसका छोटा और बड़ा आकार सापेक्ष है। इसी तरह एकत्व और अनेकत्व भी सापेक्ष हैं। जब हम सामान्य दृष्टि से वस्तु का अवलोकन करते हैं, तो हमें एकत्व दिखाई देता है, और जब हम अपनी दृष्टि को विशेष की ओ मोड़ देते हैं, तो हमें वस्तु में रही हुई अनेकता परिलक्षित होती है। सामान्य दृष्टि की अपेक्षा वस्तु एक है, और विशेष दृष्टि की अपेक्षा वह अनेक है। एक में अनेक समाविष्ट है, और अनेक में एक। यह है अनेकान्त दृष्टि।

श्रमण भगवान महावीर ने आचारांग में कहा है—"जो साधक एक को जानता है, वह सबको जानता है। और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है"।[1] एक का परिज्ञान करने वाले को सब का परिज्ञान स्वभावतः हो जाता है, और सब का परिज्ञान करने वाला एक के ज्ञान से वंचित नहीं रह सकता। जिस प्रकार समग्र विश्व अनन्त है, उसी प्रकार एक छोटे से छोटा पदार्थ भी अनन्त-गुण और पर्याय वाला है। जैसे—आत्म-स्वरूप को जानने वाला, अन्य तत्त्वों का परिज्ञाता न हो, यह कदापि संभव नहीं है, और अन्य सब तत्वों का ज्ञाता आत्म-स्वरूप से अपरिचित हो यह भी संभव नहीं है।

कहने का अभिप्राय यह है, कि वस्तु में एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्म रहे हुए हैं। उस संपूर्ण सत्य को, अनन्त गुणों को युगपत् देखने की शक्ति अभी हमारे में नहीं है। हम उसे

---

१. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।

जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।—आचारांग १।३।४.

अनेक दृष्टिकोणों के द्वारा ही समझ सकते हैं। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाईन (Einstein) ने अपनी पुस्तक "Cosmology-Old and New" में इसी सत्य को स्वीकार करते हुए लिखा है—"सम्पूर्ण सत्य तो विश्व-द्रष्टा सर्वज्ञ के द्वारा ही देखा जा सकता है, हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान एवं देख सकते हैं।"

"We can only know the Relative Truth, the Absolute Truth is known only to the Universal Observer."

वैज्ञानिक जगत ने भी इस बात को एकमत से स्वीकार कर लिया है—हम वस्तु के स्वरूप को एकान्त दृष्टि से नहीं, अनेकान्त दृष्टि से ही जान सकते हैं, और उसका विश्लेषण भी कर सकते हैं। विज्ञान की प्रयोगशाला में यह तथ्य सामने आया है, कि वस्तु में अनेक धर्म एवं अनेक गुण रहे हुए हैं। एक अणु-परमाणु में भी अनेक गुण हैं, जिसे हम सापेक्ष दृष्टि से ही समझ सकते हैं, जान सकते हैं।

पाश्चात्य विचारक प्रोफेसर एन्डिगटन (Prof. Endington) ने Nature of Philosophy-World में लिखा है—'सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए सब से सहज और सरल उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा का लिया जा सकता है। एडिनबर्ग शहर की अपेक्षा से केम्ब्रिज युनिवर्सिटी एक दिशा में है, और लन्दन की अपेक्षा से दूसरी दिशा में है। इस तरह अन्य शहरों की अपेक्षा से वह विभिन्न दिशाओं में हो सकती है। हम यह कदापि नहीं सोच सकते, कि उसकी वास्तविक एक ही दिशा कौनसी है ?"

"A more familiar example of a relative quantity is—'Direction' of an object. There is a direction of Cambridge relative to Edinburgh and another direction relative to London, and so on. It never occurs to us to think of this

स्वयं न हो ज्योतिर्मय चिन्तन,
उसे शास्त्र क्या देंगे ज्ञान ?
अन्ध सूर कैसे देखेगा—
निज मुख दर्पण में छविमान !

●

एक-एक दीपक जुड़ने से,
दीवाली हो जाती जगमग !
एक-एक सद्‌गुण से जीवन,
होता जग जन पूजित पग-पग !

८ अनेकान्त और अहिंसा

हिंसा का सामान्य अर्थ—मारना किया जाता है। प्राणों का नाश करना हिंसा है, परन्तु किसी के मन को चोट पहुँचाना भी हिंसा है। शरीर की तरह मन भी व्यक्ति का एक साधन है। सबसे पहले मन में विचार उद्‌बुद्ध होते हैं, तब उन्हीं विचारों को हम वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं, और शरीर के माध्यम से उन्हें क्रियान्वित करते हैं। अस्तु, मन शरीर से भी अधिक महत्वपूर्ण है। उसकी शुद्धता-अशुद्धता, स्वस्थता-अस्वस्थता पर ही जीवन का विकास एवं पतन आधारित है। मन ही बन्धन का कारण है, और मन ही मुक्ति का साधन है—

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः

मानव के आज तक के विकास का इतिहास मन के चिन्तन पर ही आधारित है। अणु-विज्ञान, आण्विक-शस्त्र और राकेट सर्व-प्रथम

मन के धरातल पर ही अवतरित हुए थे। चन्द्रलोक एवं अन्य ग्रह-नक्षत्रों के रहस्यों का उद्‌घाटन करने के लिए उस धरती पर कदम रखने की कल्पना सब से पहले मानव मन में ही उद्‌बुद्ध हुई। इसके लिए जो कुछ प्रयत्न किए, और किए जा रहे हैं, वे मन में उद्‌भव हुए विचारों के ही साकार रूप हैं।

विश्व इतिहास के पन्नों को खोलकर देखिए आपको यत्र तत्र-सर्वत्र यही मिलेगा, कि मनुष्य की विचारशक्ति ने, मनुष्य के कल्पनाशील मस्तिष्क ने, और मनुष्य के मननशील मन ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। आध्यात्मिक एवं भौतिकशोध के लिए मनन-चिन्तन एवं विचार-शक्ति का ही हाथ रहा है। जितने दर्शन, जितने पन्थ, जितने मत-मतान्तर, जितने सम्प्रदाय, जितने समाज, जितनी पार्टियाँ हमें दिखाई दे रही हैं, वे सब मनुष्य के विचारों की ही उपज है।

प्रत्येक व्यक्ति में—भले ही वह सामान्य हो या महान्, बड़ा हो या छोटा, बुद्धि और चिन्तन शक्ति है। उसके पास अपना चिन्तन है, अपने विचार हैं, और अपनी बुद्धि है। वह जो कुछ सोचता है, समझता है, विचारता है, उसी सत्य-तथ्य को जन-जन के सामने रखने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह आकांक्षा बनी रहती है, कि वह अपने विचारों को जनता के सामने रखे और जनता उसका अनुकरण करे।

इसमें तो जरा भी सन्देह नहीं है, कि व्यक्ति के विचारों में सत्यांश रहता ही है। वह वस्तु को जिस दृष्टि से देखता है—चाहे द्रव्य की दृष्टि से देखे या पर्याय की दृष्टि से, उसमें वह धर्म उस अपेक्षा से है ही। जैसे द्रव्य की दृष्टि से विचार करने वाले व्यक्ति को वस्तु नित्य दिखाई देती है। वह इस सत्य का अनुभव करता है,

दृष्टि को सत्य, और अन्य के चिन्तन को पूर्णतः असत्य समझने का। जब द्रव्य दृष्टि से वस्तु का अवलोकन करने वाला व्यक्ति यह कहे, कि वस्तु एकान्त रूप से नित्य है, उसमें अनित्यता है ही नहीं, वह कूटस्थनित्य है, उसमें कदापि किसी भी प्रकार का परिवर्तन होता ही नहीं, वह जैसी है, सदा-सर्वदा उसी रूप में स्थित रहती है। जो परिवर्तन की बात कहते हैं, वे झूठे हैं, स्वयं भ्रान्ति में हैं, और दुनिया में भ्रान्ति फैलाते हैं।

जब पर्याय दृष्टि से वस्तु का विश्लेषण करने वाला विचारक यह घोषणा करता है—वस्तु में स्थिरता एवं नित्यता है ही नहीं, सब कुछ क्षणिक है, विनाशशील है। वह सरिता के प्रवाह की तरह नित्य नए रूप से प्रवहमान रहती है। उसको नित्य कहने वाले सत्य को समझ ही नहीं पाये हैं। सत्यता क्षणिकता में है, नित्यता में नहीं।

दोनों विचारक अपने प्रबल तर्कों के द्वारा अपने विचारों की पुष्टि और दूसरे के विचारों का खण्डन करने लगे। एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेपों का कीचड़ उछालने लगे। एक-दूसरे को असत्य-वादी, भ्रान्त एवं मिथ्यादृष्टि कहने लगे। दार्शनिक चिन्तन, आत्म-शान्ति का साधन बनने के स्थान पर संघर्ष का कारण बन गया और यत्र-तत्र दार्शनिक चर्चाओं के क्षेत्र-स्थान संघर्ष के, वैचारिक द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व, एवं मल्लयुद्ध के अखाड़े बन गए।

दर्शन साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है। बड़े-बड़े दार्शनिकों एवं विचारकों में कितना गहरा मतभेद, और कितना संघर्ष था। एक-दूसरे को अपमानित एवं पराजित करने के लिए तर्कों के कैसे दाँव-पेच खेले जाते थे। कभी-कभी अपने मत की विजय के लिए, अपने अहं को सुरक्षित रखने के लिए, अपनी

प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए सत्य का गला घोंटने में भी वे नहीं हिचकिचाते थे।

इन दार्शनिक द्वन्द्वों में विचारक एक-दूसरे को मारते नहीं, एक-दूसरे के शरीर को क्षत-विक्षत भी नहीं करते, एक-दूसरे के अंग-प्रत्यंगों को भी क्षति नहीं पहुंचाते, परन्तु एक-दूसरे की प्रतिष्ठा को, इज्जत को परिसमाप्त करने में वे गौरव की अनुभूति करते थे। और उनकी सारी शक्ति, सम्पूर्ण ताकत एक दूसरे को गिराने एवं परास्त करने में ही लगती थी।

श्रमण भगवान महावीर की भाषा में—प्राणवध ही हिंसा नहीं है, विचारों में प्रहार करना भी हिंसा है। व्यक्ति को प्राप्त हुए दस प्राणों में मन भी एक प्राण है, एक शक्ति है, और छः पर्यायों में से एक पर्याय है। और विचारों का उद्भव मन में होता है। अतः किसी के विचारों को आघात पहुंचाना भी वैचारिक हिंसा है।

इस वैचारिक हिंसा को एवं दार्शनिक संघर्षों को परिसमाप्त करने के लिए श्रमण भगवान महावीर ने एक आवाज उठाई, और सभी विचारकों से कहा—तुम संघर्ष करने के पहले सत्य को समझने का प्रयत्न करो। तुमने जो कुछ समझा है, देखा है, सत्य उतना ही नहीं है। सत्य विराट् है, व्यापक है उसे समझने के लिए अपनी दृष्टि को अपने अहंकार की कारा में वन्द करके मत रखो, अपनी ही दृष्टि से सब-कुछ मत देखो। अपने विचारों को, अपने हृदय को उदार बनाओ, अपनी दृष्टि को विशाल बनाओ। दूसरे के विचारों को अपने ही दृष्टिकोण से नहीं, उसके दृष्टिकोण से भी समझने का प्रयत्न करो। अपने विचार कहो, पर दूसरे के विचारों का तिरस्कार मत करो, फिर सत्य तुम्हारे सामने स्वतः ही प्रकट हो जायगा।

इतिहास बताता है, कि युग-युगान्तर से दार्शनिकों, विचारकों

वह नित्यानित्य है—द्रव्य की अपेक्षा नित्य, और पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है।

इसी प्रकार अन्य प्रश्नों का यथार्थ उत्तर अनेकान्त दृष्टि से दिया जा सकता है। आत्मा आत्म-द्रव्य की अपेक्षा से एक है। लोक में स्थित अनन्त-अनन्त आत्माओं का आत्म-स्वरूप एक-सा है। जड़ के साथ रहने पर भी उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। आत्म-प्रदेश में एवं उसके गुणों में किसी तरह का अन्तर नहीं आता है। छह द्रव्यों में जीव द्रव्य को एक कहा है, और इसी अपेक्षा से स्थानांग सूत्र में 'एगे आया'—'आत्मा एक है' ऐसा कहा है। इसमें समस्त आत्माओं का समावेश हो जाता है। भले ही वे मुक्त हों या संसारी। परन्तु व्यक्ति की अपेक्षा आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। सव का संवेदन एक-सा नहीं है। सब की अनुभूति में भी अन्तर परिलक्षित है, और सव आत्माएँ अपने ही पुरुषार्थ से अपना विकास करती हैं, और अपना पतन भी करती हैं। अस्तु, आत्म द्रव्य एक है, और व्यक्ति की अपेक्षा से आत्माएँ अनेक भी हैं।

सभी आस्तिक दर्शन इन विचारों में एकमत हैं। आत्मा निराकार है, परन्तु सभी एक मत से इस निर्णय पर नहीं पहुँच पाए, कि आत्मा सर्वत्र व्याप्त है या एक सीमित प्रदेश में स्थित है। दार्शनिकों में इसी प्रश्न पर संघर्ष चल रहा है। परन्तु अनेकान्त दृष्टि से विचार करने पर संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। उसमें इस प्रश्न का समाधान करने की क्षमता है।

जैन-दर्शन का कहना है, कि संसारी आत्मा संसार में शरीर के अभाव में रह नहीं सकती। हम स्वयं देखते हैं, कि शरीर के वाहर कहीं भी उसका अस्तित्व दिखाई नहीं देता। जव तक आत्मा जिस शरीर में रहती है, उस समय उस पर चोट लगने पर दुःख का संवेदन

होता है, और शरीर को आराम मिलने पर सुख की अनुभूति होती है। संवेदन, रागभाव, विषमभाव, वैराग्य एवं विकारों की परिणति शरीर में स्थित आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होती। इससे स्पष्ट है, कि संसारी आत्मा के आत्म-प्रदेश शरीर से बाहर नहीं हैं। मुक्त आत्मा भी जिस शरीर का परित्याग करके जिस आसन से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है, उसके आत्म-प्रदेश सिद्ध-शिला में भी उसके तीसरे भाग के स्थान को घेरकर रहते हैं। आत्म प्रदेश संपूर्ण लोक में नहीं बिखरते। सीमित क्षेत्र में ही रहते हैं। इस अपेक्षा से आत्मा व्यापक नहीं, अव्यापक है, असीम नहीं, सीमित क्षेत्र में रहता है। क्योंकि शरीर चाहे कितना ही छोटा, और कितना ही बड़ा क्यों न हो, फिर भी, उसकी एक सीमा है, एक मर्यादा है।

परन्तु दूसरी अपेक्षा से विचार करें, तो आत्मा व्यापक भी है। ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण और गुणी के अभेद की अपेक्षा ज्ञान को भी आत्मा कहा है। ज्ञान अनन्त है, असीम है। जब व्यक्ति अनन्त ज्ञान को अनावृत कर लेता है, तब वह ज्ञान की अपेक्षा संपूर्ण लोकालोक में व्याप्त हो जाता है। उसका ज्ञान लोक को भी देखता है, और अलोक-आकाश को भी देखता है। इसके अतिरिक्त केवली अपने अन्तिम काल में जब यह देखता है—आयुष्य कर्म और वेदनीय कर्म में समानता नहीं है, तब वह दोनों को समान कर के क्षय करने के लिए केवली समुद्घात करता है, उस समय वह अपने आत्म-प्रदेशों को संपूर्ण लोक में फैला देता है, और एक समय तक उसके आत्म-प्रदेश संपूर्ण लोक में व्याप्त रहते हैं। उसके अनन्तर वह उन्हें पुनः समेट कर अपने शरीर में ले आता है। अस्तु, ज्ञान की अपेक्षा एवं केवलीसमुद्घात की अपेक्षा आत्मा संपूर्ण लोक-व्यापी भी है।

भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शन आत्मा को अभौतिक मानते हैं। वस्तुत: आत्मा अभौतिक है। वह चैतन्य-शक्ति से युक्त है, कदापि अचेतन नहीं हो सकती। उसमें कभी न जड़ता थी, न जड़ता है, और न कभी जड़ता आएगी। अत: निश्चयदृष्टि से विचार करें तो उसके भौतिक होने का सवाल ही नहीं उठता।

परन्तु संसार में स्थित आत्मा कर्म के संयोग से शरीर से संवद्ध है, मन, वचन और काया के योग से युक्त है। व्यवहार भाषा में शरीर से युक्त प्राणी को भी जीव कहते हैं। अत: व्यवहार की अपेक्षा सजीव शरीर भौतिक भी है। अस्तु, अपेक्षा विशेष से जीव को आत्मा को भौतिक भी कहा है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के इस प्रश्न—"आया भन्ते ! काया, अण्णे काया"–आत्मा शरीर से भिन्न है या शरीर स्वरूप है" का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान महावीर ने कहा—"गोयमा ! आया वि काए, अण्णे वि काए"—"हे गौतम ! वह कथंचित्—किसी अपेक्षा से शरीर स्वरूप है, और शरीर से भिन्न भी है।" इससे यह स्पष्ट होता है, कि आत्मा अभौतिक है चेतनामय है, शरीर से भिन्न है, फिर भी व्यवहार में सशरीर परिलक्षित होता है।

आत्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहित है, उसका कोई आकार नहीं है। आकार उसी पदार्थ का होता है, जिसका रूप-रंग हो। आत्मा रूप-रंग से रहित है, इसलिए आकार से भी रहित है। निश्चय-दृष्टि से वह निराकार है। परन्तु संसार में स्थित आत्मा शरीर से युक्त होने के कारण व्यवहार की अपेक्षा वह साकार भी है। जिस प्रकार का शरीर मिलता है, उसका वही आकार बन जाता है।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है—एकान्त दृष्टि संघर्षों की उद्भावक है। उससे संघर्ष एवं हिंसा को बढ़ावा मिलता है। दार्शनिक

क्षेत्र में पारस्परिक तनाव, आक्षेप-प्रत्याक्षेप, विरोध-वैमनस्य आदि विषमता का कारण व्यक्ति की एकान्तदृष्टि एवं अपने विचारों का आग्रह-दुराग्रह ही है।

अस्तु, हिंसा से बचने के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, कि हम पहले अपनी दृष्टि को बदले, अपने विचारों को बदलें, अपने चिन्तन-मनन की धारा को बदलें। यह कहावत नितान्त सत्य है—"जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।" व्यक्ति का व्यवहार दृष्टि के अनुरूप ही बनता विगड़ता है। यदि दृष्टि अनेकान्त है, तो व्यवहार भी अनेकान्त से अछूता नहीं रहेगा। और जब विचारों में एवं व्यवहार में अनेकान्त रहेगा, तब हिंसा एवं संघर्षों को पनपने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इसलिए अहिंसा के साथ अनेकान्त का घनिष्ठ सम्बंध है। अनेकान्त के अभाव में अहिंसा का सम्यक् पालन होना संभव नहीं है। पूर्ण अहिंसक बनने के लिए यह जरूरी है—जो कुछ सोचें, जो कुछ विचारें, जो कुछ कहें, और जो कुछ करें, वह सब सापेक्ष दृष्टि से सोच-विचार कर करें। तभी हम संपूर्ण संघर्षों एवं संघर्षों के कारणों से मुक्त होकर अनन्त शान्ति को पा सकेंगे।
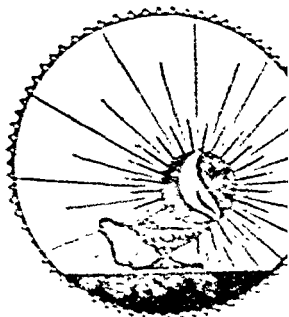
सुह-दुक्ख संपओगो न विज्जई निच्चवाय-पक्खंमि।
एगंतुच्छेअम्मि य, सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं॥
—आचार्य भद्रबाहु : दशवै० नि० ६०

एकांत नित्यवाद के अनुसार सुख-दुःख का संयोग संगत नहीं बैठता, और एकांत उच्छेदवाद—अनित्यवाद के अनुसार भी सुख-दुःख की बात उपयुक्त नहीं होती। अतः नित्यानित्य-वाद ही इसका सही समाधान है।

जीवन के सम्बन्ध में अनेक विचारकों ने सोचा है, समझा है, और कहा है। सब ने अपने-अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। उनमें से एक विचारक का कहना है—"जीवन एक संघर्ष है" व्यक्ति संघर्षों में जन्म लेता है ओर जीवन की अन्तिम साँस तक संघर्ष करता रहता है। वह संघर्ष करते-करते आगे बढ़ता है, ऊपर उठता है और एक दिन चला जाता है। जब तक जीवन है, तब तक संघर्ष है, संघर्ष की समाप्ति का अर्थ है, जीवन की परिसमाप्ति।

जीवन में दो प्रकार का संघर्ष चलता हैं—एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य, एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक–व्यावहारिक। व्यक्ति अपने अन्दर भी लड़ता है, झगड़ता है, संघर्षरत रहता है, और बाहर भी लड़ता, झगड़ता एवं संघर्ष करता रहता है। अन्दर

के संघर्ष को आध्यात्मिक या आन्तरिक संघर्ष कहते हैं, और बाहरी झगड़े को व्यावहारिक या भौतिक संघर्ष कहते हैं।

आत्मा के शुद्ध विचारों एवं विकारीभावों में संघर्ष चलता रहता है। राग-द्वेष विकारी भाव हैं, और वीतरागता एवं समता स्वाभाविक हैं। इन स्वभाव और विभावों में घर्षण होता रहता है। जब व्यक्ति समभाव के द्वारा राग-द्वेष पर विजय पा लेता है, तब वह विकास के पथ पर बढ़ता हुआ एकदिन पूर्ण विकास कर लेता है, और सांसारिक जीवन का अन्त कर देता है। फिर उसकी आत्मा में केवल स्वाभाविक गुण रहते हैं, वह अपने स्वभाव में परिणत होता रहता है, अतः संघर्ष को अवकाश ही नहीं रहता। संघर्ष तब तक बना रहता है, जब तक विभाव रहता है, व्यक्ति स्वभाव से हट कर विभाव में परिणत होता रहता है।

स्वभाव पर विभाव का, वैभाविक गुणों का आधिपत्य होना ही संघर्ष का मूल कारण है। अस्तु, संघर्ष का मूल है–राग-द्वेष। इसी के कारण जीवन में बाह्य संघर्ष देखे जाते हैं। मैं आपको बता चुका हूँ, कि संघर्ष पहले मन में, विचारों में जन्म लेते हैं, उसके बाद वे शब्दों एवं हाथों में अवतरित होते हैं।

हमने कल दार्शनिक संघर्षों पर विचार किया, और उनको समाप्त करने के साधन पर भी सोचा। आपने यह भली-भाँति समझा होगा, कि जब विचारकों के मत में अपने विचारों का–भले ही वे सत्य हों या न हों, आग्रह-दुराग्रह रहता है, अपने विचारों पर राग-अनुराग, और दूसरे के विचारों के प्रति द्वेष, नफरत एवं घृणा रहती है, तब परस्पर संघर्ष होता है। उसका समाधान है—विचार सहिष्णुता रखना, और समभाव एवं निष्पक्ष दृष्टि से प्रत्येक विचारक के विचारों को समझना और परखना। मैंने कल आपको

बताया था—एकान्त दृष्टि संघर्ष का कारण है। क्यों कि वह पक्ष-पात एवं राग-द्वेष से युक्त है और अनेकान्त दृष्टि संघर्षों को परि-समाप्त करने वाली है—क्यों कि वह पक्षपात से रहित है और समभाव एवं सहिष्णुता की अभिवृद्धि करने वाली है। एकान्तवाद संघर्षों की परम्परा का मूल स्रोत है, और अनेकान्तवाद संघर्षों की समाप्ति का मूल कारण। एकान्त में संघर्ष है, और अनेकान्त में शान्ति का अनन्त सागर ठाठें मार रहा है।

वर्तमान युग में दार्शनिक संघर्ष नहीं रहे। आज हमें कहीं भी दार्शनिक चर्चाओं, द्वन्द्वों-प्रतिद्वन्द्वों के अखाड़े खोजने पर भी कहीं परिलक्षित नहीं होते। आज दार्शनिक संघर्षों के स्थान में पारिवारिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनैतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का बोलबाला है। साम्प्रदायिक, जातीय, राष्ट्रीय, एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष पहले की अपेक्षा बढ़े हैं, और प्रतिदिन उग्र से उग्रतर और उग्रतम होते जा रहे हैं।

इन संघर्षों के मूल में राग-द्वेष एवं राग-द्वेष-जन्य एकान्त दृष्टि ही है। जब प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को श्रेष्ठ मान कर दूसरे को अपने से निम्न श्रेणी का बताकर उसकी आलोचना करता है, उसके प्रति लोगों के मन में नफरत एवं घृणा के भाव भरता है, तो परस्पर टकराना एवं संघर्ष होना सहज एवं स्वाभाविक है।

हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों में, मुसलमानों के शिया और सुन्नियों में, ईसाइयों के प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथोलिक सम्प्रदायों में, बौद्धों के हीनयान और महायान पन्थों में, हिन्दुओं के शैव, शाक्त, वाममार्गी, तांत्रिक, सगुण पंथी आदि विभिन्न पन्थों में तथा जैनों के दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरहपन्थी सम्प्रदायों में चलने वाला जो संघर्ष है, उसका आधार साम्प्रदायिक व्यक्तियों के कलुषित मन में रहा हुआ व्यामोह एवं असहिष्णुता ही है।

जैनधर्म का मूल अनेकान्त है। अनेकान्त उसका प्राण रहा है। प्रत्येक युग में होने वाले तीर्थंकरों ने अनेकान्त का आघोष किया है। आज भी हम अनेकान्त की व्याख्या करते हैं, अनेकान्त का उपदेश देते हैं, और अपने आपको अनेकान्तवादी कहने में गौरवानुभूति करते हैं। परन्तु दुःख इस बात का है, कि विचार में अन्तर्निहित अनेकान्त आचार में, व्यवहार में नहीं उतर पाया है। यदि अनेकान्त जीवन में साकार रूप ग्रहण कर लेता, तो न दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जन्म होता, और न श्वेताम्बर परंपरा में मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी एवं तेरहपंथी का उदय होता, और न इनमें उप-सम्प्र-दायों का उद्भव होता। सम्प्रदायों के जन्म क कारण उनके जन्म-दाताओं के मन में रहा हुआ अपनेपन का व्यामोह और एकान्त दृष्टि का आग्रह ही मुख्य रहा है।

यदि हम सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करें, तो जैन परंपरा की चारों सम्प्रदायें–दिगम्बर, मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी और तेरहपन्थ —अरिहन्त को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म को धर्म मानती है, चारों का नमस्कार मन्त्र एक है, आराध्य देव एक है। तत्व—नव या सात एक है, छह द्रव्य की मान्यता एक है। सैद्धान्तिक दृष्टि से चारों सम्प्रदाय एक-दूसरे के बहुत निकट हैं, उनमें ऐसा अन्तर नहीं है, जिसे मिटाया न जा सके। विचारों में इतना अन्तर नहीं है, जितना आचार में, व्यवहार में आ गया है। जो थोड़ा-बहुत अन्तर आया है, उसका आग्रह एवं दुराग्रह इतना अधिक हो गया है, उसकी खाई को, तब तक पाटना कठिन है, जब तक अपने विचारों का आग्रह एवं व्यामोह छोड़कर निष्पक्ष दृष्टि से विचार नहीं किया जाए। अपनेपन के व्यामोह के कारण ही साम्प्र-दायिक झगड़े उभरते हैं। मन्दिरों को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर

परंपरा का संघर्ष कभी-कभी इतना उग्ररूप धारण कर लेता है, कि लाठियाँ एवं गोलियाँ भी चल पड़ती हैं, और अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए दोनों कोर्ट के द्वार खटखटाते हैं। इससे अधिक लज्जास्पद बात और क्या हो सकती है—वीतराग के उपासक राग-द्वेष के प्रवाह में प्रवहमान होकर परस्पर लड़ें-झगड़ें, और एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करें।

इसी प्रकार आज जो राजनैतिक पार्टियाँ एवं सामाजिक गुटों में संघर्ष चल रहा है, उसमें भी अपने एवं अपनी पार्टी को ही देश एवं समाज के लिए हितकर मानने, और अन्य पार्टियों को अहितकर मानने का दुराग्रह ही मूल कारण है। कम्युनिस्ट हो या काँग्रेसी, समाजवादी हो या प्रजा-समाजवादी, जनसंघ हो या स्वतंत्र इत्यादि पार्टियाँ—सब के देखने का एक ही दृष्टिकोण है, कि देश में शासन एवं व्यवस्था करने की योग्यता हमारे में है, अन्य में नहीं। सभी पार्टियाँ देशहित को नहीं, अपने एवं अपनी पार्टी के स्वार्थ को सब से अधिक महत्त्व देती हैं। अपने से भिन्न पार्टी के विचारों को सहिष्णुता से सुनना, और देशहित को सर्वोपरि मानकर उसके साथ सहयोग करना अभी तक किसी भी पार्टी में दिखाई नहीं देता। इसी का परिणाम है कि पार्टियों में रात-दिन संघर्ष होते रहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी संघर्ष का कारण है अपने विचारों को दूसरों पर लादने का आग्रह। आज के माने हुए विश्व के दो बड़े राष्ट्र—रूस और अमरीका, रात-दिन इसी उधेड़-बुन में लगे रहते हैं, कि दुनिया के कोने-कोने में हमारे विचार फैला दें। प्रत्येक राष्ट्र हमारे विचारों को स्वीकार करे, और उसी के अनुरूप काम करे। विश्व में यदि शान्ति स्थापित हो सकती है, तो हमारे विचारों को कार्यान्वित करने से ही हो सकती है। रूस का यह आक्षेप रहा है—

अमरीका की साम्राज्यवादी विचारधारा विश्व के लिए खतरनाक है, इसके कारण विश्व विनाश के कगारे पर खड़ा है। उसे यदि खतरे से बचाना है, तो हमारी साम्यवादी नीति को स्वीकार करें। साम्य-वाद से ही समस्त समस्याओं का हल हो सकता है।

इसके विपरीत अमरीका यह प्रचार कर रहा है—अमरीका को ही नहीं, संपूर्ण विश्व को साम्यवाद से खतरा है। रूस और चीन विश्व के खतरनाक शत्रु हैं। इनके पंजों से हम ही सब को बचा सकते हैं, और दुनिया को सुख-शान्ति दे सकते हैं। यदि विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है, तो अमरिकन विचारों के अनुसार कार्य करने से ही हो सकती है।

दोनों सशक्त राष्ट्रों को अपने विचारों का आग्रह है। वे अपने विचारों को—चाहे वे विश्व के लिए हितकर हों—या न हो-मजबूत बनाकर तथा दूसरे के विचारों की शक्ति को परिसमाप्त करके विश्व पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं। इसी के लिए रात-दिन अनेक तरह के दाँव-पेंच खेलकर विश्व के राष्ट्रों को येन-केन-प्रकारेण अपने गुट में मिलाने का प्रयत्न किया जाता है। उन्हें प्रलोभन देकर या भय दिखाकर अपनी ओर आकर्षित करने के घिनौने प्रयत्न ही आज की राजनीति का एक सिद्धान्त बन गया है, और यह नीति ही संघर्षों का कारण है।

अपनी शक्ति बढ़ाकर दूसरे को नष्ट करने की दृष्टि से शस्त्रों की मारक शक्ति को बढ़ाया गया, और उससे भी अधिक बढ़ाया जा रहा है। अणु और उद्‌जन बम्ब तथा नाइट्रोजन बमों का निर्माण इसीलिए किया गया, कि इनकी विध्वंसक शक्ति से भयभीत होकर दुनिया हमारी शरण में आकर हमारी नीति को स्वीकार कर ले। इस नीति को दुर्नीति ने विश्व को विनाश के कगारे पर लाकर खड़ा कर दिया।

भी हैं। परन्तु दुनियाँ में ऐसी कोई समस्या एवं उलझन नहीं हैं, जिसे सुलझाया न जा सके। उसको सुलझाने के दो तरीके हैं—एक शक्ति और दूसरी सद्भावना। जब व्यक्ति दूसरे के विचारों का तिरस्कार करके अपने ही विचारों पर अड़ जाता है और अपनी ताकत से अपने विचार दूसरों पर थोपने का प्रयत्न करता है, तब वह समस्या सुलझने के स्थान पर और उलझ जाती है, और संघर्ष में उग्रता आ जाती है। परन्तु जब व्यक्ति शान्ति और सहिष्णुता के साथ दूसरों के विचारों को सुनता है, और शान्त मस्तिष्क से उस पर विचार करता है, और समस्या पर अपने ही दृष्टिकोण से नहीं. दूसरे पक्ष के दृष्टि-बिन्दु से सोचता है, तो समस्या का समाधान मिल ही जाता है। संघर्ष शान्ति के रूप में परिणत हो जाता है।

समस्याओं को सुलझाने के लिए आज जो तरीका अपनाया जा रहा है, वह पहला तरीका है। शक्ति से समस्याएँ सुलझती नहीं, उलझती हैं, अपने विचारों को समझाया जा सकता है, तर्क के द्वारा दूसरे के दिमाग में जँचाया जा सकता है, परन्तु दूसरों पर विचारों का बोझ लादा नहीं जा सकता। किसी पर जबरदस्ती से विचारों का बोझ लादना भी अन्याय है, अत्याचार है, और हिंसा है।

इसलिए जैन-दर्शन का सदा से स्पष्ट आघोष रहा है—किसी के दिमाग पर विचारों को लादो मत, किसी के विचारों पर प्रहार मत करो, किसी के विचारों का तिरस्कार भी मत करो, और किसी के विचारों को बिना सोचे-समझे एकदम मिथ्या कहने का प्रयत्न मत करो।

दुनिया में समस्याएँ सदा से रही हैं, आज भी हैं, और जब तक संसार रहेगा, तब तक समस्याएँ भी बनी रहेंगी। प्रत्येक व्यक्ति की

"भारत की उतनी ही समस्याएँ हैं, जितनी भारत की जनसंख्या है।" हाँ, तो परिवार के सामने भी अपनी समस्याएँ हैं, सम्प्रदायों के समक्ष भी अपनी समस्याएँ हैं, प्रत्येक राष्ट्र के अन्दर अपनी समस्याएँ हैं। समस्याओं से परिवार, समाज, सम्प्रदाय, राष्ट्र एवं विश्व कोई भी मुक्त नहीं है।

परन्तु उनको सुलझाने के लिए सर्वप्रथम विचार सहिष्णुता का होना आवश्यक है। और साथ में सब की स्थिति को समझने की, परखने की विशाल दृष्टि और सब को अपने अन्दर समाविष्ट करने का उदार हृदय भी होना चाहिए। जब व्यक्ति सहयोग एवं सद्-भावना के साथ विचार करता है, तो कोई भी समस्या एवं उलझन ऐसी नहीं रहती, जो सुलझ न सके। आवश्यकता इसी बात की है—हम जो कुछ करें, ईमानदारी, प्रामाणिकता एवं सच्चाई के साथ करें। प्रत्येक बात को अनेक दृष्टिकोणों से समझने का प्रयत्न करें, फिर देखें परिवार, समाज, सम्प्रदाय, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संघर्षों का अन्त होकर प्रेम, स्नेह एवं शांति की सरिता बहती है या नहीं।

कहने का अभिप्राय यह है—अनेकान्त केवल दार्शनिक समस्याओं के समाधान तक ही सीमित नहीं है, उसके द्वारा परिवार से लेकर विश्व तक का तमाम समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। अनेकान्त व्यक्ति व्यक्ति के हृदय को तोड़ना नहीं, जोड़ना सिखाता है, वह सब को समन्वित होकर, एक बनकर रहने एवं काम करने की कला सिखाता है। अस्तु, अनेकान्त में सभी संघर्षों का अन्त हो जाता है। जहाँ अनेकान्त है, वहाँ सर्वत्र शान्ति का सागर ठाठें मारता है।

★

ज्ञान कर्म के पंख कट रहे,
मानव का हो रहा पतन !
अधम कीट-सा रेंग रहा है,
क्यों कर हो अब ऊर्ध्वगमन !!

●

आत्मबोध के विमलस्रोत में,
अन्तर-मल को धोलो ।
और सभी कुछ पीछे, पहले
मन के बन्धन खोलो ॥

समाज क्या है ?

व्यक्ति के साथ समाज का क्या सम्बन्ध है ?

व्यक्तियों के समूह को, उनके पारस्परिक हितों को, उनके पारस्परिक सहयोग को समाज कहते हैं। अपने हित एवं अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए, एवं अपने आपको व्यवस्थित तथा शक्ति-संपन्न बनाए रखने के लिए व्यक्ति मिलकर समाज की रचना करते हैं। समाज से अलग-अलग होकर कोई व्यक्ति सुचारु रूप से अपना जीवन नहीं चला सकता, और न अपने आपको सुव्यवस्थित ही रख सकता है।

व्यक्ति के लिए समाज का, सामाजिक संगठन का महत्त्व है। उसके व्यक्तिगत विकास एवं पारिवारिक विकास में समाज के

महत्त्वपूर्ण सहयोग के बिना व्यक्ति न अपने जीवन में गति-प्रगति कर सकता है, न अपने आपको आगे बढ़ा सकता है, न अपने जीवन की सुव्यवस्था रख सकता है, और न पारिवारिक दायित्व को निभा सकता है, तथा न पारिवारिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं को ही भली-भाँति सुलझा सकता है।

व्यक्ति का जीवन समाज से सम्बद्ध है। इसका प्रत्येक कार्य दूसरे के सहयोग से ही पूरा होता है, यदि उसे समाज एवं सामाजिक व्यक्तियों का समय पर उचित सहयोग न मिले, तो उसका कोई भी कार्य पूरा नहीं हो सकता। इस दृष्टि से व्यक्ति समाज के साथ रहता है. और समाज के साथ ही उसकी शोभा है। अस्तु, हम समाज से भिन्न व्यक्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते।

व्यक्ति समाज पर आधारित है, तो समाज व्यक्ति पर टिका हुआ है। समाज के लिए व्यक्ति का महत्त्व कुछ कम नहीं है। व्यक्ति –भले ही इकाई है, परन्तु वह समाज की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। व्यक्ति के सहयोग पर ही समाज का अस्तित्व टिका हुआ है। समाज के विकास और ह्रास में, प्रगति और पतन में व्यक्ति का ही हाथ रहा हुआ है। व्यक्ति जब प्रगति के पथ पर बढ़ता है, तो समाज को भी प्रगति की ओर ले जाता है। और जब वह अपने पथ से फिसलने लगता है, नीचे की ओर लुढ़कने लगता है, तो समाज को भी पतन के महागर्त में ढकेल देता है। उसके विकास और ह्रास पर, उसके अपने उत्थान और पतन पर, समाज का उत्थान-पतन आधारित है।

समाज का आधार स्तंभ व्यक्ति है। व्यक्ति के गिरने पर समाज को क्षति न पहुँचे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि मकान का स्तम्भ गिरता है, तो मकान भी ध्वस्त होगा ही। व्यक्ति को होने वाली क्षति समाज की क्षति है, और व्यक्ति के उत्थान में समाज

का उत्थान होता ही है। व्यक्ति का जैसा भी आचरण होता है, समाज पर उसका प्रतिविम्व पड़े विना नहीं रहता।

समाज में व्यक्ति है और व्यक्ति में समाज है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से सम्वद्ध हैं। जैसे समाज से अलग व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही व्यक्ति से भिन्न समाज की परिकल्पना करना भी संभव नहीं है। जल के विन्दु समुद्र से अलग नहीं हैं, तो समुद्र भी जल-बिन्दु से रहित नहीं है। यह कहावत पूर्णतः सत्य है–"सिन्धु में बिन्दु, और विन्दु में सिन्धु रहा है।" यदि पानी की बूंदों को समुद्र से निकाल दिया जाए, तो सागर का अस्तित्व नहीं रहेगा, और यदि सागर न रहे, तो पानी के बिन्दुओं का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। सागर बूँदों को स्थान देता है, तो जल विन्दु सागर के अस्तित्व को वनाए हुए हैं। उसी प्रकार समाज व्यक्ति के लिए आधारभूत है, तो व्यक्ति समाज की शोभा को बढ़ाने वाला है, उसके अस्तित्व को सुरक्षित रखने वाला है।

व्यक्तियों से ही समाज वना है। परन्तु केवल समूह को ही समाज कहना उचित नहीं होगा। हम देखते हैं कि चींटी से लेकर हाथी पर्यंत प्रत्येक प्राणी समूह में रहता है। चाहे जिस जाति के प्राणियों के जीवन को देखें, वे समूह में ही मिलेंगे। चींटियाँ, मधु-मक्खियाँ एवं अन्य कीड़े-मकोड़े सब अपना समूह वनाकर रहते हैं, और सव मिल-जुलकर अपना काम करते हैं। पक्षियों को देखिए–उनके भी अपने दल हैं। वे पंक्तिवद्ध होकर अनन्त आकाश में उड़ानें भरते हुए दिखाई देते हैं। पशुओं को देखिए–भेड़-बकरियाँ, गायें-भैंसें भी एक समूह में जंगलों में चरती हुई दिखाई देंगी। जंगलों में चौकड़ी भरती हुई मृगों की टोलियाँ कितनी सुहावनी प्रतीत होती हैं। पर, क्या इनके समूह को भी समाज कहेंगे? साहित्यकारों एवं

प्रबुद्ध विचारकों ने इनके समूह को, झुण्ड को समाज नहीं, समज कहा है। पशु-पक्षियों की टोलियों को समाज कीं नहीं, समज की संज्ञा दी गई है।

समज और समाज में अक्षर रचना की दृष्टि से सिर्फ एक मात्रा का ही अन्तर है। दोनों में 'अ' और 'आ' की मात्रा के अतिरिक्त सब समानता है। परन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों में वहुत बड़ा अन्तर है। और वह इतना गहरा है–जितना आकाश और पाताल में रहा हुआ है। संस्कृत साहित्य एवं व्याकरण का अनुशीलन-परिशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समूह-समूह में कितना अन्तर है, कितना भेद है, और कितनी भिन्नता है। समूह एक-सा प्रतीत होता है, परन्तु अर्थ दोनों के भिन्न हैं।

प्रबुद्ध विचारकों ने उन व्यक्तियों के समूह को समाज कहा है–जिनके पास अपनी समझ है, अपनी बुद्धि है, अपना मनन-चिन्तन है, प्रत्येक व्यक्ति के विचारों का सम्मान करते हैं, और अपना विवेक है जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति का आदर करते हैं, परन्तु अपने कदम अपनी बुद्धि से सोच-समझकर रखते हैं। वे दूसरे विचारकों का तिरस्कार एवं अपमान तो नहीं करते, परन्तु उन्हें अपने चिन्तन एवं अनुभव की कसौटी पर कसकर परखने के बाद ही स्वीकार करते हैं। वे न तो अन्धविश्वास के प्रवाह में बहकर किसी बात पर विश्वास करते हैं, और न किसी के विचार एवं आचार का अन्धानुकरण ही करते हैं। वे जो कुछ करते हैं, विवेक एवं ज्ञान की आँखों को खुला रखकर करते हैं, और ईमानदारी एवं प्रामाणिकता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

पशु-पक्षियों के समूह की स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत है। उनके जीवन में ज्ञान-चेतना का इतना विकास नहीं होता, कि वे

स्वतः सोच सकें, विचार कर सकें। एवं चिन्तन के द्वारा अपने मार्ग का निर्णय कर सकें। वे अपनी परंपरा से चले आ रहे मार्ग पर आँख मूँदकर चलते हैं। न उसमें सुधार करते हैं और न बिगाड़ ही। उनके रहन-सहन के तरीके जो युग-युगान्तर से चले आ रहे हैं, वे ही आज हैं, और वे ही कल रहेंगे। वे यदि कभी चलते-चलते इतस्ततः भटक जाते हैं, तो स्वयं मार्ग पर नहीं आ पाते, उन्हें मार्ग पर लाने के लिए चरवाहे का डंडा ही उपयुक्त रहता है। यदि राह चलते कोई भेड़, बकरी, गाय या अन्य पशु किसी के खेत में चर्वण करने को घुस जाता है, तो ग्वाला, चरवाहा, तुरन्त डंडा लेकर पहुँचता है, और उन्हें घेर-घार कर मार्ग पर ले आता है। उन्हें ठीक राह पर चलाने के लिए चरवाहे की आवश्यकता रहती है। वे अपनी समझ से कहीं आ-जा नहीं सकते, उन्हें चरवाहा जिधर चाहे हांक कर ले जाता है। उनका मार्ग ग्वाले की इच्छानुसार ही होता है। उनका मार्ग ग्वाले की इच्छा पर निर्भर है, न कि अपनी इच्छा पर। इसलिए जो अपनी समझ से अपने मार्ग का निर्णय करने में सक्षम एवं समर्थ नहीं है, उस पशु-समूह को समाज कहते हैं।

परन्तु सामाजिक व्यक्ति अपनी समझ से काम लेता है। उसमें चिन्तन-मनन करने की शक्ति है और अपना मार्ग बनाने की क्षमता है। वह केवल परम्पराओ की लीक पर ही चलना पसन्द नहीं करता, और न लकीर का फकीर ही बनना चाहता है। वह स्वयं अपने मार्ग का निर्माता बनना चाहता है और, उसमें यह क्षमता है भी। वह केवल दूसरे के संकेतों पर ही निर्भर नहीं है। जो अपने आप पर विश्वास करके अपने कदम उठाता है, वही प्रगति के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचता है।

जिस व्यक्ति को, जिस समाज को अपने पर विश्वास नहीं है, जिसमें अपनी ज्ञान-चेतना नहीं है, जिसका अपना चिन्तन-मनन

अधिक मात्रा में शराब और बियर भी पिला दी। अमावस्या के दिन दोनों भाई और दोनों पक्षों के निर्णायक नौका के अन्दर आकर बैठ गए। ठीक दस वजे रात को नाकाओं को सरिता की धारा में आगे बढ़ाने का विगुल वजा, और दोनों ओर से जोर-शोर से डांडे चलने लगे। मदिरा के नशे में झूमते हुए नाविक खूब जोर लगा रहे थे। रात-भर परिश्रम करते रहे, आकाश में पूर्व की ओर लालिमा छा गई, और देखते-देखते सूर्य की प्रथम किरण ने सारे आकाश और धरती को आलोक से भरना प्रारम्भ कर दिया। दोनों पक्षों के दोनों निर्णायक नौकाओं पर से बाहर आए, और दोनों ओर से विगुल वज उठा। नौका के भीतरी भाग में आराम से सो रहे दोनों भाई बाहर निकले, और आश्चर्यान्वित दृष्टि से देखने लगे, कि क्या बात है— दोनों नौकाएँ अपने-अपने स्थान पर ही कैसे खड़ी हैं? ठीक तरह से निरीक्षण-परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि रात भर–डांडे तो चलते रहे, परन्तु नशे में निमज्जित होने के कारण दोनों में से एक भी नाविक को तट पर खूंटों से आवद्ध नौका को खोलने का भान ही नहीं रहा। वन्धनों से आवद्ध नौका आगे बढ़े तो कैसे वढ़े?

इस कथा को सुनकर आप हँस रहे होंगे। कितने मूर्ख थे वे नाविक, जो रात भर मेहनत करते रहे, परिश्रम करते रहे, परन्तु नौका को तट के वन्धन से मुक्त करने का प्रयत्न नहीं किया। परन्तु उन पर हंसने वाले विचारकों को जरा अपने जीवन में झाँककर देखना चाहिए कि कहीं हम तो वही गलती नहीं कर रहे हैं।

आज व्यक्ति सामाजिक रूढ़ियाँ, परंपराओं एवं साम्प्रदायिक आग्रहों से इतना गहरा चिपट गया है, कि उसे उसके अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। परंपराएँ एवं रूढियों उसके लिए "वावा वाक्यं प्रमाणम्" वन गई हैं। उसका स्वतंत्र चिन्तन-मनन रहा ही

नहीं। उसकी बुद्धि कुंठित हो गई है। वह सोचता भी है, विचारता भी है, और कर्म भी करता है। चिन्तन एवं क्रिया दोनों चल रही हैं; परन्तु सामाजिक एवं साम्प्रदायिक खूंटे के बन्धन से मुक्त नहीं है। जो कुछ सोचता है, जो कुछ करता है, खूंटे से बँधे हुए ही कर रहा है। इसलिए न तो व्यक्ति के जीवन में विकास हो रहा है, और न सामाजिक जीवन में प्रगति आ रही है।

जीवन में विकास तब तक नहीं आ सकता, जब तक हम परंपराओं एवं आग्रहों के खूंटों से आबद्ध रहेंगे, और रूढ़ियों के व्यामोह से मुक्त नहीं होंगे। फिर तो हमारी वही गति होगी जो घाणी के बैल की होती है। वह दिन-भर चक्कर लगाता है। आँखों पर पट्टी बंधी होने से वह देख नहीं पाता, कि कहाँ चल रहा है। परन्तु अपने मन में सोचता है कि मैंने आज बहुत-सा रास्ता तय कर लिया है। परन्तु काम समाप्त होने पर तेली जब उसकी आँखों पर की पट्टी हटाता है तो वह अपने आपको उसी स्थान पर खड़ा देखकर—जहाँ से उसने यात्रा प्रारंभ की थी, वहीं खड़ा है, वह निराश ही होता है।

याद रखिए जब तक आप अपने विचारों पर से परंपराओं एवं रूढ़ियों के आग्रह की पट्टी नहीं हटाएँगे, तब तक आपके जीवन का विकास संभव नही है। व्यक्ति जब किसी भी परंपरा से बंध जाता है, और उससे ऊपर उठकर सोचने का प्रयत्न ही नहीं करता, तो उसका विकास तो अवरुद्ध हो ही जाता है, साथ में समाज का विकास भी नहीं हो पाता। समाज का विकास, उत्थान एवं प्रगति व्यक्ति के विकास पर ही आधारित है।

यह नितान्त सत्य है—खूंटों से पशु ही बांधे जाते रहे हैं, बाँधे जा रहे हैं, और बांधे जाते रहेंगे। मनुष्य जब अपने आपको किसी

खूंटे से बांध लेता है, तो उसे क्या कहा जाए ? इसका यह अभिप्राय नहीं है, कि आप किसी भी विचारधारा का, किसी भी परंपरा का अध्ययन ही न करें। परन्तु मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ—जो कुछ अध्ययन करें, पक्षपात से ऊपर उठकर करें, परंपराओं के खूंटों से मुक्त-उन्मुक्त होकर करें। जब व्यक्ति का चिन्तन बन्धन-मुक्त होगा, तब ही वह अपने जीवन का सही दिशा में विकास कर सकेगा, और समाज में नई चेतना ला सकेगा। आवश्यकता इसी बात की है, कि व्यक्ति अपने आपको समझे, और अपने चिन्तन-मनन एवं विचारों को नया मोड़ देने का प्रयत्न करे, फिर व्यक्ति का जीवन भी बदलेगा, और उसके साथ समाज भी गति-प्रगति किए बिना नहीं रहेगा। यह कदापि न भूलें—व्यक्ति के विकास में समाज का विकास निहित है, और प्रगतिशील समाज के धरातल पर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का फूल विकसित होता है। ★

समभाव और ध्यान

●

सामायिक का मूल अर्थ 'समता भाव' है, समत्व-की साधना है। और यह भूल नहीं जाना है कि समत्वयोग ही ध्यान साधना का मुख्य आधार है। जब मन समत्व में स्थिर होगा, तभी वह ध्यानयोग का आनन्द प्राप्त कर सकेगा। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

न साम्येन विना ध्यानं न ध्यानेन विना च तत्
निष्कम्पं जायते तस्माद् द्वयमन्योन्यकारणम्

—योगशास्त्र ४।११४

समभाव का अभ्यास किए विना ध्यान नहीं होता और ध्यान के विना निश्चल समत्व की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए समभाव और ध्यान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं और घटक भी।

११

अपरिग्रह और समाजवाद

तक वह व्यक्ति कहलाता है। परन्तु जब वह अपने स्वार्थ को अपने हित को, अपने लाभ को परिवार तक विस्तृत करता है, और पूरे परिवार के स्वार्थ, हित, विकास एवं लाभ को सामने रखकर सोचता है, तो व्यक्ति परिवार बन जाता है। और जब वह अपने विचारों की परिधि को परिवार से आगे बढ़ाकर समाज एवं राष्ट्र तक फला देता है, समाज और राष्ट्र के हित-अहित में एवं सुख-दुःख में अपना हित-अहित, अपना सुख दुःख अनुभव करने लगता है, तब उसमें ही समाज एवं राष्ट्र परिलक्षित होने लगता है। जब उसका चिन्तन, मनन एवं विचार परिवार, समाज एवं राष्ट्र के सीमित घेरों को लांघकर सम्पूर्ण मानव जाति के सुख-दुःख के चिन्तन में लग जाता है, मानव-मानव के साथ घुल-मिल जाता है, विश्व-बन्धुत्व की भावना को साकार रुप देता हैं, तव वह स्वयं विश्वमय बन जाता है, उसमें विश्व झलकने लगता है। व्यक्ति विश्व से भिन्न नहीं है, और विश्व व्यक्ति से रहित नहीं है।

मैं आपको बता रहा था—परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में व्यक्ति का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, अभी है, और भविष्य में भी बना रहेगा। क्यों कि व्यक्ति के सुमेल से ही परिवार, समाज, राष्ट्र, एवं विश्व बना है, और व्यक्ति के विकास पर उनका विकास आधारित है।

जब व्यक्ति अपने विचार को, अपने आचार को, अपने कर्म—परिश्रम को विश्व-हित, राष्ट्र-हित, समाज-हित, एवं परिवार-हित से समेटकर अपने हित में ही केन्द्रित कर लेता है, अपनी स्वार्थपूर्ति में ही सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है, और अपने स्वार्थ को ही सबसे अधिक महत्व देने लगता है, तब परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में भी अव्यवस्था फैल जाती है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति की स्वार्थी मनोवृत्ति

परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को भी प्रभावित करती है, और जहाँ-तहाँ-सर्वत्र स्वार्थ साधने की भावना जागृत होने लगती है, और सब अपने स्वार्थ को पूरा करने में लग जाते हैं। वे एक दूसरे-के हित को भूलकर अपना हित साधने, अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने में संलग्न हो जाते हैं। भले ही उससे दूसरों के हितों, और अधिकारों का अपहरण ही क्यों न होता हो।

जब इस प्रकार की प्रवृत्ति चल पड़ती है कि व्यक्ति जिस परिवार, समाज एवं राष्ट्र के सहयोग पर जीवित है और जिसके सहयोग पर ही उसका प्रत्येक कार्य चल रहा है, उसी के हितों, सुखों एवं अधिकारों का अपहरण करके अपना पोषण करने लगता है, तब परिवार, समाज एवं राष्ट्र में स्थित व्यक्ति-व्यक्ति के मन में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा हो जाता है, और उनमें असन्तोष फैलने लगता है।

भारतीय इतिहास एवं विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है—जब भी व्यक्ति अपने के वशीभूत होकर परिवार, समाज एवं राष्ट्र के व्यक्तियों का शोषण करने लगा, उन्हें प्रताड़ित एवं उत्पीड़ित करने लगा, तब-तब परिवार, समाज एवं राष्ट्र के व्यक्तियों के मन में उस व्यक्ति एवं तथाकथित वर्ग मात्र के प्रति घृणा, नफरत एवं विद्रोह की भावना जाग उठी, और उस समय के महापुरुषों ने पारिवारिक, सामाजिक, एवं राष्ट्रीय सन्तुलन को बराबर बनाए रखने के लिए अपनी आवाज बुलन्द की, और व्यक्ति के विचारों को स्वार्थ से परार्थ की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया। उसके मस्तिष्क में यह विचार उतारने का प्रयत्न किया गया—समाज के हित में व्यक्ति का हित समाविष्ट है, यदि परिवार में, पड़ौस में, या समाज में जब तक एक भी व्यक्ति भूखा है, दुःख की आग से संतप्त है, तब तक हमें ऐश-आराम करने का कोई अधिकार नहीं है। हमारा सबसे पहला

कर्तव्य है—हम अपनी शक्ति को केवल अपने तक ही सीमित न रखें, प्रत्युत सव में समान रूप से वितरण करें। जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की जितनी आवश्यकता है, उसको उतना हिस्सा देना ही समान वितरण कहलाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यदि परिवार में चार वच्चे और प्रौढ़ व्यक्ति हैं, और व्यक्ति के पास बीस रोटियाँ हैं, तो वह सवको दो-दो रोटी दे, जवकि वच्चे को केवल आधी रोटी की आवश्यकता है, और वड़े व्यक्तियों को तीन रोटी की। यदि गणित के हिसाव से विभाजन किया गया तो, प्रत्येक वच्चे के पास की डेढ़-डेढ़ रोटी व्यर्थ जाएगी। और प्रत्येक वड़ा व्यक्ति भूखा रहेगा, तथा छोटे वच्चे के पास व्यर्थ ही रोटियों का ढेर लग जायगा। अतः यहाँ समान रूप से वितरण का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति को जितनी आवश्यकता है, उसे उतना दिया जाए, इससे परिवार एवं समाज में संघर्ष एवं अशान्ति परिव्याप्त नहीं होगी।

परन्तु जव व्यक्ति अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए अपने से निर्बल एवं कमजोर व्यक्तियों का शोषण करके, उनके अधिकारों को छीनकर तथा उनकी विवशता का अनुचित लाभ उठाकर अपने वैभव को वढ़ाता है, तो समाज में विषमता आ जाती है। एक ओर धन-वैभव के पहाड़ खड़े हो जाते हैं, तो दूसरी ओर अभाव का उतना ही गहरा गड्ढा पड़ जाता है। और यह विषम स्थिति ही पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्ष का कारण वन जाती है।

भारतीय संस्कृति के एक विचारक ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"दुनिया के पदार्थों का सवको समान रूप से उपभोग करने का अधिकार है। जव व्यक्ति उपभोग्य पदार्थों पर एकाधिपत्य स्थापित करके दूसरे व्यक्तियों को उनसे वंचित रखने का प्रयत्न करता है, तो वह सवसे वड़ा अपराधी है।" भागवत में एक स्थान पर लिखा है—'जो व्यक्ति वुभुक्षित—भूखे व्यक्तियों के हिस्से का भोजन अपहरण करके

स्वयं की तोंद को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, वह समाज एवं राष्ट्र का चोर है, दण्ड पाने के योग्य है"—

"यावद् भ्रियेत जठरं तावत् सत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति ।।"

वह व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र में विपमता स्थापित करता है, समाज में अभाव की स्थिति उत्पन्न करता है, इससे समाज एवं राष्ट्र का शान्त वातावरण अशान्त बन जाता है, जन-जन के मन में विद्रोह की भावना तरंगित होने लगती है, और समय पाकर उसका विस्फोट हुए विना नहीं रहता ।

फ्रान्स एवं रशिया की क्रान्ति का इतिहास स्पष्ट बता रहा है, कि जब पूँजीपतियों के अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए, और शोपण चक्र में सर्वहारा वर्ग एकदम पिसने लगा, तो वहाँ की जनता के मन में विद्रोह की आग प्रज्वलित हो उठी, और वह विश्व इतिहास के पृष्ठों पर फ्रान्स की क्रांति और रशियनक्रांति के नाम से अंकित है, जिसने पूंजीवाद को जड़-मूल से उखाड़ फेंका, और उसके स्थान पर जिस सामाजिक व्यवस्था को स्थापित किया, उसे साम्यवाद या समाजवाद की संज्ञा दी गई ।

साम्यवाद के महान् विचारक कार्लमार्क्स ने साम्यवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है—"गरीबी मनुष्य के लिए सब से बड़ा पाप है जीवन के लिए भयंकर अभिशाप है। जब तक समाज में अमीर और गरीब की विपमता बनी रहेगी, तब तक, समाज सुख-शान्ति से नहीं रह सकता, और न अपना विकास ही कर सकता है। जीवन-यापन के साधन समान रूप से मिलने चाहिए । सम्पत्ति एवं सुख-साधनों पर एकाधिपत्य (Monopoly) स्थापित करना, समाज के एक बहुत बड़े भाग को भूखे मारना है, उसके अधिकारों को

छीनना है। और यह एक भयंकर सामाजिक एवं राष्ट्रीय अपराध है।" इस विषमता को मिटाए बिना जन-जन के जीवन का विकास होना असंभव है। अतः साम्यवाद पूंजी के एकाधिपत्य (Monopoly) के पक्ष में नहीं, समान वितरण के पक्ष में है। सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं, राष्ट्र का अधिकार हो, और वह जिन व्यक्तियों एवं परिवारों की जो आवश्यकताएँ हैं, उसे पूरी करे। सब को समान रूप से सुख-साधन प्राप्त हों, और सब को समान अधिकार मिलें।

इसलिए साम्यवाद के समर्थकों ने क्रांति के द्वारा जार के शासन को उलट दिया। पूँजीपतियों की सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया, और उन्हें गोली से उड़ा दिया। उस समय साम्यवादियों का यह नारा था—पूँजीपति देश का, समाज का शत्रु है। समाज को गरीबी से मुक्त करने के लिए पूंजीपतियों को मारना पाप नहीं है। इसी का परिणाम है कि रूस में समाजवाद या साम्यवाद लाने के लिए हजारों व्यक्तियों के खून से धरती लाल कर दी गई।

भारत में भी समाजवाद एवं साम्यवाद के विचारों का प्रचार हुआ है, और हो रहा है। काँग्रेस ने भी देश में समाजवाद स्थापित करने का संकल्प किया है। उनका लक्ष्य है कि देश के सभी उद्योग-धन्धों पर राष्ट्र का अधिकार हो, और राष्ट्र द्वारा उपार्जित सम्पत्ति का देश में समान रूप से वितरण हो। इसके लिए साम्यवादी पार्टी यह चाहती है, कि जैसे भी हो पूँजीपतियों से सम्पत्ति छीन कर गरीब एवं शोषित व्यक्तियों के मध्य उसका व्यवस्थित रूप से वितरण किया जाए। इसके लिए पूँजीपतियों को गोली से उड़ाना पड़े, तव भी वह उसे अपना परम कर्तव्य समझती है।

परन्तु काँग्रेस शक्ति के वल पर ऐसा समाजवाद लाने के पक्ष में नहीं है। वह हिंसक क्रान्ति के विरोध में है। वह कानून के द्वारा धीरे-धीरे उद्योगों एवं वैंकों का राष्ट्रीयकरण करके समाजवाद लाना

चाहती है, जिससे किसी के मन में विरोध एवं विद्रोह की भावना न जगे, इसलिए वह एक क्रम से इस दिशा में कदम बढ़ाना चाहती है।

भारत में समाजवाद और साम्यवाद के अतिरिक्त एक तीसरा वाद भी प्रकाश में आया है। वैसे वह वाद बहुत प्राचीन है, जैन साहित्य में उसका उल्लेख मिलता है। परन्तु सामाजिक मंच से महात्मा गाँधी ने सर्व-प्रथम उसका आघोष किया और उसे सर्वोदय की संज्ञा दी। गाँधीजी के बाद सन्त विनोबा भावे ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया, और इस विचारधारा को देश के कोने-कोने में फैलाने के लिए देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उन्होंने पद-यात्राएं भी की, सर्वोदय संस्था की स्थापना की, और दादा धर्माधिकारी ने 'सर्वोदय-दर्शन' भी लिखा।

गांधीजी राजनैतिक आजादी के बाद देश में आर्थिक स्वतन्त्रता लाना चाहते थे—देश को अर्थ की परतंत्रता से मुक्त करना उनका मुख्य उद्देश्य था। इसके लिए वे कुछ व्यक्तियों का उदय नहीं चाहते थे, प्रत्युत सब व्यक्तियों का उदय चाहते थे। वे देश के एक बच्चे को भी अभावग्रस्त देखना नहीं चाहते थे। परन्तु वे अपने सर्वोदय के स्वप्न को साकार करने के पूर्व ही चले गए।

उनके उत्तराधिकारी सन्त विनोबा ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया, और राजनीति से विमुक्त रखने का निर्णय किया। परन्तु उनका कार्यक्रम पूर्णतः राजनीति से अछूता नहीं रह सका। फिर भी भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान, समयदान एवं जीवनदान के द्वारा समाज की विषमता को मिटाने, बड़े-बड़े जमींदारों, मिल-मालिकों और पूंजीपतियों के हृदय को बदलकर उनसे दान लेकर अभावग्रस्त जनता के अभाव को दूर करने की योजना बनाई, और अभी भी

उस दिशा में कुछ काम हो रहा है। परन्तु अभी तक विषमता ज्यों की त्यों बनी है। विद्रोह की भावनाएँ कम होने के स्थान में कुछ बढ़ी ही हैं।

जैन विचारकों ने भी सामाजिक विषमता को दूर करने का सक्रिय प्रयास किया है। ढाई सहस्राब्दि पूर्व श्रमण भगवान महावीर ने शोषण चक्र को समाप्त करने के लिए एक आवाज उठाई थी। उन्होंने केवल विषमता के बाह्य कारणों को समाप्त करने पर अधिक जोर नहीं दिया, प्रत्युत वैषम्य के मूल कारणों को जड़ से उखाड़ने पर बल दिया। उनका यह वज्र आघोष रहा है—जिस रोग को समाप्त करना है, उसके केवल बाह्य कारणों को नहीं, प्रत्युत उसके आन्तरिक कारणों को खोजकर उन्हें जड़-मूल से उखाड़कर फेंक देना चाहिए। जब तक सामाजिक विषमता का मूल कारण बना रहेगा, तब तक चाहे जितने प्रयत्न किए जाएँ उसका नाश नहीं होगा। इसलिए बुराई का नाश करना है, तो भगवान महावीर की भाषा में उसकी जड़ पर प्रहार करना चाहिए, उसको मूल से नष्ट कर देना चाहिए "अग्गं मूलं च छिंदह।" मूल नष्ट होने पर टहनियां और फल-फूल स्वयं नष्ट हो जायेंगे।

पारिवारिक एवं सामाजिक विषमता का मूल कारण मानव-मन की तृष्णा, आसक्ति एवं पदार्थ के प्रति ममत्व-भाव है। व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति तो सहज ही हो जाती है, परन्तु आकांक्षाओं की प्यास कभी बुझती नहीं। एक आकांक्षा पूरी हो भी नहीं पाती, कि दूसरी आकांक्षा और जागृत हो जाती है। क्योंकि पदार्थ सीमित हैं, और उनकी प्राप्ति सीमित रूप में ही होती है। परन्तु इच्छा, आकांक्षा एवं तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है, उसका कदापि अन्त नहीं आ सकता, जब तक कि मनुष्य आसक्ति पर विजय प्राप्त न कर ले, तृष्णा को जड़-मूल से उखाड़ कर न फेंक दे।

जब व्यक्ति अपने स्वार्थ को महत्त्व देता है, और अपनी आकांक्षाओं को परिपूर्ण करने की दिशा में बेतहाशा दौड़ लगाता है, तब वह यह भूल जाता है, कि आकांक्षाएं केवल मेरे मन में ही चक्कर नहीं काट रही हैं, दूसरे के मन में भी कुछ पाने की आशा होगी, सामने वाले व्यक्ति का भी स्वार्थ होगा। वह अपने स्वार्थ में अंधा होकर येन-केन-प्रकारेण सम्पत्ति को बटोरने में लगा रहता है। वह उस समय अपने साथियों के हित की ओर भी ध्यान नहीं देता, अपने घर, दुकान, कारखाने एवं ऑफिस में काम करने वाले व्यक्तियों की भी आवश्यकताओं, उनके एवं उनके परिवार के स्वार्थों तथा अधिकारों को सुरक्षित रखने का विचार तक नहीं करता। उसकी एक ही आकांक्षा बनी रहती है. कि दुनिया के सब व्यक्ति जहन्नुम में जाएँ मेरी अपनी इच्छा की पूर्ति होनी चाहिए। मुझे सब सुख-साधन प्राप्त हों. दुनिया भर का संपूर्ण ऐश्वर्य मुझे मिल जाए। यह मनोभावना ही सामाजिक विषमता एवं संघर्ष का मूल कारण है।

इसलिए श्रुत-साहित्य में भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा— व्यक्ति के लिए पदार्थ एवं धन-सम्पत्ति रखना पाप नहीं है, पाप है पदार्थों में आसक्त रहना। परिग्रह केवल पदार्थों में नहीं, ममत्व भाव में है. मूर्छा भाव में है और आसक्ति में है।

आसक्ति के कारण व्यक्ति दूसरे के हित को देख नहीं सकता। इसलिए वह शोषण में लगा रहता है। और इस वृत्ति के कारण शोषक और शोषित में संघर्ष होना स्वाभाविक है। युग युगान्तर से लेकर, आज तक जितने सामाजिक संघर्ष हुए हैं, और आज भी विभिन्न समाजों एवं विभिन्न वर्गों में संघर्ष चालू है. उसका कारण भी यही दूषित मनोवृत्ति रही है, और है।

इसलिए सामाजिक वैषम्य को दूर करने के लिए भगवान महावीर ने मानव को आसक्ति एवं आकांक्षाओं पर नियंत्रण रखने,

और जीवन को हल्का एवं आवश्यकताओं को सीमित करने का उपदेश दिया। उन्होंने समाज रचना के, गृहस्थ जीवन को व्यवस्थित बनाने वाले बारह व्रतों के उपदेश में यह बताया—किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं करना, आजीविका का छेदन नहीं करना, काम करने वाले व्यक्ति की शक्ति से अधिक बोझ उस पर नहीं डालना, स्वयं चोरी नहीं करना, चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु को नहीं लेना, चोर को चोरी करने की प्रेरणा नहीं देना, उसे चोरी करने के लिए सहयोग नहीं देना, राज्य-नियम या कानून के विरुद्ध काम नहीं करना, आवश्यकता से अधिक धन-सम्पत्ति, एवं भोगोपभोग के साधनों को बढ़ाना नहीं, रखना नहीं, अपनी आकांक्षा एवं भोगेच्छा को एक सीमा तक मर्यादित रखना, अथवा आकांक्षाओं को बढ़ाना नहीं, प्रत्युत घटाने एवं परिसमाप्त करने का प्रयत्न करना।

व्यक्ति परिवार, समाज एवं राष्ट्र में रहता है, और परिवार समाज एवं राष्ट्र से संबद्ध भी है। इसलिए अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए उसे व्यापार, खेती एवं अन्य उद्योग-धन्धे तथा नौकरी करनी पड़ती है। उसके लिए कार्य करने पर प्रतिबन्ध नहीं है, वह कार्य करे, परन्तु कर्तव्य बुद्धि से करे, विवेक पूर्वक करे।

पदार्थ उपभोग के लिए है। परन्तु उसमें व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है, कि वह उसका उपभोग उसी रूप में करे जितना उसे आवश्यक है। यदि जीवन निर्वाह के लिए एक या दो वस्त्र की आवश्यकता है, और वह अपने कमरे में वस्त्रों से पेटियाँ भरकर रखता है। इसी प्रकार खाद्य पदार्थों का अनावश्यक संग्रह करके रखता है, तो यह अनर्थदण्ड है, पाप है, समाज की चोरी है। एक ओर पेटियों में पड़े-पड़े वस्त्रों को कीड़े खा जाते हैं, और दूसरी ओर वस्त्र के अभाव में देश के, समाज के, अधिकांश व्यक्ति अर्ध नंगे रहकर जीवन-यापन करते हैं, और खाद्याभाव में वे दिन-भर में एक समय खाकर

भूख पेट सोते हैं। सामाजिक व्यक्ति के लिए यह एक भयंकर अपराध है, कि वह समाज एवं देश के व्यक्तियों का शोषण करके देश में वर्ग-भेद एवं अभाव को जन्म दे। इसलिए भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देते हुए कहा—

"असंविभागी न हु तस्स मोक्खो"

जो व्यक्ति अपनी शक्ति का, अपने सुख साधनों का, और अपनी सम्पत्ति का, जिनके पास अभाव है, उनमें समान रूप से वितरण नहीं करता है, वह दुःखों से, क्लेशों से, आपत्तियों से, विपदाओं से, एवं उनके कारणों से मुक्त नहीं हो सकता। इन सबसे छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है, वह अपने साधनों एवं अधिकारों का सम-विभाजन करके समाज को, राष्ट्र को सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करे। समाज के हित में अपना हित समझे, समाज के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख समझें। जन-जन के कल्याण में ही व्यक्ति का कल्याण है, और जन-जन के उदय में ही व्यक्ति का उदय है। इतना ही नहीं, व्यक्ति को अपनी दृष्टि परिवार, समाज एवं राष्ट्र से भी आगे प्राणी मात्र तक विस्तृत करनी चाहिए। तभी वह अपना विकास कर सकेगा।

भगवान महावीर की इसी भावना को, इसी विचार-धारा को सामने रखकर महान् व्यक्तित्व सम्पन्न एवं प्रबुद्ध विचारक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर के शासन को सर्वोदय शासन कहा है—"सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।"

आज का सर्वोदय बहुत बाद का है। जब आचार्य समन्तभद्र ने सर्वोदय—सब के उदय, प्राणीमात्र के उदय की बात कही, तब आज के सर्वोदय की लोगों के मन-मस्तिष्क में कल्पना ही नहीं थी।

साम्यवाद और समाजवाद भी मानव-मानव के बीच में जो भेद

की दीवार खड़ी है, उसे तोड़ने की बात कहता है, और सर्वोदय भी वैषम्य की खाई को पारकर सब में समानता लाने का प्रयत्न कर रहा है। और जैन परंपरा का प्रारंभ से यही स्वर रहा है। सैद्धान्तिक दृष्टि से साम्यवाद, समाजवाद, सर्वोदय एवं अपरिग्रह एक ही विचारधारा रखते हैं। सब मानव-मानव के साथ समानता का व्यवहार करने की बात कहते हैं।

परन्तु सब के तरीकों में अन्तर है। साम्यवादी या समाजवादी व्यक्तियों का कहना है—अमीरी और गरीबी के भेद को मिटाने के लिए अमीरों को समाप्त करके, गोली से उड़ाकर के या उनके धन-वैभव को लूट-खसोट कर गरीबों में बाँट दिया जाय। वे गरीबी को, असमानता को मनुष्य का खून बहाकर मिटाना चाहते हैं।

सर्वोदयी विचारक एवं गांधीवादी हिंसा के पक्ष में नहीं हैं। काँग्रेस भी हिंसा के द्वारा समाजवाद लाना नहीं चाहती। दोनों अहिंसक तरीके से समाज एवं राष्ट्र में समाजवाद लाना चाहते हैं। सर्वोदयी विचारक पूंजीपतियों एवं जमींदारों को समझाकर गरीबी से उत्पीड़ित व्यक्तियों में उसका वितरण कराना चाहते हैं और काँग्रेसी कानून के द्वारा समाजवाद लाने की सोच रही है।

भले ही, कानून से समाजवाद लाया जाए या साम्यवादी तरीके से—दोनों दोष-मुक्त नहीं हैं। उनके विचार से व्यक्तिगत संपत्ति पर राष्ट्र का एकाधिपत्य हो जाएगा। फिर व्यक्ति नहीं, राष्ट्र पूँजीपति बन जाएगा। अतः कुर्सी पर बैठने वाले अपने स्वार्थ में संलग्न हो जाएँगे, जैसा स्वतंत्रता के बाद से देश में हो रहा है। तब जनता को उससे कितना लाभ पहुँचेगा, यह संदिग्ध ही है। साम्यवाद एवं काँग्रेस में इतना ही अंतर है, कि प्रथम का मानस हिंसा की कालिमा से कलुषित है और द्वितीय इससे अछूता है।

सर्वोदय की सफलता में भी कुछ सन्देह है, क्यों कि वह धन का

वितरण करवाना चाहता है, परन्तु व्यक्ति को आसक्ति से मुक्त करने की नहीं सोचता। यदि आसक्ति का राक्षस मन के कोने में छिपा रहा, तो जो आज अभावग्रस्त हैं, उन्हें कल वह पूंजीपति एवं शोषक बना देगा।

परन्तु जैन धर्म विषमता के मूल पर ही प्रहार करता है, वह कहता है— धन वैभव पर एकाधिपत्य भी मत रखो, और जितनी आवश्यक सामग्री है, उस पर ममत्व मत रखो, आसक्ति मत रखो और अपनी तृष्णा एवं आकांक्षाओं को फैलाओ मत। आकांक्षाओं एवं तृष्णा पर नियंत्रण रखना और आसक्ति का त्याग करना और दूसरे के सुख-दुःख एवं हित का ध्यान रख कर विवेक दृष्टि से व्यवहार करना ही अपरिग्रह है।

यदि आज का मानव इस सिद्धान्त को जीवन में साकार रूप दे दे, तो समाज एवं राष्ट्र में ही नहीं विश्व की मानव जाति में एकरूपता आ सकती है, और विश्व-शान्ति का स्वप्न साकार हो सकता है, एवं इस धरा पर स्वर्ग परिलक्षित हो सकता है।
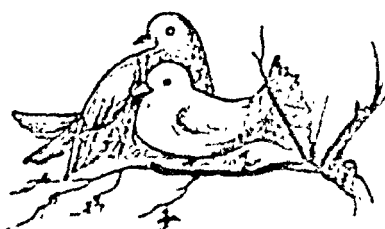
"नरो वै देवानां ग्रामः"

—ताण्डय-महाब्राह्मण, ६, ९, २.

इसके वाद उपनिषद् युग में ऋषि मानव-जीवन की श्रेष्ठता को देखकर इतना प्रभावित हुआ, कि उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—"निसन्देह मनुष्य ही विधाता की सुन्दर कृति है"—

"पुरुषो वाव सुकृतम्"

—ऐतरेय उपनिषद, १, २, ३.

मनु-स्मृति में भी यही वात दोहराई गई है—"मनुष्य से वढ़कर और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है"—

"न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ।"

—*मनुस्मृति*, २९६, २०.

हिन्दी-भाषा के महाकवि सन्त तुलसीदास जी ने भी मानव-जीवन की श्रेष्ठता के गीत गाए हैं। रामचरित-मानस में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—' मानव-तन की प्राप्ति महान् सौभाग्य-शाली को होती है। इस सौभाग्य को प्राप्त करना देवों के लिए दुर्लभ है। देवता भी मानव-जीवन को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, ऐसा सत्-शास्त्रों में वताया है"—

"वड़े भाग मानुप तन पावा ।
सुर दुर्लभ सद्ग्रंथन गावा ।"

महापुरुषों के विचारों एवं धर्म-ग्रन्थों का अनुशीलन-परिशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि मनुष्य संसार का श्रेष्ठतम प्राणी है। इस दुनिया में, और इसी दुनिया में ही नहीं, इसके वाहर की दुनिया में—जिसे स्वर्ग कहते हैं, मनुष्य से श्रेष्ठ कोई प्राणी नहीं है। इसलिए स्थानांग सूत्र में श्रमण भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"देवता भी तीन वातों की इच्छा

करते हैं—मनुष्य-जीवन, आर्य-क्षेत्र में जन्म, और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति"—

"तओ ठाणइं देवे पीहेज्जा—
माणुसं भवं, आरिए-खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाति।"

—स्थानाङ्ग सूत्र ३, ३.

शक्ति-पुञ्ज :

जिस मानव-जीवन की देव भी अभिलाषा रखते हैं, और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग प्रभु भी जिस मानव-जीवन को श्रेष्ठ एवं दुर्लभ बताते हैं उसकी विशेषता क्या है ? मानव को सर्व-श्रेष्ठ क्यों कहा गया है ? उसमें ऐसी कौन-सी शक्ति, कला, एवं सुन्दरता है, जिसके कारण वह सबसे प्रथम श्रेणी में रखा गया ?

जीवन में दो शक्तियों का विकास परिलक्षित होता है—बाह्य-शक्ति का विकास, और आभ्यन्तर-शक्ति का विकास। जब हम बाहरी दृष्टि से देखते हैं, तो मनुष्य एक अदना-सा प्राणी दिखाई देता है। शक्ति एवं साहस में मनुष्य से सिंह कुछ कदम आगे है। शेर को देखते ही मनुष्य के प्राण सूखने लगते हैं। वन-मानुष सामने आकर खड़ा हो जाए, तो बड़े-बड़े योद्धा सब-कुछ भूलकर भागते नजर आएँगे। कुछ दिन पहले समाचार पत्रों में पढ़ा था, कि कुछ सैनिकों ने बर्मा के जंगलों में वन-मानुष के एक युगल को विचरण करते हुए देखा। जब उस भीमकाय युगल ने सैनिकों की ओर देखा, तो सैनिक इतने डर गए, कि वे गोली चलाना भूल कर वहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो गए। इससे यह ज्ञात होता है, कि बाह्य शक्ति एवं शारीरिक-सम्पत्ति में सिंह, व्याघ्र, वन-मानुष एवं हाथी आदि विशालकाय प्राणी मनुष्य से भी बढ़कर हैं। यदि इन्द्रियों की शक्ति एवं क्षमता की दृष्टि से विचार करें, तो सुनने की शक्ति सांप में बहुत तेज होती है, वह कई फुट दूर से वीणा की आवाज सुन लेता

है, गिद्ध एवं चील आकाश में उड़ते-उड़ते एक-दो मील की दूरी पर पड़ी वस्तु को भी आसानी से देख लेते हैं, सूंघने की ताकत कुत्ते एवं चीटीं में बहुत अधिक है। खून करने वाला व्यक्ति भले ही कितनी ही दूर क्यों न चला जाए, जिस स्थान पर खून किया गया है, उसे सूंघकर वह उस गंध के द्वारा अपराधी तक जा पहुँचता है। इस तरह अनेक पशु-पक्षी बाह्य-ताकत में एवं शारीरिक-सौन्दर्य में मनुष्य से बहुत आगे हैं। सुन्दर स्त्री एवं पुरुष के अंगों के सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए कवि एवं लेखक सदा पशु-पक्षियों के अंगों से उनकी तुलना करते हैं, या उपमा देते हैं। इतना होने पर भी उनको श्रेष्ठ न कह कर, मनुष्य को ही क्यों श्रेष्ठ बताया? यह एक अर्थ भरा प्रश्न है।

दिव्य-शक्ति :

जीवन के दो पक्षों में—बाह्य और आभ्यन्तर, पहले पक्ष का विकास तो अन्य प्राणियों में भी दिखाई देता है, किसी-किसी प्राणी में तो उसकी बाह्य-शक्ति की सीमा मनुष्य की शक्ति की परिधि को भी पार कर गई है। परन्तु दूसरे पक्ष का विकास जितना मानव में हो पाया है, उतना अन्य किसी प्राणी में नहीं हो पाया। बाहरी ताकत से अन्तर की ताकत अधिक महत्वपूर्ण है। इसी कारण मानव को दिव्य-शक्ति का पुन्ज कहा है। शरीर की शक्ति से मन की शक्ति अधिक महत्व रखती है और आत्म-शक्ति उससे भी ज्यादा महत्व-शाली है। आज मानव ने सिंह, वन-मानुष, हाथी आदि विशालकाय, ताकतवर एवं क्रूर प्राणियों को जो अपने वश में कर रखा है, वह शरीर की शक्ति से नहीं, मन एवं बुद्धि के बल से कर रखा है। मनुष्य के पास मन ही एक ऐसी शक्ति है, जिसका विकास अन्य प्राणियों में कम दिखाई देता है। मनुष्य ने आज जो प्रगति की है,

और कर रहा है, वह शरीर के वल पर नहीं, मन के वल पर कर रहा है और भविष्य में भी करता रहेगा। मन की ताकत का प्रयोग करना, मनन एवं चिन्तन के वल पर आगे वढ़ना यह मानव का स्वभाव है। इसी कारण विद्वानों ने मनुष्य की परिभाषा इन शब्दों में की है—"जो मन में सोता है, अर्थात् मनन-चिन्तन में तल्लीन रहता है, वह मनुष्य है—"

"मनसि शेते—मनुष्यः" —उत्तराध्ययन चूर्णि ३.

मन की शक्ति मनुष्य के पास भी है, और पशु-पक्षी में भी मन है। फिर भी दोनों में सबसे वड़ा अन्तर यह है कि मन की शक्ति का विकास जितना मानव-जीवन में हो सका है, उतना पशु-जीवन में नहीं हुआ। मानव और पशु-जगत में दूसरा अन्तर यह है, कि पशु-पक्षी वाह्य आवश्यकताओं तक ही सीमित रहते हैं, उनका प्रयत्न भूख-प्यास, थकान को दूर करने तथा भोगोपभोग क्रिया तक ही सीमित रहता है। वे आभ्यन्तर विकास की ओर वढ़ने का प्रयत्न नहीं करते। अपने मनन-चिन्तन के द्वारा आत्म-विकास एवं परमात्म-ज्योति को प्राप्त करने के मार्ग को प्रशस्त करने, एवं उस पर कदम वढ़ाने, तथा आत्म-ज्योति को पूर्ण-रूपेण अनावृत्त करने की शक्ति मानव-जीवन के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है। आहार करना, निद्रा लेना, भयभीत होना तथा वासना से प्रेरित होकर भोग भोगना, इन वाह्य कार्यों की दृष्टि से मनुष्य और पशु में विशेप अन्तर नहीं है। भौतिक जीवन तो पशु भी जीता है। उसमें भौतिक-शक्ति का विकास परिलक्षित होता है। इसी कारण संहारक (भौतिक) शक्ति को पाशविक-शक्ति की संज्ञा दी गई है। इस शक्ति का विकास करने में मानव की अपनी कोई विशेपता नहीं है। क्योंकि वाहरी शक्ति का विकास वह भौतिक-साधनों, जड़-पदार्थों को जुटाकर कर लेता

है। उसकी विशेषता है—आत्म-शक्ति पर आए हुए आवरण को आत्म-चिन्तन एवं आध्यात्मिक-साधना के द्वारा हटाकर आत्म-शक्ति का विकास करने में। अतः मनुष्य की विशेषता भौतिक विकास में नहीं, आध्यात्मिक विकास में है। और उसी जीवन को प्राप्त करना कठिन एवं दुर्लभ बताया है।

मानवता का दिव्य-तेज :

आगमकारों ने मानव-तन को महत्वपूर्ण नहीं बताया है। मानव का शरीर तो अनेक बार मिल चुका है। प्रतिक्षण हजारों-लाखों व्यक्ति इस संसार में मानव-शरीर को प्राप्त करते, और छोड़ते हैं। महत्व मानव-तन का नहीं, मानव-जीवन में अन्तर्निहित मानवता का है। यही कारण है, कि श्रमण भगवान महावीर ने मानव-तन को प्राप्त करना नहीं, प्रत्युत् मनुष्यत्व को प्राप्त करना दुर्लभ बताया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण, सम्यक्-श्रद्धा एवं संयम में पुरुषार्थ करना अर्थात् साधना-पथ पर गति-प्रगति करना, ये चार परम-अंग (उत्तम एवं श्रेष्ठ-संयोग) प्राणियों को इस संसार में प्राप्त होने दुर्लभ हैं"—

"चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं, सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

—उत्तराध्ययन, ३, १

इस गाथा में श्रमण भगवान महावीर ने मानव-तन को नहीं, मानव के अन्तर में निहित मनुष्यत्व एवं मानवता को महत्व दिया है। मनुष्य होना कोई बड़ी बात नहीं है, यह कोई जीवन की विशेषता नहीं है, जीवन की विशेषता है अपनी मानवता को प्राप्त करना। मनुष्य रावण भी था, कंश भी था, दुर्योधन भी था, गौडसे भी था, और हिटलर भी था। परन्तु उस युग के महामानवों एवं विचारकों

ने तथा आज के विद्वानों ने उन्हें मानव का नहीं, दानव का स्थान दिया है। उन्हें मनुष्य नहीं, राक्षस कहा है, इन्सान नहीं, हैवान कहकर पुकारा है। उनके पास मानव का तन तो था, परन्तु मानव का मन नहीं था, अर्थात् उनके जीवन में मानवता का उदय नहीं हो पाया था। यही कारण है, कि विचारकों ने तन की दृष्टि से समानता होने के बावजूद भी राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, गांधी आदि को मानव की कोटि में रखा है। मानव और दानव में अन्तर इतना ही है—प्रथम केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए चारों ओर से सब-कुछ बटोरने का प्रयत्न करता है, सब का शोषण करने के लिए तत्पर रहता है, और दूसरा पर-हित के लिए अपने स्वार्थ का परित्याग करने को तैयार रहता है. वह दूसरे के स्वार्थ को, दूसरे के हित को सुरक्षित रखता है, अपने पोषण के लिए दूसरे का शोषण नहीं करता, प्रत्युत दूसरे के शोषण को रोकने का तथा उस का पोषण करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझकर उसके सुख-दुःख में उसका साथ देने का प्रयत्न करना, प्रत्येक गिरते प्राणी को सहारा देकर ऊपर उठाने का, एवं आगे बढ़ाने का प्रयत्न करने का नाम ही—मानवता है। मानव-तन में इस मानवीय भाव का जागृत होना, अत्यन्त दुर्लभ है। जिस व्यक्ति के जीवन में यह भावना उदित हो जाती है, वही व्यक्ति एक दिन अपना पूर्ण विकास कर सकता है। मानवता पूर्ण विकास की भूमिका है, यह चरम विकास का प्रथम सोपान है। जिस व्यक्ति के जीवन में मानवता का उदय नहीं होता, उसके जीवन में परमात्म-स्वरूप की ज्योति भी प्रज्वलित नहीं हो सकती। आत्मा से परमात्मा बनने के लिए मानवता की पगडण्डी पर से गुजरना ही होगा। मानवता को अनावृत करने वाला मानव ही ईश्वर बन सकता है, अन्य व्यक्ति नहीं। इसीलिए शास्त्रों में आगम-स्वाध्याय, श्रद्धा एवं साधना

से पूर्व मानवता को स्थान दिया गया है, और उसे प्राप्त करना दुर्लभ वताया है।

मानव-जन्म की कठिनता :

वीतराग प्रभु का यह कथन है, कि संसार के प्रांगण में अनन्त-जीव दृष्टिगोचर होते हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, और छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़े एवं पशु-पक्षी आदि जीवों की विभिन्न जातियाँ को देखकर हम आश्चर्य करते हैं, और विभिन्न तरह से विचार करते हैं। अपने आगमकार कहते हैं – "संसार में एक भी ऐसी जाति एवं योनि नहीं है, जहाँ हमारी आत्मा ने अनन्त-अनन्त जन्म नहीं लिया हो"—

"न सा जाई, न सा जोणी...., जत्थ जीवो न जायइ।"

अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए, जव जीव इन निम्न-स्तर के विकास वाली जीव-योनियों में जन्म ले चुका है, दुःखों को भोग चुका है, तव उसे दूसरे प्राणियों को देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। परन्तु मानव को विचार करना चाहिए, कि मुझे अनन्त काल से कितनी ठोकरें खाने के वाद नर-जन्म प्राप्त हुआ है। यह आत्मा अज्ञान के कारण अपरिमित काल तक निगोद अवस्था में पड़ा रहा। अंगुल के असंख्यात भाग जितने सूक्ष्म शरीर में अनन्त जीवों के साथ रहा, उन्हीं के साथ आहार ग्रहण किया, श्वासोच्छ्वास लिया। ऐसी भयंकर एवं दुःखमय अवस्था को यह सह चुका है। आज सद्भाग्य है, कि वह नरक के अधिक दुःखमय स्थान को छोड़कर मानव वन पाया है। यह ऐसी स्थिति है, जैसे—एक ही तरह का व्यापार करने वाले एक लाख व्यक्तियों में ९९९९९ व्यक्ति दिवाला निकाल दें और भाग्य से एक ही व्यक्ति साहूकार वना रहे। ऐसा सौभाग्यशाली व्यक्ति ही निगोदकी भयंकर घाटी को पार करके

दूँगा। मेरी मृत्यु के वाद तुम तीनों वारी-वारी से उसे कुछ दिन तक अपने-अपने पास रखना। परन्तु जव तक मेरा जीवन है, तव तक तुम उसकी जानकारी प्राप्त कर लो—उसका उपयोग कैसे करना, जिससे तुम सदा सुखी रहोगे, और मेरे वंश में कभी भी दुःख एवं दरिद्रता के अंकुर नहीं फूटेंगे।

प्रथम के दो पुत्रों ने सेठ की वात को एक कान से सुनी, और दूसरे कान से निकाल दी। उन्होंने अपने पूज्य-पिता की वात पर लक्ष्य नहीं दिया। परन्तु तीसरे पुत्र ने श्रद्धा-भक्ति एवं विनय पूर्वक अपने पूज्य-पिता के समीप वैठकर उसकी सारी प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

सेठ वृद्ध तो था ही, एक दिन उसने अपनी अन्तिम सांस छोड़ दी। पूज्य पिता के निधन के वाद तीनों पुत्रों ने सम्पत्ति का वटवारा कर लिया। और पिता के आदेश के अनुसार चन्द्रकान्त-मणी को तीनों वारी-वारी से एक-एक महीने तक अपने पास रखने लगे। परन्तु प्रथम के दोनों पुत्र मणी का उपयोग किस प्रकार किया जाय, इस ज्ञान से शून्य थे। अतः वे उसके प्रकाश में रात को खटमल चुगते रहे या भोग-विलास एवं आमोद-प्रमोद करते रहे। परन्तु जव तीसरे पुत्र की वारी आई, तव उसने पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा के प्रकाश में उससे लाखों रुपयों का स्वर्ण वना लिया। वे ज्ञान-शून्य दोनों पुत्र मणी के होते हुए भी उससे लाभ नहीं उठा सके, और तीसरे पुत्र ने उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया।

इस कथा का निष्कर्ष यह है, कि मानव-जीवन रूपी रत्न को पाकर भी जो व्यक्ति जीवन-विकास का लाभ नहीं उठाता, वह इस अमूल्य अवसर को व्यर्थ ही खो देता है। मैंने अभी आप को वताया, कि अत्यधिक परिश्रम एवं पुरुषार्थ से यह जीवन हमें मिला है। यदि

आचरण में उतार सकता है। इसका तात्पर्य यह है, कि मुक्ति को प्राप्त करने की, अथवा बन्धन से सर्वथा मुक्त होने की साधना मानव-जीवन में ही की जा सकती है, अन्य में नहीं।

यह मानव-जीवन आत्म-साधना का एक साधन है, और साधन का उपयोग दो प्रकार से किया जाता है—अच्छे, और बुरे रूप में। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के श्रेष्ठ पुत्र एवं प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत ने आरिसा-भवन में केवल ज्ञान प्राप्त किया था, और यदि उसी भवन में किसी कुत्ते को बन्द कर दिया जाता, तो वह भूंक-भूंक कर मर जाता। यदि आप तलवार को मूठ की ओर से पकड़ उसको काम में लेते हैं, तो उससे किसी दुष्ट व्यक्ति से अपने या अपने परिवार तथा अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकते हैं, और यदि उसे धार की ओर से पकड़ते हैं, तो अपना ही हाथ काट लेते हैं। तात्पर्य यह हुआ, कि न तो आरिसाभवन या तलवार अच्छी है और न बुरी है। वह व्यक्ति ही की अपनी योग्यता के अनुसार उसके हित और अहित में निमित्त मात्र बनती है। इसी प्रकार यदि जीवन का उपभोग अच्छे कार्यों में किया जाए, तो वह अमृत के समान अमरत्व प्रदाता है, और यदि उसका दुरुपयोग किया, तो वह नरक के ताप से भी भयंकर है।

सांप नहीं, पाप भयंकर है :

मनुष्य सांप से डरता है, सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक जानवरों से डरता है। परन्तु जब हम विवेक की आंख से सच्चाई एवं वास्तविकता को देखते हैं, तो सत्य यह है—संसार को सांप आदि विषाक्त जन्तुओं ने इतना नुकसान नहीं पहुँचाया, जितना कि पाप एवं दुर्भावना के विष से युक्त मनुष्य ने। आज विश्व में सांप, सिंह एवं व्याघ्र आदि के द्वारा जितने मनुष्य मारे जाते हैं, उससे हजारों-हजार

"केवल स्वार्थ-साधना करना, जीवन का उद्देश्य नहीं।
हित करना है प्राणी-मात्र का, रहे द्वेष का लेश नहीं॥"

प्राणी-मात्र के हित का ध्यान रखना, किसी पर भी द्वेष नहीं करना और पर-हित में तथा परमार्थ में लगे रहना, यही मानव-जीवन का उद्देश्य है। वही व्यक्ति सच्चे अर्थ में मानव कहा जा सकता है- जो अपने स्वार्थ में अन्धा होकर दूसरों का शोषण नहीं करता, दूसरों को उत्पीड़ित नहीं करता, और विवेक एवं विचारपूर्वक कार्य करता है। विवेक-शून्य मानव पशु से भी निम्न-कोटि का है, और हिंस्र-पशु से भी अधिक भयंकर और खूंखार है। विवेक एवं विचार ज्योति के प्रज्वलित रहने पर ही मानव मानवता के पथ पर गति करता है, और वह अपना भी कल्याण कर सकता है, तथा मानव व जाति के गौरव को भी बढ़ा सकता है।

राह भूला राही :

परन्तु आज मानव मानवता की राह को भूल चुका है। आज के भौतिक युग में उसका लक्ष्य बदल गया है। आज अध्यात्म-साधना को विस्मृति के गहन अंधकार में फेंककर मानव भौतिक-स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए भौतिक साधनों के पीछे बेतहाशा भाग रहा है। आज युग में अर्थ की प्रधानता है, धन का बोलबाला है। इस धन के मोह में मनुष्य धर्म-कर्म को एकदम भूल गया है। एक लेखक ने एक पुस्तक में लिखा है—

"धन के अभाव में जीव (मनुष्य) इतने आंसू बहाता है, कि अनन्त महासागर भी उसके सामने लज्जित हो जाता है। उस अश्रु-प्रवाह में यह जीव अनन्त बार गया, परन्तु मानव-जीवन के लिए उसकी आंख से एक भी आंसू नहीं गिरा।" कितना है, मनुष्य को धन का लोभ। यदि व्यापार में लाखों के हिसाब में एक पैसे की कमी

धर्म क्या है ? राष्ट्र क्या है ? धर्म और राष्ट्र का क्या सम्बन्ध है ? यह आज का महत्वपूर्ण प्रश्न है ? राष्ट्र-नीति, राष्ट्रीय-कर्तव्य तो है, परन्तु क्या राष्ट्र का धर्म के साथ भी सम्बन्ध है ? इसका समाधान यह है, कि धर्म कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, कि किसी व्यक्ति के पास तो हो और किसी के पास न हो। वह ऐसी वस्तु भी नहीं है, जो किसी को दी जा सके या किसी से ली जा सके। धर्म का अर्थ है—स्वभाव। आत्मा का स्व-स्वभाव में रहना धर्म है, और पर-स्वभाव में परिभ्रमण करना अधर्म है। यह धर्म किसी एक ही आत्मा में हो ऐसी बात नहीं है, समस्त आत्माओं में भले ही वे सबसे अलग रहने वाली हो, परिवार, समाज या राष्ट्र में रहने वाली हो, रहा हुआ है। यह बात अलग है, कि कुछ व्यक्तियों ने अपने स्वभाव एवं स्वरूप को समझ लिया, और उसमें स्थित होने का प्रयत्न भी करते हैं,

गोते लगाता है। वास्तव में मानव-जीवन की सार्थकता इसी में है, कि मनुष्य संकुचित स्वार्थों एवं संकीर्ण घेरों को छोड़कर अपने आप को सम्पूर्ण विश्व के साथ एकाकार कर ले। सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को अपना परिवार समझकर सबके हित का ख्याल रखते हुए जीवन व्यतीत करने वाला मानव ही मानव कहलता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्, का नीति-वाक्य जितना हमारे आचरण में एवं जीवन व्यवहार में आएगा, उतने ही हम विराट वन पाएँगे। इस सिद्धान्त को जीवन में साकार रूप देने वाला व्यक्ति कदापि ऐसा कार्य नहीं करता, जिससे संसार के किसी भी प्राणी को नुकसान होता हो, उसे चोट पहुँचती हो, उसे पीड़ा होती हो। उसकी रात-दिन एक ही भावना रहती है—"विश्व के समस्त प्राणी सुखी बनें। समस्त व्यक्ति बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वस्थता एवं नीरोगता का अनुभव करें। सभी प्राणियों का कल्याण हो, और कोई भी दुःख प्राप्त न करे—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥"

जो व्यक्ति इस आदर्श को अपने जीवन के समक्ष रखकर, और उसे अपने जीवन के कण-कण में परिव्याप्त करके अपना आचरण करेगा, और अपने व्यवहार से किसी को भी पीड़ा नहीं पहुँचाएगा, उसी व्यक्ति का जीवन, सच्चे अर्थ में जीवन है और उसी को सार्थक जीवन कहा है। और इस मानवता को साकार रूप देने वाला मानव ही अपने जीवन का विकास करते हुए एक दिन अपने चरम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

सभी मानव मानवता को जागृत करें, और मानव वनकर आगे बढ़ें, यही मंगल-कामना है। ★

१३

राष्ट्र-धर्म

धर्म क्या है ? राष्ट्र क्या है ? धर्म और राष्ट्र का क्या सम्बन्ध है ? यह आज का महत्वपूर्ण प्रश्न है ? राष्ट्र-नीति, राष्ट्रीय-कर्तव्य तो है, परन्तु क्या राष्ट्र का धर्म के साथ भी सम्बन्ध है ? इसका समाधान यह है, कि धर्म कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, कि किसी व्यक्ति के पास तो हो और किसी के पास न हो। वह ऐसी वस्तु भी नहीं है, जो किसी को दी जा सके या किसी से ली जा सके। धर्म का अर्थ है—स्वभाव। आत्मा का स्व-स्वभाव में रहना धर्म है, और पर-स्वभाव में परिभ्रमण करना अधर्म है। यह धर्म किसी एक ही आत्मा में हो ऐसी बात नहीं है, समस्त आत्माओं में भले ही वे सबसे अलग रहने वाली हों, परिवार, समाज या राष्ट्र में रहने वाली हों, रहा हुआ है। यह बात अलग है, कि कुछ व्यक्तियों ने अपने स्वभाव एवं स्वरूप को समझ लिया, और उसमें स्थित होने का प्रयत्न भी करते हैं,

इसलिए भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा, कि आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक सभी कार्यों के साथ संवद्ध रहना चाहिए। धर्म-स्थान में बैठकर हम धर्म की साधना एवं आराधना करें, और घर एवं दुकान पर पैर रखते ही उसे विस्मृति के अंधेरे कोने में धकेल दें, यह धर्म नहीं है। धर्म में धर्म-स्थान और घर अथवा दुकान का भेद नहीं है। जिस धर्म के टुकड़े कर दिए जाते हैं—यह धर्म-स्थानक का धर्म है, और यह घर एवं दुकान का धर्म है, वह धर्म नहीं हो सकता। धर्म अखण्ड है, और वह यत्र-तत्र सर्वत्र एक-रूप रहता है। उपासक-दशांग-सूत्र में श्रावक के जीवन का वर्णन करते हुए भगवान महावीर ने कहा है— श्रावक धर्म-आजीविकावाले थे। उनकी सामायिक एवं पौषध आदि धार्मिक-क्रियाओं को ही धर्म नहीं कहा, प्रत्युत उनके घर एवं दुकान पर किए जाने वाले व्यवहार एवं कार्य को भी धर्ममय कहा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि केवल क्रिया-काण्ड करना ही धर्म नहीं है, धर्म है—आत्मा में विवेक की ज्योति को प्रज्वलित रखना या स्वभाव में स्थित रहना। जो व्यक्ति धर्म-स्थान में क्रिया करते समय और वहाँ से घर या दुकान जाकर वहाँ अपना कार्य करते समय विवेक, स्वभाव एवं समभाव से विमुख नहीं होता है, वही व्यक्ति धार्मिक कहा गया है। क्योंकि धर्म क्रिया में नहीं, व्यक्ति के विवेक, स्वभाव एवं समत्व-भाव में है। अतः जब तक परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के मानवीय जीवन में विवेक एवं समता की ज्योति प्रज्वलित नहीं होगी तब तक परिवार, समाज एवं राष्ट्र में शान्ति की सरिता नहीं बह सकती। इसलिए धर्म किसी एक क्षेत्र के लिए नहीं, समस्त क्षेत्रों के लिए आवश्यक है।

भगवान महावीर ने श्रुत और चारित्र-धर्म की साधना के लिए उपदेश दिया, और उसे मुक्ति का मार्ग बताया। परन्तु उससे पूर्व

उन्होंने आठ अन्य धर्मों का भी उपदेश दिया है। स्थानांग-सूत्र के दसवें स्थान में दश धर्मों का उपदेश दिया गया है—ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, पासण्ड—व्रत-धर्म, कुल-धर्म, गण-धर्म, संघ-धर्म, श्रुत-धर्म, चारित्र-धर्म और अस्तिकाय-धर्म ? इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने विवेक पूर्वक एवं साम्यभाव को जीवन में उतार कर ग्राम, नगर एवं राष्ट्र आदि की की जाने वाली व्यवस्था को ग्राम आदि का धर्म कहा है। यदि ग्राम आदि के व्यवस्थापकों में एवं जन-जीवन में विवेक न हो, अनुशासन न हो, तो अराजकता आ सकती है और उस स्थिति में किसी भी तरह के धर्म की साधना नहीं की जा सकती।

मूलं नास्ति, कुतः शाखाः ?

कुछ व्यक्ति ऐसा कहते हैं, कि हमें राष्ट्र-धर्म से क्या लेना-देना है। हमें तो मोक्ष-धर्म की बात सुनाइए ? राष्ट्र-धर्म तो सांसारिक कार्य है। परन्तु एकान्तरूप से ऐसा कहना एवं ऐसा सोचना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वृक्ष एवं शाखाओं का हरा-भरा रूप वृक्ष की जड़ पर आधारित है। यदि मूल बीज न हो, तो वृक्ष की शाखाएँ, पत्ते, फूल और फल कहां से होंगे ? यदि कोई व्यक्ति वृक्ष को जड़ से उखाड़कर उसकी शाखाओं और पत्तों को सदा सींचता रहे तब भी वे पत्ते कब तक हरे रहेंगे ? कुछ दिनों में ही सूख जाएँगे या सड़-गल कर नष्ट हो जाएँगे। इसी प्रकार ग्राम और राष्ट्र धर्म की जिसमें व्यक्ति स्वयं रहता, और रात-दिन व्यवहार करता है, उपेक्षा करके श्रुत और चारित्र-धर्म का परिपालन करना चाहे, तो वह कदापि नहीं कर सकता। जो व्यक्ति पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यक्तियों के साथ प्रेम, स्नेह एवं सद्भाव का व्यवहार नहीं कर सकता, उसके जीवन में धर्म का

वीज अंकुरित हो ही नहीं सकता। जिस मानव में मानवता को ज्योति नहीं जगी, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्नेह की भावना जागृत नहीं हुई, उसमें धर्म आ नहीं सकता। एकदिन ईशु के पास एक व्यक्ति आया, और उसने उनसे प्रार्थना की, कि 'भगवन् ! मैं आपका शिष्य वनना चाहता हूँ। मुझे आप सन्त वना लें।

ईशु ने कहा—'यह वहुत अच्छी वात है, कि तुम सन्त वनना चाहते हो। परन्तु पहले तुम यह वताओ, कि तुम्हारा अपने परिवार, अपने समाज एवं अपने देश के साथ प्रेम है या नहीं ? तुम्हारे मन में किसी के साथ द्वेष तो नहीं है ?'

"नहीं ! परिवार के साथ मेरा वहुत मधुर सम्वन्ध रहा है। मैं सवसे प्रेम करता रहा हूं और मुझे भी सवका प्यार एवं माधुर्य मिला। परन्तु मेरे मकान के सामने एक मकान है, उससे मेरे सम्वन्ध अच्छे नहीं हैं। उसके प्रति मेरे मन में सदा घृणा और नफरत की भावना रही है, और आज भी विद्यमान है। उस परिवार को छोड़कर और सवसे मुझे स्नेह रहा है।"

ईशु ने गंभीरता से उसकी वात सुनी, और फिर शान्त भाव से कहा, कि तुम अभी सन्त वनने के योग्य नहीं हो। क्योंकि जव तुम अपने पड़ोसी से प्रेम नहीं कर सके, उसके साथ मैत्री सम्वन्ध स्थापित नहीं कर सके, तव विश्व के साथ और समस्त प्राणी-जगत के साथ मैत्रीभाव कैसे रख सकोगे ? सन्त वनने के पहले जीवन-भूमि को पहले साफ-स्वच्छ कर लेना आवश्यक है। जव तक घृणा, नफरत एवं द्वेष का घास-फूंस काटकर नहीं फेंक दोगे, तव तक आत्म-साधना के क्षेत्र में धर्म का वीज अंकुरित एवं फलित नहीं हो सकता, कदापि नहीं हो सकता।

वात यह है, जव तक आपके मानस में राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों के प्रति वन्धुत्व भाव की भावना जागृत नहीं होगी, और

उनके साथ आपका वैसा व्यवहार नहीं होगा, जैसा आप अपने भाई के साथ या अपने साथ करते हैं, तब तक आप आध्यात्मिक धर्म का पालन तो क्या करेंगे, उसे समझ भी नहीं सकते।

राष्ट्र का अर्थ है—एक प्रकृति या राष्ट्र निर्माताओं के द्वारा बनाई हुई सीमा में रहने वाले व्यक्तियों का समूह। वेष-भूषा, भाषा, रीति-रिवाज एवं परंपराओं की भिन्नता होते हुए भी उनमें एक दृष्टि से समानता एवं एकरूपता परिलक्षित होती है। वह अपेक्षा है-सब में राष्ट्र हित की, अथवा राष्ट्र में रहने वाले सब व्यक्तियों के विकास एवं उन्नति की भावना। इसलिए राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य एक ही रहता है—राष्ट्र-हित। और उनका धर्म है—राष्ट्र के साथ ऐसा व्यवहार करना जिससे राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों के हित को क्षति न पहुँचे। विवेक के साथ सबके अभ्युदय का प्रयत्न करना यही राष्ट्र धर्म और यही मानव-धर्म है। याद रखिए—जिस फूल में सुगन्ध नहीं है, वह फूल रंग-रूप में कितना ही सुन्दर क्यों न दिखाई दे, उसका कोई मूल्य नहीं है। फूल का महत्व उसके रंग-रूप एवं आकार से नहीं, उसकी सुवास है। तालाब की शोभा, उसकी लम्बाई-चौड़ाई से नहीं, बल्कि उसमें भरे हुए स्वच्छ, निर्मल, मधुर एवं शीतल जल से है। मोती की शोभा उसके वजन से नहीं उसमें रहे हुए पानी से है। घर की शोभा चार-दीवारी एवं भव्यभवन से नहीं, उसमें रहने वाली विवेकशील गृहणी से है। रात्रि की शोभा राकेश से है। इसी प्रकार राष्ट्र की शोभा एवं राष्ट्र का महत्व राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों में स्थित राष्ट्र-धर्म से है। यदि धर्म-भाव से सम्पन्न थोड़े-से व्यक्ति ही क्यों न हों, वे ही राष्ट्र के गौरव को सुरक्षित रखने वाले हैं। पाश्चात्य विचारक रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है—"विवेकपूर्ण लोगों का छोटा-सा दल असंख्य मूर्खों के जंगल से अच्छा है। राज्यों की—राष्ट्रों की

भी जननी से कम नहीं है। इसलिए विचारकों ने जननी और जन्म-भूमि को स्वर्ग से भी महान् बताया है—

'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

राष्ट्र का गौरव :

एक बार कुछ भारतीय एक जापानी जहाज में जापान की यात्रा कर रहे थे। भोजन के समय उन्हें उस जहाज में अपनी रुचि के अनुकूल शाकाहारी भोजन एवं फल नहीं मिले। इससे वे बहुत क्षुब्ध हो गए, और जापान एवं जापानी जहाज की व्यवस्था की आलोचना एवं निन्दा करने लगे, और उसे गालियां भी देने लगे।

उसी समय एक जापानी व्यक्ति उस ओर से निकला, और भारतीय लोगों के मुँह से अपने देश की निन्दा सुनकर उसके मन को बहुत बड़ी चोट लगी। उसने उनसे पूछा—आप इतने क्षुब्ध क्यों हो रहे हैं, इतनी आग क्यों उगल रहे हैं? बताइए मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

वे आवेश में तो थे ही, अतः तेज स्वर में बोले—यहां शाकाहारी भोजन तो मिलता ही नहीं, परन्तु फल और सूखा मेवा भी तो नहीं मिलता, और हम मांसाहार करते नहीं। अब बताइए क्या खाएँ?

उसने उन्हें शान्त रहने को कहा, और स्वयं अपनी केबिन में और अपने स्टोक में से बहुत से फल, और मेवा लेकर उनके पास आया और उन्हें देते हुए कहा—लो, पेट-भर के खाओ। यदि और किसी चीज की आवश्यकता हो तो मुझे सूचित कर देना।

सब ने पेट भर खाया। भूख शान्त हो गई। सब जापानी युवक को धन्यवाद देने लगे, और उसके पास जाकर कहा— इन फलों और मेवों की कीमत ले लें।

उस युवक ने दृढ़-स्वर में कहा—'मुझे पैसा नहीं चाहिए। मैं फलों

धर्म प्राणी-मात्र के उदय की अभिलाषा रखता है। आज के सर्वोदय और भगवान महावीर के सर्वोदय में यही अन्तर है। आप जो भी कार्य करें उसमें इस बात का विवेक रखें, कि आपके कार्य से, आपके व्यवहार से देश का एवं जन्म-भूमि का गौरव घटने न पाए। मातृभूमि के गौरव को बनाए रखना, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, और प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है, इसी को राष्ट्र-धर्म कहा है। जिस स्वार्थी व्यक्ति को केवल अपने गौरव को बनाए रखने की चिन्ता है, उसे न तो अपने देश में बसने वाले भाई-बहनों के हित का, सुख का एवं विकास का ख्याल है, और न देश की इज्जत एवं प्रतिष्ठा का ख्याल है, वह इन्सान नहीं है। यदि कवि की भाषा में कहूँ—

> **"जिसको न अपने देश का, गौरव तथा अभिमान है।**
> **वह नर नहीं, नर-पशु निरा है, और मृतक समान है॥"**

आपने जयचन्द, मीर-जाफर, और सेठ अमीचन्द का नाम सुना और पढ़ा होगा। इन इर्ष्यालु एवं स्वार्थी व्यक्तियों ने ही राष्ट्र को परतन्त्र बनाया। जयचन्द वीर-योद्धा पृथ्वीराज चौहान का भाई था। परन्तु वह पृथ्वीराज के अभ्युदय एवं विकास को सह नहीं सका। उसके बढ़ते हुए यश को देखकर जयचन्द के मन में इर्ष्या की आग धधकने लगी। और उसे गिराने का तथा पराजित करने का सामर्थ्य जयचन्द में था नहीं। इसलिए उसने मुसलमान सम्राट मोहम्मद गोरी को गजनी से बुलाया और उसका सहयोग कर अपने भाई का पतन करने में सफल बना। वह चाहता था, कि पृथ्वीराज के गिरते ही मैं भारत का सम्राट बन जाऊँगा। परन्तु जो कुछ हुआ वह उसकी कल्पना के विपरीत हुआ। उसी समय से भारत में मुगलों के पांव जमने लगे, और धीरे-धीरे भारत का शासन-सूत्र मुसलमान-सम्राटों के हाथ में चला गया। इसके पश्चात् मीरजाफर एवं अमी-

चन्द ने धन-वैभव, प्रतिष्ठ एवं पद के लोभ में आकर भारत के साथ धोखा किया और ईस्टइण्डिया कम्पनी (East India Co.) को सहयोग दिया। जिसके परिणामस्वरूप भारत में अंग्रेजों ने अपने शासन की नींव रखी, और लगभग दो शताब्दी तक भारत को गुलाम वनाए रखा। ऐसे मानव मानव नहीं, दानव हैं और राष्ट्र-धर्म से गिरे हुए हैं। ऐसे व्यक्तियों से—जो सर्व-प्रथम अपने स्वार्थ को महत्व देते हैं, न तो किसी राष्ट्र का विकास हुआ है, और न कदापि होगा।

देश-प्रेम :

देश-प्रेम का अर्थ है—अपने राष्ट्र या देश—जिसमें हमने जन्म लिया है, के प्रति प्रेम और स्नेह के भाव रखना, अर्थात् देश में रहने वाले सव व्यक्तियों के साथ प्रेम का व्यवहार करना। इसका यह अर्थ नहीं है, कि दूसरे देश के साथ द्वेष भाव रखना, या पर राष्ट्र को समाप्त करने का प्रयत्न करना। जैन-धर्म न किसी व्यक्ति से द्वेष करना सिखाता है, और न किसी राष्ट्र से। वह तो सबके साथ मैत्री भाव रखने की बात कहता है। मानवता की दृष्टि से देखें तो सव मानव एक हैं—भले ही किसी भी राष्ट्र में क्यों न रहते हों। अत: मनुष्य का यह कर्तव्य है, कि वह मानव-मात्र के साथ प्रेम-स्नेह का व्यवहार करे। परन्तु अपनी इस शक्ति का विकास करने के लिए पहले उसे अपने घर से अपने कर्तव्य का पालन करना शुरू करना चाहिए। मनुष्य को पहले अपने परिवार, अपने समाज, एवं अपने राष्ट्र के साथ प्रेम करना चाहिए, और फिर सम्पूर्ण विश्व में रहने वाले मनुष्यों के साथ। परन्तु जो व्यक्ति अपने स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ देखता ही नहीं है, अथवा जो अपने परिवार के सदस्यों के हित का, सुख का ख्याल नहीं रखता, अपनी समाज की स्थिति को समझकर

उसके विकास के लिए उचित कदम नहीं उठाता, और अपने राष्ट्र की प्रगति में सहायक नहीं वनता, वह कदापि मानव-जाति के साथ प्रेम नहीं कर सकता। इसलिए महान् विचारकों ने कहा—पहले परिवार, समाज एवं राष्ट्र के साथ प्रेम करो। अपने स्वार्थ को एक ओर फेंक कर पर के स्वार्थ को देखने का प्रयत्न करो और पर-सुख को या राष्ट्र के हित एवं सुख को ही अपना सुख समझो, तभी तुम अपना एवं राष्ट्र का विकास कर सकोगे। याद रखो, अपने स्वार्थ को पूरा करने में कोई महत्व नहीं है। अपना स्वार्थ तो एक कुत्ता भी पूरा करता है। मानव की विशेषता इसी में है, कि वह अपनी शक्ति राष्ट्र के विकास में लगा दे।

मैं आपको यह वता रहा हूँ, कि आप किसी से द्वेष न करें, किसी भी राष्ट्र को उत्पीड़ित करने का या किसी के कार्य में वाधा उपस्थित करने का प्रयत्न न करें। परन्तु यदि कोई दूसरा राष्ट्र आपके देश पर आक्रमण करता है, उस समय अपने स्वार्थ को साधने के लिए उस आक्रमण को सहयोग न दें। क्योंकि ऐसा करना देश को धोखा देना है, देश के साथ विश्वासघात करना है। इसलिए ऐसे जघन्य कार्यों को देश-द्रोह कहा है। और देश-द्रोही राष्ट्र के घोर शत्रु माने गए हैं। ऐसे समय में राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का भले ही वह स्त्री हो, या पुरुष, यह कर्तव्य हो जाता है, कि राष्ट्र की एवं देश की रक्षा के लिए अपने स्वार्थों का परित्याग करने का प्रयत्न करे। एक समय की घटना है—

मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ के सिंहासन पर महाराणा संग्रामसिंह के निधन के वाद महाराणा विक्रमादित्य आरूढ़ हुए। उस समय गुजरात के वादशाह वहादुरशाह का भाई चांदखां मेवाड़ के महाराणा की शरण में आ गया। वहादुरशाह ने अपना दूत महाराणा

की सेवा में भेजकर यह संदेश दिया, कि चांदखां देश-द्रोही है, उसे आप मुझे सौंप दें। यदि उसे मेरे अधीन नहीं किया गया, तो मैं अपनी शक्ति से उसे प्राप्त करूँगा। इसका स्पष्ट अर्थ था, कि शरणागत को लौटा दो, या युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। महाराणा की रगों में रजपूती खून वह रहा था। उसने दूत से कहा, कि वहादुरशाह से कह दो—जो मेवाड़ की शरण में आ चुका है, उसकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य ही नहीं, परम धर्म है। मेवाड़ में शरण लेने वाला मेवाड़ का हो चुका है। अव उसकी इज्जत और प्रतिष्ठा रखने तथा उसकी रक्षा करने में ही मेवाड़ की इज्जत, प्रतिष्ठा एवं रक्षा निहित है। महाराणा का उत्तर सुनकर वहादुरशाह का पारा चढ़ गया। उसने विशाल सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। चित्तौड़ के चारों ओर घेरा डाल दिया गया। परन्तु वहादुरशाह के सामने सवसे वड़ी कठिनाई थी, कि सेना को रसद की पूर्ति कैसे की जाए ? मेवाड़ का कोई भी व्योपारी आक्रामक को खाद्य-सामग्री वेचने के लिए तैयार नहीं था।

उस समय चित्तौड़ में धनदास भी रहता था। वह अपने नाम के अनुरूप धन का दास था, सम्पति का गुलाम था। वहादुरशाह ने उसे बुलाया, और कहा—देखो, सेना के लिए खाद्य-सामग्री चाहिए। यदि तुम हमारी आवश्यकता की पूर्ति कर दो, तो हम तुमको दस हजार मुद्राएँ अभी देंगे, और रसद के लिए तुम जो मूल्य चाहोगे, वह तुमको मिल जाएगा।

सहज ही इतने धन की प्राप्ति होती देखकर धनदास का लोभी हृदय उसके जाल में फंस गया। उसने धन की थैली स्वीकार कर ली और रसद पहुँचाने का ठेका ले लिया। उसने यह नहीं सोचा, कि इससे मेरी मातृभूमि का कितना नुकसान होगा ? स्वार्थी व्यक्ति

देश से पहले अपने स्वार्थ को देखता है। उसमें धनदास का तो यह स्वर्ण-सूत्र था—

"पितु. मातु, सहायक, स्वामी, सखा,
तुम ही धन-देव हमारे।"

धन के गीत गाते-गाते धनदास ने अपने घर में प्रवेश किया। उसे प्रसन्न चित्त देखकर उसकी पत्नी माया ने पूछा—आज, आप इतने क्यों प्रसन्न हो रहे हैं? क्या आज आपको किसी तरह का अलभ्य लाभ हुआ है?

प्रिये! आज का दिन परम-आनन्द का दिन है। तुम्हें यह समाचार तो मिला होगा, कि गुजरात के बादशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया है?

पति-देव! मैं समझ नहीं पा रही हूँ, कि देश पर तो संकट के काले-कजरारे बादल उमड़-घुमड़ कर छा रहे हैं, और आप आनन्द की वंशी बजा रहे हैं? जरा बताइए इस नर--संहार से आपको क्या मिलने वाला है?

प्रिये! तुम नहीं जानती हो, देश में जब युद्ध छिड़ता है, तब व्यापारियों के घर घी के चिराग जलते हैं। अब कुछ न पूछो, मेरी पांचों अंगुलियां घी में हैं। बहादुरशाह ने मुझे सेना को रसद पहुँचाने का ठेका दे दिया है। उसके लिए दश-सहस्र तो भेंट रूप में मिल चुके हैं, और अब एक-एक रुपये के दस-दस रुपये मिलेंगे। कौन मरता है, कौन जिन्दा रहता है? कौन परास्त होता है, और कौन विजय प्राप्त करता है? मुझे यह नहीं देखना है। देश डूबता है, डूबे और बचता है, तो बचे, मैं उसकी क्यों चिन्ता करूँ। मैं तो मालोमाल बन जाऊँगा।

उस युग का ही नहीं, आज का व्यापारी वर्ग भी जो केवल धन को महत्व देता है, और धन को ही सब-कुछ समझता है, इसी दृष्टि

को सामने रखता है। वह रात-दिन यही सोचता है—कब युद्ध हो, कब अकाल पड़ें अथवा कब राष्ट्र एवं मानव-जाति पर संकट एवं विपत्ति का पहाड़ टूटे, और उस समय मेरी तिजोरी धन से, नोटों से भर जाए। जब राष्ट्र विपत्ति में फंसा हो, लोगों को आवश्यक साधन सामग्री उपलब्ध नहीं हो रही हो, उस समय राष्ट्र की एवं जनता की विवशता का अनुचित लाभ उठाना देश-द्रोह है, राक्षसीपन है। और ऐसे संकट के समय में देश को, जनता को यथाशक्य सहयोग देना, और उसे संकट से बचाने का प्रयत्न करता राष्ट्र-धर्म है।

धनदास की बात सुनकर माया की आँखों में आंसू आ गए। उसने कहा—धिक्कार है, तुम को। मेवाड़ संकट में है, और तुम आनन्द मना रहे हो। चन्द चाँदी के चमकते हुए टुकड़ों के लिए अपने धर्म, अपने ईमान और अपने देश-प्रेम को बेच रहे हो। इससे बढ़कर और कोई पाप नहीं है अतः बहादुरशाह के रुपये लौटा दो और कह दो, कि मैं रसद नहीं पहुँचा सकता।

प्रिये ! स्त्रियों को बातें बनाना बहुत आता है। कहने में उन्हें क्या जोर लगता है ? परन्तु, कभी यह सोचा भी है, कि मैं पाप क्यों करता हूँ। यदि पाप नहीं करूं, तो तुम्हारी यह चटक-मटक कैसे रहेगी ? तुम्हारा शरीर सोने की चमक और हीरों की दमक से कैसे चमकेगा, और कैसे दमकेगा ?

आप ने मुझे गलत समझा है। मुझे ऐसे आभूषण नहीं चाहिए, जिन्हें प्राप्त करने के लिए देश के वीरों का खून बहाकर उसे परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ने वाले दुष्ट को आप सहयोग दें। देश-द्रोह के पैसे से तन को सजाने की अपेक्षा, मैं फटे-पुराने चिथड़ों से अपने तन को ढकने में गर्व अनुभव करूंगी। लो, ये आपके आभूषण, ये आपके चमकीले भड़कीले वस्त्र। यदि आप शत्रु का साथ देते हैं, तो

मेरा यह निर्णय है, कि मैं आपके घर का परित्याग करके देश की सेवा करूंगी।

पत्नी के परित्याग को एवं देश-प्रेम को देखकर धनदास का धन का नशा उतर गया। उसने पत्नी को रोकते हुए कहा—ठहरो, देश सेवा तुम अकेली नहीं, हम दोनों मिलकर करेंगे। उसने तुरन्त अपने विश्वस्त नौकर को बुलाया और कहा—इस थैली को बहादुरशाह को दे आओ, और कह देना, कि मैं सेना के लिए रसद की पूर्ति नहीं कर सकता।

नारी के तेज ने, साहस ने एवं त्याग ने देश के गौरव को बचा लिया। हजारों-हजार राजपूत वीर महिलाओं के द्वारा वीरता, देश-प्रेम एवं शील-रक्षा के लिए किया गया त्याग एवं शत्रु के हाथ में पड़ने की अपेक्षा प्रज्वलित ज्वालाओं में जलकर मृत्यु को सहर्ष स्वीकार करने का अनुपम साहस आज भी जीवित है, और युग-युग तक जीवित रहेगा।

धन और राष्ट्र :

आज आपको भी सोचना है, कि जिस राष्ट्र की मिट्टी में आप जन्मे हैं, खेले-कूदे हैं, और सुख साधनों को प्राप्त किया है, और कर भी रहे हैं, परन्तु आप ऐसा तो कोई काम नहीं कर रहे हैं जो देश के लिए खतरनाक हो। थोड़े से धन के लोभ में आकर राष्ट्र को भयंकर हानि तो नहीं पहुँचा रहे हैं? आप अखबारों में पढ़ते रहते हैं—राष्ट्र के कुछ व्यक्ति विदेशों से पैसा लेकर उनके लिए जासूसी जैसा जघन्य कार्य भी करते हैं, उन्हें गुप्त सूचनाएं भेजते रहते हैं। कभी-कभी कुछ पार्टियें भी अपने हाथ में अधिकार लेने के लिए विदेशी सरकारों से अथवा शत्रु-पक्ष से सांठ-गांठ करती हैं। कुछ व्यक्ति अधिक पैसा कमाने के लोभ में निषिद्ध विदेशी माल को चोरी

से लाते हैं, और विदेशों में महंगे बिकने वाले माल को यहाँ से चोरी-छिपे भेजते हैं। ऐसे कार्य देश के लिए घातक हैं और अधःपतन के कारण।

भगवान महावीर ने यह नहीं कहा, कि तुम धन मत कमाओ ? परन्तु उन्होंने यही कहा है—धन कमाते समय विवेक रखो। व्यापार करते समय या अन्य कोई भी कार्य करते समय राष्ट्र के हित का, समाज के हित का, परिवार के हित का ध्यान रखो। अपना पोषण करना पाप नहीं है, पाप है—पर का शोषण करके अपना पोषण करना। राष्ट्र-धर्म आपको यही सिखाता है--आप जो भी कार्य करें उसमें विवेक की आंख खुली रख कर काम करें। कार्य करने के पूर्व यह सोच लें, कि इससे देश का अहित एवं नुकसान तो नहीं होगा।

रोटी का सवाल :

आज राष्ट्र के सामने अनेक समस्याएँ हैं। उनमें सबसे पहली समस्या है--अर्थ की अथवा पेट की। बाहर से आने वाले विदेशी अतिथि नयीदिल्ली, चंडीगढ, बम्बई की शानदार बिल्डिगों को, भाखड़ा जैसे बांधों को, टाटा के परमाणु अनुसन्धान केन्द्र को एवं अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों को देखकर भारत की प्रगति का मूल्यांकन करते हैं। और विदेशों में जाकर वक्तव्य दे देते हैं, कि भारत काफी प्रगति कर चुका है। आप भी अपने वैभव को देखकर यह सोचते होंगे---भारत में धन बहुत है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ, कि भारत ने विकास नहीं किया, अथवा भारत में धन है ही नहीं। परन्तु अपने स्वार्थ के चश्मे को एक ओर रखकर देखें--इस प्रगति से आर्थिक समस्या कितनी सुलझ सकी है। याद रखिए, किसी बगीचे में जिधर देखो उधर बबूल के झाड़ खड़े हैं, कहीं किसी कोने में एक-आध आम, नीबू, संतरे आदि का वृक्ष खड़ा है, तो इससे वह बगीचा आम आदि

का नहीं कहलाएगा। देखने वाले उसे बबूल का बगीचा कहेंगे। इसी प्रकार यदि भारत में पाँच प्रतिशत व्यक्ति धनवान हैं और पच्चानवे प्रतिशत गरीब हैं, तो कोई भी समझदार व्यक्ति उसे धनवानों का देश नहीं, गरीबों का देश ही कहेगा। अतः भारतीय के लिए राष्ट्र धर्म वही है, जिससे केवल धनवानों का नहीं, गरीबों का भी हित हो, अमीर और गरीब की विषमता समाप्त हो। जब तक भारत का एक-एक बच्चा सुख की नींद नहीं सोएगा, तब तक राष्ट्र में सुख की, आनन्द की, सरिता नहीं बह सकती। आज हो यह रहा है, कि आप कुत्ते को दूध और टोस्ट खिला रहे हैं, जबकि पड़ौसी का लड़का दूध के लिए तो क्या, रोटी के लिए भी तड़प रहा है। यह कोई धर्म नहीं है, कि मरने वाला मरे हम मौज करें। जब तक आपके हृदय में राष्ट्र के व्यक्तियों के प्रति प्रेम, स्नेह, भ्रातृभाव एवं आदर-भाव उद्‌बुद्ध नहीं होगा, तब तक राष्ट्रधर्म का पालन नहीं कर सकते। और जो व्यक्ति राष्ट्र-धर्म का परिपालन नहीं करता, वह न तो श्रुत-धर्म का पालन कर सकता है, और न चारित्र-धर्म का। जब तक राष्ट्र के सामने रोटी का सवाल खड़ा है, तब तक धर्म का उदय नहीं हो सकता ?

दो अतियों के बीच :

आज हम देखते हैं, कि एक ओर रोटियों—खाद्य-पदार्थों का इतना ढेर लगा है, कि व्यक्ति अधिक खाने से बीमार हो रहा है, और दूसरी ओर व्यक्ति को खाने के अन्य पदार्थ तो क्या रूखी-सूखी रोटी भी दोनों समय भर-पेट नहीं मिल पाती। वह भूख के कारण कमजोर हो रहा है। दोनों ही दुःख से पीड़ित हैं। पदार्थों का उपभोग करने वाला भी दुःख के आँसू बहा रहा है, और अभावग्रस्त भी दुःख की आग में जल रहा है। अति सदा बुरी होती है—भले ही, वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो। अत्यधिक संग्रह भी दुःख का कारण है,

और अत्यधिक अभाव भी दुःख का कारण है। महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा है—"अति निषेध भी जीवन के विकास में बाधक है और अति प्रवृत्ति भी प्रगति के पथ में रुकावट डालने वाला रोड़ा है। यदि बिजली की रोशनी एकदम मन्द है, तब भी हम पढ़ नहीं सकते, और यदि उसे अत्यधिक तेज कर दिया जाए, तब भी हम उसमें नहीं पढ़ सकते। यदि हम अति मन्द स्वर में बोलते हैं, तो लोग सुन नहीं सकते, और यदि अति जोर से बोलते हैं, तब भी लोग सुन नहीं सकते। इसलिए दो अतियों के बीच का मार्ग सदा हितकर रहता है" –

"The Extreme Posetive and extreme nagative are always similar, when the vibration of light are to slow, we do not see them, nor do we see them when they are too rapid. So with sound when very low in pitch we do not hear it, when very high we do not hear either."

मैं आप से कह रहा था, कि पदार्थ अपने आपमें बुरे नहीं हैं। परन्तु जब संग्रह करने में व्यक्ति अति कर देता है, तब वे पदार्थ उसके लिए दुःख का कारण बन जाते हैं। दुनिया में केवल दुःख ही पीड़ा का कारण नहीं है, सुख भी पीड़ामय होता है। जैन-धर्म ने दुःख की तरह सुख को भी वेदना रूप कहा है। यदि महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में कहूँ—"यह संसार अति सुख से भी पीड़ित है, और अति दुःख से भी पीड़ित है। जब तक सुख और दुःख को परस्पर बांट नहीं लेंगे, तब तक पीड़ा मिट नहीं सकती"–

"जग पीड़ित है, अति सुख से,
जग पीड़ित है, अति दुःख से।"

याद रखिए, यदि विषमता की खाई को भरने का प्रयत्न नहीं किया, तो यह और अधिक चौड़ी और गहरी बन जाएगी,

और उसका परिणाम होगा—विनाश। आज पूंजीपति अधिक अमीर वन रहा है, तो गरीव अधिक गरीव। आप तिजोरी को भरते हुए देखकर खुश हो रहे हैं, परन्तु यह नहीं देखते कि दूसरे की तिजोरी का क्या हाल है। जव कुँआ खोदते हैं, तव एक ओर जमीन में से निकलने वाले पत्थरों और मिट्टी का इतना ढेर लग जाता है, कि छोटा-सा पहाड़ खड़ा हो जाता है। परन्तु इसके साथ दूसरी ओर जमीन में वहुत गहरा गड्ढा भी वन जाता है। इसी प्रकार यदि एक ओर सम्पत्ति का, धन का ढेर लग जाता है, तो दूसरी ओर अभाव का गहरा खड्ढा हो जाना भी स्वाभाविक है। और यह विषम स्थिति ही परिवार, समाज एवं राष्ट्र में अशान्ति का मूल कारण है। राष्ट्र-धर्म आपको यह शिक्षा देता है—अति धन भी वुरा है, और अति गरीवी भी वुरी है, अतः आप अति का त्याग करके सवके साथ समान वन कर रहें। अपनी शक्ति का सम-विभाजन करके स्वयं सुख से, शान्ति से एवं आनन्द से रहें, और दूसरे को भी सुख, शान्ति और आनन्द से रहने दें। केवल अपने हित को ही नहीं, दूसरे के हित को भी देखें, और प्रत्येक व्यक्ति के हित को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करें। यही मनुष्य का कर्त्तव्य है और यही राष्ट्र-धर्म है। जव तक मनुष्य यह नहीं जान लेगा, कि राष्ट्र में रहते हुए राष्ट्र के व्यक्तियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए, तव तक वह श्रुत चारित्र धर्म का सम्यक् रूप से पालन नहीं कर सकता। ★
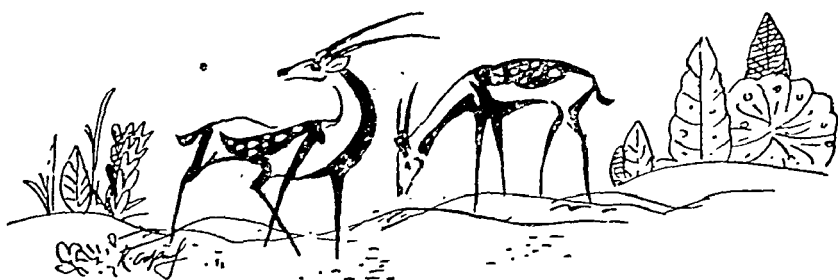
राज-तन्त्र और जन-तन्त्र :

भारतीय-संस्कृति में राज-धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। राज्य की सुव्यवस्था बनाए रखना, राजा का कर्तव्य ही नहीं, परम-धर्म बताया है। वर्तमान युग में, भारत में राज-तन्त्र अथवा राजा का शासन समाप्त हो गया, और उसके स्थान पर जन-तन्त्र की स्थापना की गई है। राज-तन्त्र में राज्य का संचालक, व्यवस्थापक एवं शास्ता राजा होता था, और जन-तन्त्र में जनता के द्वारा निर्वाचित प्रधानमंत्री राज्य का शास्ता एवं नेता बनता है। राजा वंश-परम्परा से जीवन-पर्यन्त शासन करता था, परन्तु प्रधानमंत्री का पद न तो वंश-परम्परा से संबद्ध है, और न जीवन-पर्यन्त के लिए है। वह प्रति पांच वर्ष के बाद जनता के द्वारा निर्वाचित होकर

आता है, और पांच वर्ष के लिए अपने अधिकार का उपयोग करता है। राजा और प्रधानमंत्री अथवा राज-तन्त्र और जन-तन्त्र की शासन-प्रणाली में वहुत अन्तर है। मैं अभी राज-तन्त्र और जन-तन्त्र का विश्लेषण करने नहीं वैठा हूं। मैं तो आपको यह बताना चाहता हूँ, कि राज-धर्म क्या है? चाहे आज राजा के स्थान पर प्रधानमंत्री का शासन हो या राष्ट्रपति का हो, इससे राज-धर्म के पालन में कोई अन्तर नहीं आता। राजा या प्रधानमंत्री शव्द चाहे जो हो, पर दोनों का लक्ष्य यही है, कि राज्य में रहने वाले व्यक्तियों की सुव्यवस्था हो। दोनों–राजा और प्रधानमंत्री, राज्य के, राष्ट्र के शास्ता हैं। अपने संवैधानिक अधिकारों का उपयोग करके जन-हित करने का उत्तरदायित्व दोनों पर है। अतः जन-हित का लक्ष्य रखकर काम करने वाला शासन, चाहे राज-तन्त्र का हो या जन-तन्त्र का, देश के लिए हितप्रद है और इसी को धर्ममय शासन कहा है। यदि दोनों अधिकारों के मद में मदोन्मत्त होकर अपना स्वार्थ साधने का प्रयत्न करते हैं, तो दोनों ही शासन देश के लिए घातक हैं। यह सत्य है, कि प्रधानमंत्री को जनता चाहे तो प्रति पांच वर्ष के वाद वदल सकती है, किसी भी व्यक्ति एवं पार्टी को बदलने का अधिकार जनता के हाथ में है, परन्तु स्वार्थी एवं अहंकारी प्रधानमंत्री पांच वर्ष तो क्या, एक वर्ष में ही देश को पतन के महागर्त में गिरा सकता है। इसलिए यह समझना आवश्यक है, कि शासक कैसा होना चाहिए? शासित और शास्ता का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होना चाहिए?

शासित और शास्ता :

भारतीय-संस्कृति के विचारकों ने राजा और प्रजा के अथवा शासित और शास्ता के सम्वन्ध को पिता-पुत्र के सम्वन्ध के समान वताया है। जैसे परिवार के प्रमुख व्यक्ति का यह कर्तव्य है, कि वह परिवार के छोटे-वड़े सभी सदस्यों की व्यवस्था करता है, उनकी

आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, उन्हें योग्य बनाने का प्रयत्न करता है, और उनको आगे को बढ़ने की प्रेरणा देता है, उसी प्रकार शासक का भी यह कर्तव्य है कि वह देश के, राज्य के समस्त व्यक्तियों को—चाहे वे किसी भी जाति, किसी पंथ एवं मत के हों और किसी भी रंग के क्यों न हों, अपने ही परिवार के सदस्य समझ कर उनके साथ आत्मीयता का व्यवहार करे और उनको सुयोग्य नागरिक बनाने में एवं उनके जीवन का विकास करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दे। और जनता का भी यह कर्तव्य है, कि वह योग्य शासक का आदर-सम्मान करे और उसकी उचित आज्ञाओं का पालन करे। इस प्रकार शासक और जनता में जब तक मधुर सम्बन्ध बने रहते हैं, तब तक कोई भी शक्ति उस राज्य को हड़प नहीं सकती।

भारतीय-संस्कृति के अमर-गायक महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघुवंशी राजा दिलीप की शासन-व्यवस्था का वर्णन करते हुए बताया है, कि शासक जनता का पिता क्यों कहा गया है? इसका समाधान करते हुए महाकवि अपने काव्य में लिखता है—"अपनी प्रजा को नीति की शिक्षा देने के कारण, भय से उनकी रक्षा करने के कारण, और उनका भरण-पोषण करने के कारण राजा दिलीप प्रजा का सच्चा पिता था। उनके अपने-अपने पिता तो केवल जन्म देने वाले थे"—

ही माता और पिता है :तथा राजा, समस्त मनुष्यों का जो उसके राज्य में रहते हैं, हित-साधन करने वाला है"—

"राजा सत्यं च धर्मश्च, राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता-पिता चैव, राजा हितकरो नृणाम् ॥"

महर्षि वेदव्यास ने महाभारत के शान्ति पर्व में लिखा है—"जिस राजा को अपने राज्य एवं देश में निवसित व्यक्तियों को प्रसन्न रखने की कला आती है, वह राजा इस लोक और पर-लोक दोनों में सुख पाता है।" इसके आगे वेदव्यास लिखते हैं - "जिस राजा की कृपा सरोवर में विकसित होने वाले कमलों के समान विकसित होती रहती है, वह सव प्रकार के पुण्य फलों का भागी होता है, और उस का यश अधिक दिनों तक छाया रहता है।" परन्तु जो राजा अपने स्वार्थ का पोषण करने में, भोग-विलास में रात-दिन लगा रहता है, उसके लिए वेदव्यास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"जो राजा प्रजा की अच्छी तरह रक्षा नहीं करता, वह चोर के समान है।" इसी शान्ति पर्व में एक स्थान पर वेदव्यास ने लिखा है—"यदि राजा दुश्चरित्र हो, तो वह सम्पूर्ण राज्य को, समस्त देश को संतप्त कर डालता है।" सन्त तुलसीदासजी ने भी रामचरित मानस में लिखा है—"जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःख का, कष्ट का और वेदना का संवेदन करती है, वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी है—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवस नरक अधिकारी ।"

राज—धर्म :

भारतीय-संस्कृति के विचारकों ने उसी राजा को सच्चे अर्थ में राजा कहा है, जो अपने राज्य में रहने वाले और वाहर के राज्यों से अपने राज्य में आकर वसने वाले व्यक्तियों के

अपने कर्त्तव्य-भाव को विस्मृति के गहरे कूप में डालकर अपने ऐश-आराम एवं भोग-विलास में व्यस्त रहने लगे। जनता के परिश्रम पर स्वयं गुलछर्रे उड़ाने लगे। प्रजा का शोषण करके, अनेक तरह के टैक्सों के माध्यम से जनता का धन लूट-खसोट कर आमोद-प्रमोद करने लगे। इसी का परिणाम है, कि जनता के मन में उनके प्रति घृणा एवं नफरत की भावना घर कर गई और उसने उन्हें राज-तख्त से नीचे उतार फेंका। और शासन की कुर्सी पर प्रधानमन्त्री को और राज्यों में मुख्य मंत्री को बैठा दिया।

भले ही, हम कुर्सी पर बैठने वाले व्यक्ति को राजा कहें, प्रधान मंत्री कहें या मुख्य मंत्री कहें, सच्चा शासक वही है, जो जनता के हित का ध्यान रखता है। जो व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति अपने स्वार्थ को साधने में नहीं, जनता की स्थिति को सुधारने में लगाता है, देश की गरीबी को मिटाने में लगाता है, और प्रत्येक स्त्री-पुरुष को रोजी-रोटी देता है, वही शासक वास्तविक अर्थ में शासन करने के योग्य है। राजा या शासक का सब से पहला कर्तव्य यह है, कि वह यह देखे, कि मेरे राज्य में कोई भूखा, नंगा या दुःखी तो नहीं है। देश के लोग बीमार तो नहीं हैं। उन में शिक्षा का विकास कितना हो पाया है। उनको रोजगार मिल रहा है, या नहीं। उनको समान रूप से न्याय मिल रहा है, या नहीं। भूख, बेकारी, बीमारी एवं अशिक्षा को दूर करना शासन का मुख्य कर्तव्य है—भले ही, वह राजतन्त्र का शासन हो, या प्रजा-तन्त्र का।

राम-राज्य :

आज हजारों और लाखों वर्षों के बाद भी लोग राम को याद करते हैं। महात्मा गांधी भी राम-राज्य के स्वप्न देखते रहे हैं। गांधीजी प्रजा-तन्त्र के समर्थक थे। अतः हमें यह विचार करना है,

प्रजा की सुव्यवस्था के लिए लिया पाता है। वह उस कोप में से उतना ही पैसा निकाल सकता है, जिससे अपना एवं अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। परन्तु अपने भोग-विलास के लिए एवं मौज-मजा लूटने के लिए उस कोष में से उसे एक नया पैसा भी खर्च करने का अधिकार नहीं है। उस कोष पर राजा का या प्रधान-मंत्री का नहीं, जनता का अधिकार है। इस वात को ध्यान में रख कर जनता के पैसे का दुरुपयोग नहीं करने वाले शासक ही जनता का एवं राष्ट्र का हित कर सकता है। दिल्ली के सिंहासन पर वैठने वाले वादशाह नसीरुद्दीन ने इस तरह के आदर्श को वरावर निभाया, जो आज के कलियुग में ज्योति-स्तंभ के रूप में पथ-भ्रष्ट शासक वर्ग को मार्ग दिखा रहा है।

वादशाह नसीरुद्दीन दिल्ली तख्त पर वैठा। फिर भी वह अपना सारा काम अपने हाथ से करता था। वह अपने एवं अपने परिवार का जीवन निर्वाह करने के लिए पुस्तकें लिखता था। लेखन कार्य से जो पैसा मिलता था, उससे वह सादगी से अपने जीवन का निर्वाह करता था। यह तो आप जानते हैं, कि लेखक की आमदनी कितनी होती है? यह सत्य है, कि उसे इतना अधिक पैसा नहीं मिलता था, जिससे शान-शौकत से रह सके, ऐश-आराम की जिन्दगी विता सके, भोग-विलास में डूवा रह सके। परन्तु यह भी इतना ही सत्य है, कि उसे कभी भूखा नहीं रहना पड़ा। सादा खाना और सामान्य वस्त्रों की उसे कभी कमी नहीं रही। इससे अधिक भोग-भोगने की उसके मन में तमन्ना ही नहीं थी। यदि उसकी इच्छा होती, तो राज्य का सारा खजाना उसी के हाथ में था। अपने शासन काल में वह चाहे जैसा उसका उपयोग कर सकता था। परन्तु उसका जीवन इतना प्रामाणिक था, कि जनता के पैसे को उसने कभी भी अपने

मौज-शौक के लिए खर्च नहीं किया। उसने यह समझ लिया था, कि न्याय-नीति एवं सादगी से जीवन बिताने में तथा पुरुषार्थ करके पेट भरने में ही सच्चा आनन्द है। अन्याय के द्वारा गरीबों का शोषण करके भोग-विलास करने की अपेक्षा न्याय-नीति के साथ परिश्रम करके गरीबी का जीवन बिताना अधिक श्रेयस्कर है।

यदि आपके सामने दो मार्ग हैं—अन्याय एवं शोषण के द्वारा उपार्जित धन से ऐश-आराम का जीवन बिताना और न्यायपूर्वक श्रम करके सादा जीवन व्यतीत करना। आप दोनों में से कौन-सा जीवन बिताना चाहेंगे? आप सब ने मौन धारण कर ली है। इससे ऐसा लगता है, कि आप से वैभव का मोह और सोने की चमक-दमक की लालसा नहीं छूट रही है। परन्तु याद रखिए—सुख कामनाओं एवं वासनाओं में नहीं, सन्तोष में ही है। तृष्णा एवं इच्छाओं का न कभी अन्त आया है, और न कभी आने वाला है। अतः तृष्णा का त्यागी ही सदा सुखी रहता है।

मैं अभी आपको बता रहा था, कि बादशाह इतना बड़ा व्यक्ति होने पर भी अपना सब कार्य अपने हाथ से करता था। घर का सब काम भी उसकी बेगम सलीमा को करना पड़ता था। एक दिन रसोई बनाते समय उसका हाथ आग से जल गया। उस समय उसने कहा—अच्छा हो, कम से कम भोजन बनाने के लिए दासी रख दें। बादशाह नसीरुद्दीन ने बेगम की बात को सुना, और कुछ सोचकर बोले—प्रिये! तुम जानती हो, कि मैं एक लेखक हूँ। जनता की सेवा करने के बाद मेरे पास जो समय बचता है, वह लिखने में लगाता हूँ। उससे जो आय होती है, वह इतनी अधिक नहीं है, कि मैं एक दासी रख सकूँ।

सलीमा अपनी वेदना को अब रोक नहीं सकी। उसने कहा—

आप दिल्ली के तख्त पर आसीन हैं, भारत के सम्राट हैं और मैं आप की बेगम हूँ। फिर भी आप मेरी सुविधा के लिए एक दासी नहीं रख सकते, तो यह सारा खजाना अन्त में क्या काम आएगा ?

बादशाह ने कुछ गंभीर होकर कहा—प्रिये ! जिस खजाने की तुम बात कर रही हो, वह मेरा नहीं, प्रजा का है। वह मेरे और तुम्हारे परिश्रम का नहीं, जनता के परिश्रम का परिणाम है। इस लिए उस पर मेरा नहीं, जनता का अधिकार है। मेरा अधिकार उतने ही पैसों पर है, जितने पैसों को मैं अपने परिश्रम से कमाता हूँ। अतः मैं अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये इस खजाने में से एक पैसा भी नहीं उठा सकता। परन्तु यदि तुम्हें दासी रखना ही है, तो इतना कर सकता हूँ, कि पहले की अपेक्षा कुछ अधिक श्रम करूँ, लेखन कार्य अधिक करूँ या उसके साथ दूसरा कार्य करूँ ? क्यों कि मैं जनता के कोष में से पैसा निकालता हूँ तो खुदा नाराज हो जाएगा ? तुम बताओ, अब मैं क्या करूँ ? सलीमा ! हम पैसे की दृष्टि से गरीब हैं, परन्तु ईमान एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से गरीब नहीं हैं। हमारा सच्चा धन और वैभव, न्याय, नीति एवं प्रामाणिकता है।

बादशाह के शुद्ध हृदय की आवाज को सुनकर सलीमा का विचार भी बदल गया। वह अपने दुःख को भूल गई ? उसने जो कुछ कहा उसके लिए क्षमा-याचना की और साथ में बादशाह को उसने यह विश्वास दिला दिया, कि भविष्य में मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूँगी। मैं सभी काम अपने हाथ से कर लूँगी। बादशाह और सलीमा दोनों आनन्दपूर्वक जीवन यापन करने लगे।

राजाओं का आदर्श :

यह था—राजाओं एवं सम्राटों का आदर्श। आज हम राम के

आदर्श की बात करते हैं, राम-राज्य के गीत गाते हैं। परन्तु हमारे जीवन में राम के स्थान में रावण बोलता है। यदि वर्तमान युग में राजाओं के जीवन में राम का एवं नसीरुद्दीन का आदर्श उतरा होता तो कोई कारण नहीं था, कि उन्हें राज-तख्त से नीचे उतारा जाता। परन्तु वे अपने धर्म, कर्तव्य एवं न्याय-नीति को भूलकर आमोद-प्रमोद में लग गए थे। अपने मौज-मजे के लिए जनता को लूटने-खसोटने लगे थे। उसी का परिणाम है, कि उन्हें विवश होकर सब कुछ छोड़ना पड़ा।

कर (TAX) का उद्देश्य :

कर (Tax) लेने की परम्परा तब से ही चली आ रही है, जब से शासन-तन्त्र का प्रारम्भ हुआ है। क्योंकि राजा प्रजा के हित के लिए राज्य की व्यवस्था करता है। प्रजा को संकट से बचाने, उसकी चोर-डाकुओं से रक्षा करने तथा राज्य की सीमाओं को सुरक्षित रखने का सारा उत्तरदायित्व राजा पर रहता है। और इस दायित्व का पालन करने के लिए धन की आवश्यकता रहती है। उसकी पूर्ति राजा प्रजा पर कर (Tax) लगाकर करता है। परन्तु इस कोष का संग्रह वह जनता की बीमारियों. गरीबी, बेकारी, अशिक्षा एवं अभाव को दूर करने के लिए करता है। इसलिए राजा को यह अधिकार नहीं है, कि जनता के परिश्रम से प्राप्त पैसे को अपने आमोद-प्रमोद में पानी की तरह बहा दे। इस सम्बन्ध में भारतीय-संस्कृति के महान् गायक महाकवि कालिदास ने कहा है—

जिस प्रकार सूर्य अपनी सहस्र रजत-रश्मियों के द्वारा सागर में से पानी खींचता है, परन्तु उसे अपने पास संग्रह करके न रखकर वर्षा के रूप में उससे सहस्र गुणा अधिक जल बरसा देता है, उसी प्रकार राजा टेक्स (Tax)) के द्वारा प्रजा से जितना

धन लेता है, उससे अधिक वह प्रजा की सेवा करता है और उसके अभावों को दूर करके उससे अनेक गुणा अधिक लाभ प्रजा को देने का प्रयत्न करता है"—

"प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बालमगृहीत्।
सहस्र-गुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥"

इससे यह स्पष्ट होता है, कि राजा के लिए कर लेना पाप नहीं है, पाप है—उसका दुरुपयोग करना। प्रजा से लिए जाने वाले कर (Tax) का प्रजा के हित में ही उपयोग करना, राज-धर्म है। और जब राजा का व्यवहार इस तरह होता है, तब उसे प्रजा का भी परा सहयोग मिल जाता है। जिस राज्य में एवं जिस राष्ट्र में राजा और प्रजा अथवा सरकार और जनता का पारस्परिक सहयोग रहता है, वही राज्य एवं वही राष्ट्र प्रगति कर सकता है ।

न्याय-परायणता :

राजा का महत्व एवं गौरव उसकी न्याय-परायणता में है। जैसे—आकाश की शोभा सूर्य और चन्द्र से है। सरोवर की सुन्दरता कमलों से है। कमल का महत्व सौरभ से है। उसी प्रकार राजा की शोभा उसके रूप-रंग से नहीं, न्याय से है। न्याय-नीति ही राजा का भूषण है और राज्य में सब व्यक्तियों की बिना किसी भेदभाव के समान रूप से सुव्यवस्था हो और सबको समान रूप से न्याय मिल सके, इसलिए राजा को सिंहासन पर बैठाया जाता है, अथवा प्रजा-तन्त्र के युग में आज प्रधान-मंत्री को चुनकर जनता उसे शासन की कुर्सी पर बैठाती है। परन्तु न्याय की रक्षा करने वाला शासक वर्ग भले ही वह राजा हो, मुख्यमंत्री हो, प्रधानमंत्री हो या अन्य कोई हो, जनता का शोषण करके अपने घर को भरने में लग जाता है, तब देश का उद्धार नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे चारों ओर रिश्वत,

घूस एवं चोर बाजार चलता रहता है। न्यायालयों में न्याय के नाम पर अनेक बार न्याय का गला घोंट दिया जाता है। पैसा देकर अन्यायी एवं दुष्ट व्यक्ति भी छूट जाता है और न्याय-निष्ठ न्याय के बल पर भी पराजित हो जाता है। अतः जब तक शासक वर्ग में प्रामाणिकता, ईमानदारी एवं कर्तव्य-परायणता नहीं आएगी, तब तक देश का विकास हो सके ऐसा कदापि संभव नहीं है।

इतिहास में ईरान के सम्राट नौशेरवां का नाम आज भी चमक रहा है, दमक रहा है। वह मर गया, परन्तु उसकी न्याय-निष्ठा आज भी जीवित है, और युग-युग तक जीवित रहेगी। काल के सघन आवरण भी उसको न धूमिल बना पाए हैं, और न कभी उसे धूमिल बना पाएंगे।

एक बार बादशाह नौशेरवां अपना शाही महल बना रहा था। महल का नक्शा बनाने वाले कलाकारों एवं कारीगरों ने बादशाह को बताया, कि आपके महल के बाहर उसके बराबर एक हिस्से में एक भडभूंजन का झोंपड़ा है, जब तक उसके झोंपड़े को महल के साथ नहीं मिलाया जाएगा, तब तक मकान चौरस नहीं बन पाएगा। महल को सुन्दर एवं भव्य बनाने के लिए इस टूटी-फूटी झोंपड़ी की जगह को इसमें मिला लेना आवश्यक है।

बादशाह ने बुढ़िया को बुलाया और उससे कहा, कि तुम इस झोंपड़ी का मूल्य ले लो, और यह जगह मुझे दे दो।

"मुझे पैसा नहीं चाहिए। मै वर्षों से नहीं, पीढ़ियों से इस झोंपड़े में रह रही हूँ। अतः में इसे बेचना नहीं चाहती।"

"यदि तुम इसको बेचना नहीं चाहती हो, तो मैं तुम्हें इससे भी अधिक लम्बा-चौड़ा एवं सुन्दर बना हुआ भवन अन्य स्थान पर दे सकता हूं। तुम वहां जाकर आराम से अपना जीवन व्यतीत करो।"

बुढ़िया भी पूरी जिद्दी थी। उसने निर्भयता से कहा—"जहाँपनाह! इस झोंपड़ी में मेरी कई पीढ़ियाँ बीत गई हैं। इसके साथ हमारी वंश परम्परा का इतिहास जुड़ा हुआ है। इसलिए मैं इस स्थान को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकती, भले वह स्थान कितना ही सुन्दर क्यों न हो? आपको जितना अपना महल प्रिय है, मुझे भी अपनी यह टूटी-फूटी झोंपड़ी भी उतनी ही प्रिय है।"

बुढ़िया के इन्कार करने पर वादशाह ने कारीगरों से कहा, कि बुढ़िया ने झोंपड़ी देने से इन्कार कर दिया। और मैं जोर-जवरदस्ती किसी के अधिकार की जगह को छीन नहीं सकता। इसलिए अपने पास जितनी और जिस तरह की जगह है उसी में महल वनाकर तैयार कर दो। वादशाह की आज्ञा के अनुरूप महल वनकर खड़ा हो गया। परन्तु बुढ़िया अपनी भाड़ में जब चने आदि भूंजती तव उसके धुंए से महल की दीवार काली होने लगी। इसके लिए वादशाह ने फिर उसे बुलाकर समझाया, कि तुम अपनी भाड़ (भट्टी) जलाना वन्द कर दो, जिससे महल की चाँदी-सी चमचमाती-हुई दीवार काली न पड़े और तुम्हारी भाड़ वन्द करने से तुम को कोई नुकसान भी नहीं होने दूंगा। तुम्हारे खाने-पीने का सव समान शाही रसोईघर से प्रतिदिन समय पर पहुँच जाएगा।

यह सुनकर बुढ़िया ने तुरन्त उत्तर दिया—क्या मैं लूली-लँगड़ी एवं अपाहिज हूँ, जो शाही भोजनालय की रोटियों से पेट भरूं। जब तक मेरे शरीर में ताकत है, तब तक मैं परिश्रम करके ही पेट भरूँगी। स्वतन्त्र रहकर जीने में जो आनन्द है, वह परतन्त्र वनने में नहीं।

वादशाह निरुत्तर हो गया। बुढ़िया की भट्टी का धुंआ महल की दीवार पर कालिख पोतता ही रहा। यदि वादशाह चाहता, तो

झोंपड़े को नष्ट करवा सकता था, उस बुढ़िया को जबरदस्ती निकलवा सकता था। परन्तु यह कार्य न्याय-युक्त नहीं कहा जाता। यह घटना न्याय-निष्ठा का उज्ज्वल एवं समुज्ज्वल प्रमाण है। आज न तो नोशेरवाँ हैं, और न वह बुढ़िया है। काल के कराल चपेटों ने बादशाह के महल को भी विखेर दिया और बुढ़िया के झोंपड़े को भी नष्ट कर दिया। परन्तु उसकी न्याय-प्रियता को न तो काल अब तक मिटा सका है, और न भविष्य में मिटा सकेगा।

बादशाह जहांगीर ने धोबन को जो न्याय दिया था, उसने उसकी कीर्ति को दुनिया में अमर बना दिया। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि न्याय-निष्ठा, प्रामाणिकता एवं नैतिकता ही राजा का सच्चा आभूषण है। जिस राज्य एवं राष्ट्र की आधार-शिला न्याय और नीति पर खड़ी है, उसका कदापि पतन नहीं हो सकता। (मैसूर नरेश, जो उस समय आपके व्याख्यान में उपस्थिति थे, उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा)–मैंने अपने विषय के अनुरूप राज-धर्म का विवेचन किया। मैं किसी की भी व्यक्तिगत आलोचना करना पसन्द नहीं करता। और न व्यक्ति की आलोचना करता हूं। मैंने तो उपदेश के दायित्व को निभाते हुए राजा का धर्म क्या होना चाहिए, यह आपके सामने रखा है। राजा का यह कर्तव्य ही नहीं, धर्म है, कि वह अपने राज्य में रहने वाली प्रजा के जीवन को विकसित करने में पूरी शक्ति लगा दे। राज्य की व्यवस्था इस प्रकार हो, जिससे राज्य में कोई दुःखी न रहे, राज्य में चोरी-डाका न पड़े, राज्य में व्यक्ति वेकार न रहे, राज्य में वीमारी कम हो और राज्य में कोई व्यक्ति भूखे पेट न सोए। यह राज्य के अधिकारी, राजा एवं शासक वर्ग का कर्तव्य है, कि वह प्रजा के साथ ऐसा व्यवहार करे, कि शासक वर्ग और जनता

एक-दूसरे के साथ सहयोग करना सीखें। एक-दूसरे के सहयोग से ही देश का विकास हो सकेगा।

मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि प्रजा अपने कर्तव्य का पालन करे और शासकवर्ग अपने कर्तव्य का परिपालन करे। राजा और प्रजा दोनों अपने-अपने कर्तव्यों को समझकर जब उनका परिपालन करेंगे, तभी देश का विकास होगा, और तभी वह अपने खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त कर सकेगा। ★

१५
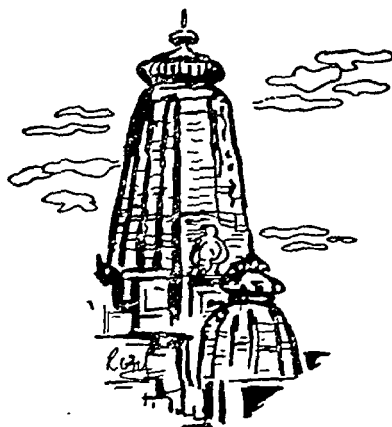
गृहस्थ-धर्म

इस विराट् और विशाल विश्व में, संसार में परिभ्रमण कर रहा प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को विकसित करने की इच्छा एवं अभिलापा रखता है दुनिया में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो पतन के महागर्त में गिरने की अभिलापा एवं आकांक्षा रखता हो। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि हर व्यक्ति विकास चाहता है, उन्नति की इच्छा रखता है, अभ्युदय की कामना करता है, परन्तु अपना पतन कोई नहीं चाहता। परन्तु पतन और विकास कोई वस्तु नहीं है, जो चाहने मात्र से मिल जाए। यह तो इस वात पर निर्भर है, कि व्यक्ति चाहता कुछ भी हो, परन्तु वह प्रयत्न एवं पुरुपार्थ किस प्रकार का करता है। वह विकास के पथ पर गतिशील है, या पतन के फिसलन भरे पथ पर फिसलता चला जा रहा है।

व्यक्ति के सामने दो मार्ग हैं—एक मोक्ष-मार्ग है, और दूसरा संसार का मार्ग है। मुक्ति का या मोक्ष का पथ, विकास का रास्ता है, और संसार का मार्ग विकास का नहीं, पतन का पथ है। मुक्ति का अर्थ है—समस्त बन्धनों से मुक्त होना, वैभाविक परिणति से पूर्णतः मुक्त होकर स्वभाव में स्थित होना। अतः मुक्ति या मोक्ष यही आत्मा के चरम विकास की स्थिति है। इस विकास को प्राप्त करने का जो मार्ग है, वही मोक्ष-मार्ग कहलाता है। तत्वार्थ सूत्र के प्रथम-सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने बताया है—"सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही मोक्ष-मार्ग है।"

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गः।"

जीवन-विकास के लिए तीन बातों की आवश्यकता रहती है—श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। जब तक किसी भी कार्य में—चाहे वह कार्य आध्यात्मिक हो या लौकिक, तीनों का समन्वय नहीं होगा, तब तक उस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। जैसे व्यापार करने वाले व्यक्ति के मन में सर्व-प्रथम अपने व्यवसाय पर विश्वास होता है, उसके बाद उसे जिस चीज का व्यापार करना है, उसका वह ज्ञान करता है और उसके बाद वस्तु को बेचने की क्रिया करता है। इसी तरह आध्यात्मिक साधना के क्षत्र में भी श्रद्धा—विश्वास, ज्ञान एवं क्रिया का होना आवश्यक है। सबसे पहले श्रद्धा और ज्ञान का शुद्ध होना आवश्यक है। क्योंकि जब तक व्यक्ति को आत्म-स्वरूप पर विश्वास नहीं होता, स्व-पर का भेद ज्ञात नहीं होता, और स्व-स्वरूप को जानने की जिज्ञासा नहीं होती, तब तक वह

कहूँ तो—सम्यक्-ज्ञानपूर्वक की जानेवाली क्रिया सम्यक् है और मिथ्या ज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया एवं आचार—भले ही जैन आगमों के अनुसार हीं क्यों न हो, मिथ्या है।

यह सत्य है, कि जब तक व्यक्ति पुद्गलों एवं कर्मों के साथ संयोग कराने वाले, अथवा संसार में परिभ्रमण कराने वाले राग-द्वेष, काम-क्रोध, विषय-कषाय से मुक्त होकर स्व-स्वरूप में स्थित नहीं होता, वीतरागभाव को प्राप्त नहीं करता, तब तक संसार से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा का स्वभाव शुद्ध और निर्मल है। जैसे गंगा का पानी मधुर और मीठा होता है, परन्तु जब वह समुद्र में मिल जाता है, तब उसमें भी सागर के खारे पानी का खारापन आ जाता है। उसी प्रकार जब आत्मा स्व-भाव का त्याग करके पर-भाव में रमण करता है, तब उसमें वैभाविक भावों—राग-द्वेष एवं कषायों का खारापन आ जाता है। जिससे वह संसार में परिभ्रमण करता है और पर-पुद्गलों के लोभ में आसक्त होकर उसी तरह नीचे की ओर लुढ़कता है, जैसे ऊपर की ओर फैंकने पर भी भारी-भरकम पत्थर नीचे ही आकर गिरता है।

इस संसार से मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक-साधना का मार्ग वताया गया है। वह है, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना। आत्मा का मूल लक्ष्य, एवं उद्देश्य तो एक मात्र यह है, कि आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का परिज्ञान करके उसमें स्थित हो जाना, राग-द्वेषजन्य संकल्प एवं विकल्पों से मुक्त होकर वीतराग-भाव में स्थित हो जाना। परन्तु उस स्थिति तक पहुँचने एवं वीत-राग भाव को प्रकट करने के लिए आगमकारों ने दो मार्ग वताए—आगार—श्रावक-धर्म, और अणगार—साधु-धर्म।

> "धम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आगार-धम्मे चेव
> अणगार धम्मे चेव।" —स्थानांग सूत्र, स्थान २

एक प्रश्न ?

कुछ व्यक्ति प्रश्न करते हैं—धर्म पदार्थों के त्याग में है या पदार्थों का उपभोग करने में ? पदार्थों का भोग करने में धर्म नहीं है, फिर साधु गृहस्थाश्रम का उपदेश क्यों देते थे ?

इस प्रश्न का समाधान करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है, कि धर्म क्या है ? जैन विचारकों ने धर्म की परिभाषा यह की है—"वस्तु का जो स्वभाव है, वह धर्म है—**वत्थु सहावो धम्मो !**" इस का स्पष्ट अर्थ यह हुआ, कि आत्मा का जो निज-स्वभाव है, वही धर्म है और वह आत्मा से बाहर नहीं है। पदार्थ जड़ है, और पदार्थों का उपभोग करने वाली इन्द्रियें भी जड़ हैं। दोनों आत्म-स्वभाव से भिन्न हैं। इसलिए धर्म और अधर्म न तो केवल पदार्थों के छोड़ने में है और न उन्हें ग्रहण करने में है। यदि पदार्थ-त्याग के साथ पदार्थों के प्रति रहे हुए ममत्व भाव का परित्याग नहीं होता है, तो उसके छोड़ने पर भी धर्म नहीं होता। और यदि पदार्थ के रहते हुए उसके प्रति ममता एवं आसक्ति नहीं है, तो उसके रहने मात्र से अधर्म एवं पाप का वन्धन नहीं होता। इसलिए आसक्ति पाप है, और अनासक्ति एवं निर्ममत्व भाव धर्म है।

साधु—चाहे वह छठे गुणस्थान में स्थित हो या तेरहवें गुणस्थान में, त्याग का, निवृत्ति का उपदेश देता है। परन्तु त्याग कराते समय वह इस बात का अवश्य ध्यान रखता है, कि उसकी योग्यता क्या है ? वीतराग का मार्ग जोर-जबरदस्ती का मार्ग नहीं है। वह व्यक्ति को एक ही बात सिखता है, कि तुम जागो, और अपनी शक्ति के अनुसार आगे बढ़ो। तुम अपनी शक्ति को छिपाओ मत। उसे आवृत्त नहीं, अनावृत्त करने का प्रयत्न करो। इसलिए तुम आसक्ति, ममता एवं मोह के वन्धन को जितना तोड़ सकते हो, उतना तोड़ने

का प्रयत्न करो। यदि सम्यक्त्व प्राप्त करने की क्षमता है, तो प्राप्त करो। उसके वाद श्रावक व्रत स्वीकार करो, और उसके वाद यदि शक्ति का विकास हो गया है, तो साधुत्व को स्वीकार करो। जिस त्याग का परिपालन कर सकते हो, उसे स्वीकार करने में प्रमाद मत करो। यह मत समझो, कि गृहस्थ जीवन का परित्याग करके साधु वन जाना ही त्याग है। त्याग, अपने आप में महत्वपूर्ण है, जीवन को नया मोड़ देने वाला है। यदि व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार त्याग करता है, और अपने मन पर नियन्त्रण रख कर उसमें से कषायों के जहर को निकालने का प्रयत्न करता है, तो उसका एक देश से किया हुआ त्याग भी महत्वपूर्ण है। अतः साधु गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, वह इस भावना को सामने रखकर देता है, कि व्यक्ति पदार्थों के प्रति रहे हुए आसक्ति भाव एवं अपने कषाय भाव को कम करे और धीरे-धीरे अनासक्त वनने का प्रयत्न करे, न कि वह भोगों में आसक्त वने। और श्रावक भी इसी भावना से अणुव्रत या एक देश से व्रतों को स्वीकार करता है, कि धीरे-धीरे आत्म-शक्ति का विकास हो और पर-पदार्थों पर रहा हुआ ममत्व-भाव दूर हट जाए। इसलिए गृहस्थ-धर्म का उपदेश भोग का नहीं, त्याग का मार्ग है। इसमें भोग की नहीं, त्याग की मुख्यता है।

अध्यात्मिकता का अजीर्ण :

विकास का एक क्रम होता है। प्रत्येक व्यक्ति क्रमशः ही प्रगति के सोपानों को पार करता हुआ विकास के चरम सोपान को पार करके सिद्धत्व को प्राप्त करता है, एकदम छलांग मारकर नहीं। वाह्य-क्रिया-काण्ड एवं वाह्य-त्याग विकास का साधन-मात्र है। साध्य है—कषायों का त्याग करके निष्कषाय भाव को तथा राग-द्वेष से मुक्त होकर वीतराग—भाव को प्राप्त करना। अतः गुणस्थानों का

विकास कषाय-त्याग पर आधारित है। बाह्य क्रियाएँ—भले ही वे साधु-जीवन की हों, या गृहस्थ-जीवन की उनका महत्व इसी बात में है, कि उनके साथ साधक का विवेक कितना जागृत है। यदि वे विवेकपूर्वक की जाती हैं, तो जीवन-विकास में अवश्य ही सहायक होती हैं।

आज लोग अध्यात्म-साधना की बातें अवश्य करते हैं, परन्तु उसे समझने एवं पचाने का प्रयत्न नहीं करते। उन्हें एक तरह से अध्यात्म का अजीर्ण-सा हो गया है, इसलिए वे आध्यात्मिक विचारों को पचा नहीं सकते। आप सब जानते हैं, कि खाद्य पदार्थ कितने ही पौष्टिक क्यों न हों, परन्तु जिस व्यक्ति की पाचन-शक्ति कमजोर हो गई है, जिसे अजीर्ण का रोग हो गया है, उसके लिए बादाम का हलवा भी जहर है। वह उसी व्यक्ति के लिए पौष्टिक है, जिसके पेट की पाचन-शक्ति ठीक है। जिसमें पचाने को ताकत नहीं है, यदि वह व्यक्ति बादाम के हलवे का सेवन करता है, तो उसे अतिसार की बीमारी हो जाती है। सार ग्रहण करने के बदले उसे अतिसार हो जाता है। और सार के साथ अति लगने का परिणाम यह आता है, कि वह अपनी रही-सही और बची-खुची शक्ति को भी खो बैठता है। यही हालत आज साधना के क्षेत्र में आध्यात्मिक-साधना एवं क्रियाओं की हो रही है। जो व्यक्ति सामान्य नियमों का पालन नहीं कर सकता, वह एक दम छलांग मार कर विशिष्ट नियमों को पालने का प्रयत्न करता है, परिणाम यह होता है कि वह नैतिकता से भी नीचे जा गिरता है। त्याग अपने आप में बहुत सुन्दर और महत्वपूर्ण है, परन्तु उसे स्वीकार करने के लिए पहले योग्यता को प्राप्त करना आवश्यक है। यह योग्यता तभी आ सकती है, जब व्यक्ति धर्म एवं अध्यात्म के सही स्वरूप को समझ कर अपनी शक्ति के अनुरूप राग-द्वेष, आसक्ति एवं कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ को कम

करने का प्रयत्न करे, पदार्थों को छोड़ने के पूर्व उन पर रहे हुए ममत्व भाव से अपने को अलग करने का प्रयास करे। वास्तव में ममता एवं आसक्ति का परित्याग करना ही त्याग है।

धर्म और व्यवहार :

आज हम देखते हैं, कि कुछ व्यक्ति प्रतिदिन मन्दिर में जाकर भगवान की पूजा करते हैं, आरती करते हैं, भजन गाते हैं, प्रार्थना करते हैं, कुछ गुरुद्वारे में जाकर गुरु-ग्रन्थ-साहब को नमस्कार करते हैं, उसका स्वाध्याय करते हैं, कुछ मस्जिद में जाकर नमाज-पढ़ते हैं, कुछ गिरजाघर में जाकर ईशु की स्तुति करते हैं, कुछ स्थानक में जाकर सामायिक करते हैं, माला फेरते हैं, आगमों का स्वाध्याय करते हैं और सन्तों का प्रवचन सुनते हैं। इस प्रकार अपने-अपने ढंग से धार्मिक क्रियाएँ करते हैं, और अपने आपको धर्मात्मा समझते हैं। परन्तु व्यवहार में जब हम उनके जीवन को देखते हैं, तो उसका दूसरा ही रूप नजर आता है। वे ही धर्मात्मा व्यक्ति दुकान पर बैठकर ग्राहकों का शोषण करते हुए या उनका गला काटते हुए नहीं हिचकिचाते। ब्याज का धंधा करने वाले आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति को कुछ कर्ज देते हैं और उस पर चक्रवृद्धि ब्याज लगाकर उस के घर एवं वर्तन-वासन तक नीलाम करवा कर उसको एवं उसके परिवार को दाने-दाने के लिए घर-घर का भिखारी बना देते हैं। अपने जरा से स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए अनेक परिवारों की आजीविका छीन लेते हैं, अपने मुनीम, कर्मचारी एवं नौकरों को उत्पीड़ित करते हैं। उनसे अधिक काम लेकर भी कम पैसे देते हैं। अपनी वासना को पूरा करने के लिए पैसों का प्रलोभन देकर नारी के सतीत्व को नष्ट करने का क्रूर कर्म भी करते हैं। इस प्रकार वे

अनेक ऐसे काम करते हैं, जिससे परिवार, समाज एवं राष्ट्र को नुकसान होता है।

दैनिक व्यवहार में अनैतिकता, अप्रामाणिकता एवं वासना युक्त जीवन जीते हुए भी व्यक्ति कुछ समय के लिए धार्मिक स्थानों में जाकर मन्दिर का घण्टा खटखटा आता है, एक-दो माला फिरा लेता है, एक-दो सामायिक कर लेता है, कुछ दान-दक्षिणा दे देता है, कि वह समझ लेता है, मैंने धर्म कर लिया। मेरा दिन-रात का किया पाप का ताप सब समाप्त हो गया। परन्तु क्या यह धर्म का रास्ता है? जरा शान्त मस्तिष्क से विचार करिये, कि धर्म के साथ विकार और वासना कैसे रह सकती है? कुछ लोग धर्म पर यह दोषारोपण करते हैं, कि धर्म व्यक्ति को ढोंग एवं पाखण्ड करना सिखाता है? इसलिए वह अफीम की गोली है? परन्तु मित्रो! धर्म व्यक्ति को यह कभी नहीं सीखाता, कि व्यक्ति धर्म स्थान में कुछ और कार्य करे, और व्यवहार में दूसरे प्रकार का कार्य करे। धर्म और धार्मिक क्रियाओं के स्वरूप को समझकर जीवन में साकार रूप नहीं देना, यह उन क्रियाओं का नहीं, व्यक्ति का दोष है। सूर्य की ज्योतिर्मय रजत-रश्मियें चारों ओर फैलकर धरती को आलोकित कर रही हैं, फिर भी उल्लू को कुछ दिखाई नहीं देता, उसे सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश भी काला दिखाई पड़ता है, तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? यदि कोई अंधा व्यक्ति दीपक की रोशनी में भी कुछ नहीं देख पाता है, तो इसमें दीपक का अपराध नहीं, दीपक का दोष नहीं, दोष और अपराध है, तो व्यक्ति की दृष्टि का है। उल्लू की आँखों में सूर्य के प्रकाश को देखने की शक्ति नहीं है, तो उसका सूर्य क्या करे? इसी प्रकार धर्म एवं धार्मिक क्रियाओं के स्वरूप को समझे बिना एवं वैसी योग्यता प्राप्त किये बिना व्यक्ति उनका गलत ढंग से

आचरण करता है, तो यह दोष व्यक्ति की गलत समझ का है, न कि धर्म का।

कुछ लोग यह समझ कर धर्म एवं क्रियाओं का पालन करते हैं, कि इनसे परलोक सुधर जाएगा। उन्होंने यह समझ लिया है कि धर्म केवल परलोक के लिए है। इसलोक में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। परन्तु यह एक भ्रान्ति है। आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है, कि कोई धार्मिक क्रिया या आचरण परलोक में साथ नहीं जाता। आचरण या चारित्र इस लोक में ही साथ रहता है। जब तक व्यक्ति इस लोक में अपने आचरण एवं व्यवहार को नहीं सुधारता है, अथवा आचार को शुद्ध नहीं बनाता, तब तक उसके जीवन का विकास नहीं होता। जो व्यक्ति मानव-जीवन में स्वर्ग को साकार रूप नहीं दे पाता, वह मरने के बाद स्वर्ग पा सकेगा, ऐसी कल्पना करना ही मिथ्या है।

यह समझना एवं मानना सबसे बड़ा भ्रम एवं मिथ्यात्व है, कि धर्म-स्थानक का जीवन अलग है और व्यावहारिक जीवन अलग है। धर्म-स्थानक में जो क्रिया करते हैं, उसमें धर्म होता है, और उसके बाहर जो कुछ करते हैं, वह सब पाप का कार्य है। यदि धर्म केवल धर्म-स्थानक में ही बन्द है, उसकी चार-दीवारी के बाहर के व्यवहार में उसका कोई स्थान नहीं है, तो वह धर्म, धर्म नहीं है। ऐसे धर्म से व्यक्ति का कोई हित नहीं हो सकता। वह व्यक्ति के जीवन को न तो विकसित कर सकता है और न उसका कल्याण ही कर सकता है। धर्म किसी स्थान विशेष में या क्रिया विशेष में आबद्ध नहीं है। वह तो व्यक्ति के जीवन में सन्निहित है। मैंने अभी कुछ देर पहले धर्म की परिभाषा करते हुए कहा था—वस्तु का जो स्वभाव है वह धर्म है। इससे यह स्पष्ट है, कि व्यक्ति चाहे धर्म-स्थान में कोई

क्रिया करे या घर में, दुकान में, आफिस में, कारखाने में एवं खेत में कोई कार्य करे, यदि उस समय वह अपने आत्म-स्वभाव में रमण करता है, समभाव में स्थित रहता है, तो उस समय वह धर्म करता है। और यदि धर्मस्थानक में सामायिक की क्रिया करते हुए पर-भाव में रमण करता है, राग-द्वेष और कषायों के प्रवाह में बहता रहता है, तो वह धर्म के स्थान में पाप-कर्म करता है। इसलिए धर्म और अधर्म, आस्रव और संवर, पुण्य और पाप किसी स्थान विशेष या किसी क्रियाविशेष से नहीं, परन्तु व्यक्ति की अपनी परिणति पर निर्भर है। यदि व्यक्ति स्व-स्वभाव में परिणत होता है, तो वह सर्वत्र धर्म ही करता है, उसका सम्पूर्ण जीवन धर्ममय ही बन जाता है, और यदि वह पर-भाव रमण करता है, विषय-कषाय में आसक्त होकर कार्य करता है, तो वह यत्र-तत्र-सर्वत्र पाप का बन्धन करता है, संसार को बढ़ाता है। इसलिए धर्म को इस प्रकार बांटना—धर्म-स्थानक में क्रिया करने वाला धर्मिष्ठ और घर में एवं दुकानादि में कार्य करने वाला पापिष्ठ, बिल्कुल गलत एवं मिथ्या है। उपासक-दशांग सूत्र में श्रावकों के जीवन का वर्णन करते हुए भगवान महा-वीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—वे धर्ममय आजीविका करने वाले थे, उनका सम्पूर्ण जीवन धर्ममय था, धर्म के रंग से अनुरंजित था। इससे स्पष्ट होता है, कि धर्म के कभी टुकड़े नहीं किए जा सकते। स्थानक का धर्म अलग और घर का धर्म अलग ऐसा कभी नहीं हो सकता। जब तक व्यावहारिक जीवन में धर्म नहीं उतरेगा, व्यवहार में समता एवं समभाव साकार रूप नहीं लेगा, तब तक जीवन का विकास नहीं हो सकेगा, और न जीवन में, परिवार में, समाज में, राष्ट्र में एवं विश्व में शान्ति की सरिता ही बह सकेगी।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि धर्म वह है, जिसकी प्रेरणा

से आपका जीवन सर्वत्र एक-सा वने। कल्पना करें, कि एक व्यक्ति सौराष्ट्र से वम्बई आकर एक लाख रुपया कमाता है, परन्तु वापिस सौराष्ट्र पहुँचते ही दो लाख खो देता है। फिर जब वम्बई पहुँचता है तव पुनः लाखों रुपये कमाता है, परन्तु वापिस सौराष्ट्र में पैर रखते ही सव कुछ खो देता है। ऐसे व्यक्ति को लखपती या लक्ष्मीपति कहेंगे या दिवालिया कहेंगे ?

दिवालिया :

इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म-स्थान में आकर धर्म की पूँजी एकत्रित करता है, परन्तु घर में एवं दुकानादि में पहुँचते ही राग-द्वेष, मोह एवं कषायों के वश में होकर सव-कुछ खो देता है, उसे भी आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म का दिवालिया कहते हैं। धर्मात्मा वही है, जो धर्म-स्थान में ही नहीं, घर में, दुकान में, आफिस में, कारखाने में पहुँचकर भी समभाव को नहीं खोता, कषायों के एवं वासना के वहाव में नहीं वहता। धार्मिक और व्यावहारिक जीवन में एक-रूपता लाना ही अथवा व्यावहारिक जीवन को धर्ममय एवं समभावमय वनाना ही धर्मात्मा वनना है।

गृहस्थाश्रम : जीवन-विकास का सोपान है :

कुछ विचारक कहते हैं, कि गृहस्थ का जीवन पापमय है। वह कुपात्र है, विप-कुंभ के समान है। परन्तु यह विचार-धारा भ्रान्त एवं गलत है। यह सत्य है, कि श्रावक साधु की तरह आरम्भ-समारंभ एवं परिग्रह का पूर्णरूपेण त्याग नहीं करता, परन्तु इतने मात्र से उसे पापी, कुपात्र एवं विप-कुंभ कहना या समझना नितान्त मिथ्या है। गृहस्थ—चाहे श्रावक हो या सम्यक्-दृष्टि हो, जिसने तत्त्व के स्वरूप को समझ लिया है, जिसे जड़ और चेतन का, आत्मा और पुद्गल के स्वरूप का सही ज्ञान हो गया, और जिसने एक देश

से हिंसा आदि दोषों को दोष रूप समझकर छोड़ दिया, वह त्याग-मार्ग का पथिक ही कहा जाएगा, भोग-मार्ग का नहीं। आगम की भाषा में उसे परित-संसारी—संसार सागर को पार करने वाला कहा है, संसारी नहीं। संसार में रहना और बात है, और संसारी बनकर रहना और बात है। संसार में रहना बुरा नहीं है, बुरा है—संसार को, कषायों को अपने में भरकर संसारी बनकर संसार में रहना। श्रावक की आत्म-शक्ति का अभी इतना विकास नहीं हो पाया, कि वह कषायों एवं आसक्ति का पूर्ण रूप से त्याग कर दे। परन्तु वह इनको त्याज्य समझता है, और आरम्भ-समारंभ के कार्यों में भी विवेक-दृष्टि से एवं यतना से कार्य करता है। इसलिए उसका कार्य त्याग-मार्ग से या मोक्ष-मार्ग से विपरीत नहीं है। यही कारण है, कि श्रमण भगवान महावीर ने श्रावक को मोक्ष-मार्ग का पथिक कहा है, और साधु-साध्वी की तरह श्रावक-श्राविका को भी तीर्थ कहा है, गुण-रत्नों का कटोरा कहा है, उन्हें सुव्रती बताया है—

"गिहिवासे वि सुव्वया"

इससे स्पष्ट होता है, कि गृहस्थाश्रम भी त्याग से शून्य नहीं। उसका जीवन में त्याग-तप से युक्त है। यदि गृहस्थ जीवन में केवल पाप ही पाप होता, तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान गृहस्थ जीवन जीने की कला क्यों सिखाते? उन्होंने इसके द्वारा यह बताया, कि व्यक्ति धीरे-धीरे अपना विकास करता है। गृहस्थ जीवन भी विकास का एक सोपान है। साधु धर्म की तरह वह भी एक धर्म है। आपको पहले ही बता चुका हूँ, कि भगवान महावीर ने आगार-धर्म और अणगार-धर्म ये दो भेद किए हैं। वास्तव में धर्म, धर्म है, भले ही उसका पालन साधु करे या गृहस्थ करे। उसमें भेद नहीं होता, ये भेद केवल साधु और गृहस्थ के जीवन-विकास की भूमिका

को सामने रखकर किया गया है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि आप अपने स्वरूप को, अपने स्तर को एवं अपने धर्म को समझें और उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। आज मैं देखता हूँ, कि श्रावकों का जीवन विकार, वासना एवं दुर्गुणों से दबता जा रहा है। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक-साधना कैसे संभव हो सकती है। इसलिए सर्व-प्रथम गृहस्थ जीवन को उज्ज्वल बनाएँ, फिर देखिए साधना में स्वतः तेजस्विता आ जाएगी।

सामान्य-आचार :

गृहस्थ का सबसे पहला कर्तव्य यह है, कि वह प्रत्येक मानव के साथ मानवता का व्यवहार करे। उसे यह समझना चाहिए कि सबसे पहले वह मानव है, उसके बाद और—कुछ है। इसलिए उसे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे किसी व्यक्ति को आघात लगे, चोट पहुँचे। किसी भी मनुष्य को आपत्ति में देखकर उसे उसको दुःख-मुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे कोई भी काम करने से पूर्व यह भली-भाँति सोच लेना चाहिए, कि इस कार्य से मेरे परिवार के सदस्यों, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के किसी भी व्यक्ति का नुकसान तो नहीं होगा। इस प्रकार विवेक एवं विचार पूर्वक कार्य करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है।

अर्थ का महत्व :

गृहस्थ-जीवन में अर्थ का प्रश्न महत्वपूर्ण है। यह एक कहावत है—"यदि साधु कौड़ी रखे तो वह कौड़ी का, और यदि गृहस्थ कौड़ी न रखे तो वह कौड़ी का।" इसका तात्पर्य यह है, कि गृहस्थ-जीवन में अर्थ की आवश्यकता रहती है। क्योंकि पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व का पालन करने के लिए धन की आवश्यकता ही मुख्य है। इसलिए श्रावक के लिए ऐसा विधान नहीं है, कि वह धन का

पूर्णतः त्याग कर दे। उसके लिए इतना ही नियम है, कि असीम एवं अनन्त तृष्णा और आसक्ति को एक सीमा में बाँध लेता है। वह अर्थ को, धन को, भोगोपभोग के पदार्थों को जीवन निर्वाह का साधन मानता है, इसलिए उसे जितनी आवश्यकता होती है, उससे अधिक संग्रह करने का प्रयत्न नहीं करता। वह धन को ही सब-कुछ नहीं समझता, इसलिए उसके जीवन में संग्रह वृत्ति नहीं रहती। धन रखना, गृहस्थ के लिए पाप एवं अधर्म नहीं है, पाप है—धन को ही सब-कुछ समझ कर उसमें आसक्त रहना, और संग्रह के पीछे पागल बन जाना। अतः श्रावक अर्थ को जीवन-निर्वाह का एक साधन मान कर अपनी आवश्यकता के अनुसार विवेकपूर्वक उसको प्राप्त करता है, एवं उसका उपभोग करता है। इस कारण वह अर्थ—धन उसके लिए अनर्थ का कारण नहीं बनता।

व्यापार और नीति :

श्रावक के लिए व्यापार करने का निषेध नहीं है। व्यापार करता है, परन्तु नीति एवं धर्म को सामान्य रखकर करता है। वह व्यापार में धन को महत्व नहीं देता, महत्व देता है—प्रामाणिकता, सत्य-निष्ठा एवं ईमानदारी को। इसलिए नीतिकारों ने कहा है, कि गृहस्थ-जीवन का निर्वाह करने के लिए, अपने धर्म का, कर्तव्य का पालन करने के लिए धन प्राप्त करना चाहिए—**'धर्मार्थमर्जयेत्'**। भगवान महावीर ने भी यही कहा है, कि श्रावक की आजीविका धर्ममय होती है। क्योंकि दुकान पर बैठकर भी उसकी दृष्टि धन प्राप्त करने में नहीं, धर्म में लगी रहती है, अपने समभाव को बनाए रखने में लगी रहती है।

परन्तु, आज मनुष्य धन के पीछे इतना पागल बन गया है, कि उसे इस बात का ध्यान ही नहीं रहता, कि मैं धन को किस प्रकार

तेऽमी मानव-राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।"

पारिवारिक-जीवन :

गृहस्थ-जीवन का महत्वपूर्ण कार्य एवं कर्तव्य है—परिवार के साथ एकरूप एवं एकरस होकर रहना। परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों के साथ प्रेम-स्नेह एवं समानता का व्यवहार करना। वास्तव में गृहस्थ का घर भी एक तपोभूमि है, सहनशीलता एवं संयम के बिना कोई भी व्यक्ति इसमें सुखी नहीं रह सकता। साधना का मूल-मंत्र है-समता, सहिष्णुता एवं संयम। जब तक व्यक्ति के जीवन में इनका अवतरण नहीं होगा, तब तक वह आनन्द एवं सुख की अनुभूति नहीं कर सकता। जो व्यक्ति परिवार के साथ रहते हुए समता, सहिष्णुता एवं संयम नहीं रख सकता, वह कहीं भी रहकर साधना नहीं कर सकता और परम आनन्द को नहीं पा सकता। इसलिए विचारकों ने घर को भी तपोवन कहा है, साधना का प्रथम-सोपान कहा है। जो घर में समता, सहिष्णुता एवं संयम नहीं रख सकता, वह धर्म-स्थान में या जंगल में जाकर इनका परिपालन कैसे कर सकेगा? जीवन में समता, सहिष्णुता एवं संयम का कितना विकास हुआ है, इसका प्रयोग करने का स्थान तो घर—परिवार, समाज एवं राष्ट्र ही है। यदि हम व्यावहारिक जीवन में सफल हो जाते हैं, तभी यह समझना चाहिए, कि हमारी साधना जीवित एवं तेजस्वी साधना है।

मां, बाप और सन्तान :

आज व्यक्ति घर में रहते हैं, परन्तु उन्हें यह भी ज्ञात नहीं है, कि पारिवारिक जीवन में उनका क्या कर्तव्य है। इसी कारण आज के पारिवारिक जीवन में कटुता अधिक दिखाई देती है। माता-पिता इस बात का ध्यान नहीं रखते, कि सन्तान के साथ हमें कैसा व्यव-

हार करना चाहिए ? वे चाहते अवश्य हैं, कि हमारी संतान योग्य बने। परन्तु उसे योग्य बनाने का प्रयत्न नहीं करते। याद रखिए संतान को योग्य एवं तेजस्वी बनाने के लिए पहले माता-पिता को योग्य और तेजस्वी बनना पड़ता है। यदि माता-पिता का जीवन, विचार एवं आचार-व्यवहार पवित्र होगा, तो संतान भी उसी सांचे में ढल-कर उन्हीं के अनुरूप निकलेगी। महाभारत में वर्णन आता है, कि अभिमन्यु जब गर्भ में था, तब अर्जुन अपनी पत्नी को चक्रव्यूह का भेदन करके किस प्रकार शत्रु के सामने पहुँचा जाता है, यह बता रहा था। उसी समय अभिमन्यु चक्रव्यूह को भेदन करने की कला जान गया था। इससे स्पष्ट है, कि गर्भ अवस्था में ही बालक के जीवन पर माता-पिता के संस्कार पड़ने लगते हैं। इसलिए माता को बालक की प्रथम शिक्षिका कहा है। जो माता-पिता बालक को शिक्षित एवं संस्कारित नहीं बनाते, उन्हें नीतिकारों ने बालक का घोर शत्रु कहा है –

> "माता शत्रु पिता वैरी, येन बालो न पाठितः।
> न शोभते सभा-मध्ये, हंस-मध्ये बको यथा॥"

परन्तु, आजकल प्रारम्भ से ही बच्चों को संस्कारित करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसी का परिणाम है, कि बड़े होने के बाद उनमें उद्दण्डता आ जाती है। वे माँ-बाप के आदेश का पालन नहीं करते हैं। उन्हें अण्ट-सन्ट बोलते रहते हैं। और यह शिकायत प्रायः घर-घर में सुनाई देती है, कि बच्चों में विनय, नम्रता, शिष्टता एवं सेवा की भावना नहीं है। और इसका दोष दिया जाता है, आज की शिक्षा को। यह मैं भी मानता हूँ, आज जो पाश्चात्य पद्धति से हाईस्कूल एवं कालेजों में शिक्षा दी जाती है, वह भी दोष-युक्त है, परन्तु यदि सबसे अधिक दोष है, तो वह माता-पिता का है, जिन्होंने प्रारम्भ से अपनी सन्तान को योग्य बनाने का

प्रयत्न नहीं किया। अतः माँ-बाप का यह कर्तव्य हो जाता है, कि वे बच्चे की उपेक्षा न करें, उसके सामने गाली-गलोज एवं कटु-भाषण न करें, कलह-कदाग्रह का वातावरण उपस्थित न होने दें, विनय, नम्रता एवं सेवा का वातावरण बनाए रखें। क्योंकि बच्चा अपने सामने जैसा वातावरण देखता है, वह उसी के अनुरूप बनने का प्रयत्न करता है।

दाम्पत्य-जीवन :

गृहस्थ जीवन में दाम्पत्य का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन पर दाम्पत्य जीवन का असर पड़े विना नहीं रहता। पति-पत्नी का आदर्श जीवन परिवार, समाज एवं राष्ट्र में परिवर्तन ला सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर एक विचारक ने कहा है—"आदर्श दम्पती का घर स्वर्ग है।" क्योंकि उसके कारण परिवार में शान्ति एवं आनन्द की सरिता बहती है। और जहाँ आनन्द है, वहीं स्वर्ग है। यह भी सत्य है, कि घर को स्वर्ग-मय बनाने में या नरक का रूप देने में पुरुष से भी अधिक हाथ स्त्री का रहता है। सेवा-निष्ठ, धार्मिक एवं संस्कारी नारी जिस घर में कदम रखती है, वह घर स्वर्ग-सा बन जाता है। उस परिवार के सदस्यों को दुःख, दैन्य, कलह एवं क्लेश से मुक्ति मिल जाती है। इसलिए महान् विचारक H. F. Amiel" (एच. एफ. एमिएल) ने कहा है—"Woman is salvation स्त्री, परिवार की मुक्ति है। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक स्थान पर लिखा है—"स्त्री, जब अपने कर्तव्य-पालन में, अपने कार्य में लीन रहती है, तब उसके अंग-अंग से संगीत की ऐसी मधुर ध्वनि ध्वनित होती है, जैसी विल्लौरों में से क्रीड़ा करते हुए प्रवाहित होने वाले पहाड़ी झरनों से निकलती है—Woman, when you move about in

your house hold service, your limbs sing like a hill stream among its pebbles." भारत के प्राचीन विचारकों एवं महर्षियों ने भी नारी के तेजस्वी जीवन का आदर के साथ उल्लेख करते हुए कहा है -"जहाँ नारी की पूजा होती है—नारी का आदर एवं सम्मान होता है, वहाँ देवता का निवास होता है"—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता ।"

इससे स्पष्ट होता है, कि दाम्पत्य केवल पाप का कारण नहीं, जीवन विकास का भी साधन है। यह समझना भयंकर भूल है, कि विवाह, भोग-वासना को पूरा करने के लिए किया जाता है। विवाह का मूल ध्येय वासना एवं आसक्ति में डूबे रहना नहीं, प्रत्युत वासना, विकार एवं विषयासक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित करके उसे सीमित एवं मर्यादित बनाना है। इसलिए आगम में दाम्पत्य जीवन में प्रविष्ट होने वाले या उसका पालन करने वाले व्यक्ति के लिए 'स्व-पति-सन्तोष-व्रत' या 'स्व-पत्नी-सन्तोष-व्रत' रखा, न कि स्व-पति या स्व-पत्नी-रमण व्रत। भोगों में आसक्त बनना मोह को बढ़ाना है, और विषयों में आसक्ति न रखते हुए संतोषमय जीवन व्यतीत करना जीवन का विकास करना है, जीवन को उज्ज्वल बनाना है।

विवाह के बाद पति-पत्नी का यह कर्तव्य हो जाता है, कि पारिवारिक जीवन को मधुर एवं सुन्दर बनाए। पति का यह कर्तव्य है, कि वह माता-पिता, भाई-भाभी एवं अन्य व्यक्तियों का जो बड़े हैं, आदर-सम्मान करे, उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करे। और साथ में इस बात का भी ध्यान रखे कि पत्नी को किस समय किस वस्तु की आवश्यकता है। आजकल कुछ व्यक्ति स्त्री की उपेक्षा कर देते हैं। उसे तुच्छ समझ कर उसका निरादर करते हैं। परन्तु याद रखिए, स्त्री आप से कम नहीं है। उसमें

आप से भी अधिक शक्ति रही हुई है। बाहुबली को अभिमान के हाथी पर से उतार कर विनम्रता के समतल पथ पर लाने वाली ब्राह्मी और सुन्दरी ही थी। विषय-वासना के कंटकमय जंगल में भटके हुए रथनेमि को संयममार्ग पर पुनः स्थिर करने वाली राज-मती नारी ही थी। त्याग, तप एवं बलिदान में नारी का स्थान सदा ऊँचा रहा है। इसलिए यह एक कहावत बन गई है—"जो पालना झुलाती है, वही शासन करती है।" जिस युग में यह कहावत बनी उस युग में इसका अर्थ यही रहा है, कि शासक को शासक बनाने वाली नारी ही है। परन्तु आज तो नारी ने यह सिद्ध कर दिया है, कि वह शासन के क्षेत्र में भी वह पूरी योग्यता रखती है। दुनिया का कोई भी क्षेत्र एवं कार्य ऐसा नहीं है, कि जिसमें नारी ने सफलता प्राप्त नहीं की हो। इसलिए उसका अनादर करना अपने जीवन का पतन करना है।

पत्नी का भी यह कर्तव्य है, कि वह अपने को पति तक ही सीमित न रखे। सास-ससुर, देवर-जेठ, ननद-जेठानी-देवरानी, सब के साथ प्रेम, स्नेह एवं आदर का व्यवहार करे। सब के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर उसे दूर करने में अपनी शक्ति लगा दे। और सब के साथ मधुरता का व्यवहार करे। वाणी की मधुरता स्त्री का सबसे बड़ा गुण है। आजकल घरों में झगड़े होते हैं, उनमें अधिकांश वाणी की कटुता एवं अहंभाव के कारण होते हैं। मधुर एवं मीठी वाणी में वह शक्ति है, कि जो काम तलवार से नहीं होता, वह मीठे शब्दों से हो जाता है। इसे दलपत कवि ने वाणी की मधुरता को वशीकरण मन्त्र कहा है—

> "मारण-मंत्र उचित क्षमा, मन-मोहन मंत्र रूडी चतुराई।
> स्तंभन-मंत्र सदा सन्मान, प्रकर्षण-मन्त्र स्नेह-सच्चाई ॥

में अपने कार्य को बढ़ाता है। उस के पश्चात् संपूर्ण प्राणियों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करता है। समस्त जीवों को आत्मा के समान समझकर सबके साथ मित्रता का व्यवहार करना, किसी को कष्ट एवं पीड़ा नहीं पहुंचाना यही तो साधना का चरम विकास है। वहां तक पहुँचने के लिए गृहस्थ-धर्म पहली सीढ़ी है। यदि इसका सम्यक् रूप से परिपालन करेंगे, तो एक दिन आप अपने जीवन का विकास करके परम आनन्द को प्राप्त करेंगे। ★

सेवा का फल :

श्रमण भगवान महावीर से एक बार पूछा गया, कि—भगवन् ! वैयावृत्य— सेवा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम ! सेवा करने से जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है।

यदि कोई व्यक्ति दुःख एवं वेदना से संतप्त व्यक्ति की निष्काम भाव से सेवा-शुश्रूषा करता है, नाम, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा एवं अन्य किसी तरह की कामना नहीं रखता है, और उत्कृष्ट शुभ भावों से सेवा करता है, तो वह तीर्थंकर बन सकता है, अनन्त पुण्य का उपार्जन करता है, और विकास के चरम शिखर की ओर कदम बढ़ाता है।

"वास्तव में महान् व्यक्ति तीन चिन्हों द्वारा जाना जाता है—योजना में उदारता, उसे पूरा करने में मनुष्यता और सफलता में संयम"—

"A really great man is known by three sings - generosity in the design, humanity in the execution, moderation in success."

जिस व्यक्ति के हृदय में, उदारता एवं विशालता है, वही व्यक्ति दूसरे के दुःख-सुख को समझ सकता है, और उसकी मानवता उस कार्य को पूरा करने को प्रेरित भी करती है। और जब सेवा का कार्य पूरा हो जाता है, तब वह अपनी इच्छा एवं कामना पर संयम रखता है, अर्थात् फल पाने की इच्छा नहीं रखता। जिस व्यक्ति के हृदय में विशालता नहीं है, जीवन में मानवता नहीं है एवं व्यवहार में संयम नहीं है, वह सेवा की साधना कदापि नहीं कर सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर एक विचारक ने कहा है—"सेवा-धर्म परम गहन है, अत्यधिक गहरा है। योगियों के लिए भी यह अगम्य है"—

"सेवा-धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।"

विश्व-बन्धुत्व :

जब मनुष्य सेवा के महत्व को समझकर उसे आचरण में साकार कर देता है, तब वह अपने स्वार्थ का त्याग कर विशाल एवं व्यापक बन जाता है। वह केवल अपने परिवार, अपनी जाति, अपने पंथ, अपने समाज एवं अपने राष्ट्र के व्यक्ति को अपना नहीं समझता, प्रत्युत प्रत्येक मानव को, प्रत्येक प्राणी को, भले ही वह किसी जाति, पंथ, रंग-रूप, एवं देश का क्यों न हो, अपना ही भाई समझता है। वह रात-दिन "वसुधैव-कुटुम्बकम्" के विचारों में संलग्न रहता है। जब तक उसके सामने एक भी व्यक्ति दुःखी रहता है, तब तक उसे सुख से नींद नहीं आती। उसकी भावना इतनी उदार एवं विशाल

होती है, कि वह दूसरों के दुःख को अपना दुःख और उनके सुख को अपना सुख समझता है। वह सदा भगवान् से प्रार्थना करता है—

"दयामय! ऐसी मति हो जाय।
औरों के सुख को सुख समझूं, सुख का करूँ उपाय।
अपने सब दुःख को सहलूं पर-दुःख सहा न जाय॥"

साधक अपने सुख-दुःख की कदापि चिन्ता नहीं करता। वह अपने पथ में आने वाले दुःखों के कांटों को सह लेता है, परन्तु दूसरों के दुःखों को देख नहीं सकता। इसलिए वह दुःखी को देखते ही अधीर हो उठता है, और उसके दुःख को दूर करने में लग जाता है। कवि की भाषा में उसके जीवन का यह मूल-मंत्र बन जाता है—

"केवल स्वार्थ-साधना करना, जीवन का उद्देश्य नहीं।
हित करना है प्राणी-मात्र का, रहे द्वेष का लेश नहीं॥"

वास्तव में, मानव-जीवन का उद्देश्य यह नहीं है, कि खा-पीकर खूब मौज उड़ाई जाए। केवल अपने स्वार्थ को साधने में ही जीवन की सफलता नहीं है। अपने स्वार्थों को पूरा करने का प्रयत्न तो एक कुत्ता भी करता है, पशु-पक्षी भी करते हैं? फिर यदि मानव उसी स्वार्थ-पूर्ति में लगा रहे, तो उसकी अपनी विशेषता क्या रही? मानव-जीवन एवं मानवता का महत्व अपने स्वार्थ को पूरा करने में नहीं, परन्तु उससे ऊपर उठकर दूसरों को सहारा देने में, सहयोग देने में एवं सुख-शान्ति देने में है।

महापुरुष बनने की कला :

याद रखिए, जितने भी महापुरुष बने हैं, बन रहे हैं और बनेंगे, वे सब आकाश से नहीं टपक पड़े हैं। परन्तु तप, त्याग एवं सेवा के द्वारा ही महान् बने हैं। उनका अन्तः करण इतना सुकोमल होता है, कि वे

आर्त व्यक्ति के क्रन्दन को चुपचाप सुन नहीं सकते। वे अपने सर्वस्व का त्याग करके भी दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्रश्न व्याकरण-सूत्र में कहा है—भगवान जगत के समस्त जीवों की रक्षा रूप दया की भावना से प्रेरित होकर उनकी रक्षा के लिए प्रवचन करते हैं। भगवान महावीर ने मोह और ममता के नशे में भूली हुई मानव-जाति को जागृत करने के लिए, धर्म का मार्ग एवं शान्ति की राह दिखाने के लिए संपूर्ण वैभव का त्याग करके श्रमण-साधना को स्वी, कार किया, और सर्वज्ञ बनने के बाद चार तीर्थ की स्थापना करके श्रमण-श्रमणी वर्ग को ग्राम-ग्राम में घूम-फिरकर जन-जीवन को जागृत करने का आदेश दिया। अपने स्वार्थ में एवं भौतिक-सुखों में संलग्न न रहकर प्राणी-जगत को सुख-शान्ति की राह बताना, यही साधु-साध्वी का मुख्य ध्येय रहा है। मेरी भावना में कवि ने साधु- जीवन की परिभाषा करते हुए यही बात कही है—

स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दुःख-समूह को हरते हैं।।

सच्चा सेवक :

जो व्यक्ति समाज से कम से कम लेता है, और अधिक से अधिक देता है, जिसके मन में किसी भी तरह की आकांक्षा नहीं हैं, भौतिक इच्छाएँ जिसकी समाप्त हो चुकी हैं, और जो स्वार्थ के व्यामोह से मुक्त हो चुका है, वही सच्चा सेवक है, वही सच्चा सन्त है और वही परम योगी है। उसके मन में दीन-दुःखी जीवों को देखकर दया एवं करुणा का सागर उमड़ पड़ता है, और वह अपनी सारी शक्ति उनके दुःखों को दूर करने में, एवं उनके आँसू पोंछने में लगा देता है। वह हर समय सेवा के लिए तैयार रहता है। उसके मन में मान-अपमान का भय ही नहीं रहता। भले ही, कोई उसकी निन्दा करे, आलोचना

करे, या तिरस्कार करे, वह उस ओर ध्यान ही नहीं देता। मान-अपमान तो क्या, यदि अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह मर भी जाए, तब भी वह मृत्यु से डर कर अपने पथ को नहीं छोड़ता। संसार का कोई भी भय उसे सेवा के पथ से हटा नहीं सकता। वह अपने जीवन-पथ पर निर्द्वन्द्व एवं निर्भय होकर गति करता है। वह तो यह सोचकर चलता है—

"अब हम अमर भये, न मरेंगे।"

वह समझता है, कि मेरा जो अपना स्वरूप है, अपना स्वभाव है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता। किसी भी व्यक्ति में इतनी ताकत नहीं है, मेरे स्वरूप को नष्ट कर दे। और जिसे व्यक्ति नष्ट कर सकता है, वह तो स्वयं ही नाशवान है। आज नहीं, तो कल, उसका तो विनाश होने ही वाला है। फिर उसके नाश से डरकर मैं अपने पथ को क्यों छोड़ दूं। इस प्रकार सेवा-निष्ठ व्यक्ति बाह्य डर से डरकर कभी भी विपरीत मार्ग को स्वीकार नहीं करता। भारतीय-संस्कृति में एवं कथा-साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे, जिन्होंने अपने शरीर एवं अपने स्वार्थों की ममता का परित्याग करके सेवा-धर्म को स्वीकार किया, और अन्तिम सांस तक उस पथ पर चलते रहे। परन्तु, यूरोप के इतिहास में भी सेवा-निष्ठ व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं। मैं आपको फादर डेमियन के जीवन की एक घटना सुनाता हूँ, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन मानव-सेवा में लगा दिया था।

फादर-डेमियन :

डेमियन बेलजियम के निवासी थे। वहाँ के एक गिरजे (Church) में पादरी थे। आपने ३३ वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार किया। एक दिन आपके पास यह समाचार आया, कि शहर से कुछ दूर झोंपड़े हैं, जिनमें कुष्ट रोग से पीड़ित व्यक्ति रहते हैं। शहर में किसी को

भी कोढ़ का रोग हो जाता है, तो उसे वहाँ छोड़ आते हैं। परन्तु उनकी देख-रेख एवं परिचर्या करने वाला कोई नहीं है। छूत की बीमारी होने के कारण उनके पास कोई नहीं जाता। इसलिए विचारे रोगी नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह सुनते ही सहृदय डेमियन का हृदय दया, करुणा एवं प्रेम से भर आया। वे तुरन्त उठे, उनकी सेवा के लिए चल दिए।

प्रिय सज्जनो! आप अहिंसा के पुजारी, दया-धर्म परिपालक हैं और अहिंसा-धर्म के परमोपदेष्टा भगवान महावीर के उपासक हैं। आप रात-दिन छोटे-छोटे जीवों की दया पालते हैं। परन्तु क्या कुष्ट जैसे भयंकर रोग से पीड़ित व्यक्तियों की सेवा का अवसर आने पर आप इसके लिए तैयार रहते हैं? क्या उनके दुःख को देखकर आपका हृदय दुःखी होता है? यदि सचमुच में आप दया एवं अहिंसा के उपासक हैं, तो आपके हृदय में सेवा की भावना जागृत होनी चाहिए। केवल भगवान महावीर की जय बोलना एवं उनके गुण-गान करना ही भक्ति नहीं। सच्ची भक्ति उनके आदेश एवं उपदेशों को तथा उनके गुणों को जीवन में उतारना है। सम्यक्त्व के पांच लक्षणों में से एक अनुकम्पा भी है। जो व्यक्ति अनुकम्पा, दया एवं करुणा का प्रसंग उपस्थित होने पर भी चुप बैठा रहता है, उसमें सम्यक्त्व का उदय नहीं हो पाया है। सच्चे सम्यक्-दृष्टि का हृदय किसी दुःखी को देख कर दुःखी हुए बिना नहीं रहता।

पादरी डेमियन कुष्ट रोगियों के झोपड़ों में जा पहुँचा। वहाँ रोगियों को दुर्गन्ध, भूख एवं रोग की वेदना से तड़पते देखकर, उसकी आँखों में आँसू छलक पड़े। उसने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा, घबराओ मत। अब मैं तुम्हारी सेवा में आ गया हूँ। पादरी ने झोंपड़ों की एवं रोगियों के शरीर की बिना किसी घृणा के सफाई

की। उनके घावों को धोया, उन पर मरहम-पट्टी की। उनके दुर्गन्ध-मय वस्त्रों को उतार कर उन्हें जमीन में गाड़ दिया, और उनको साफ वस्त्र पहनाये। उनके खाने-पीने एवं दवा की व्यवस्था की। इस प्रकार पादरी डेमियन के मधुर एवं स्नेह-सिक्त शब्दों, उनके हाथों के मृदु स्पर्श तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा को पाकर रोगी शीघ्र ही स्वस्थ होने लगे। उन्हें पादरी एक मनुष्य नहीं, बल्कि साक्षात् भगवान लगते थे। वे सब लोग उन्हें अब पादरी नहीं, पिता (Father) कहने लगे थे। और वे फादर डेमियन के नाम से विश्व-विश्रुत बन गए। डेमियन वहाँ सेवक बनकर गए थे, परन्तु वहाँ अपने व्यवहार से वे उनके पिता बन गए।

व्यक्ति जो-कुछ करता है, कभी-कभी प्रकृति उसकी कठोर परीक्षा भी लेती है। जो परीक्षा में पास हो जाता है, अथवा आपत्तियों का पहाड़ टूटने पर भी घबराता नहीं, अपनी सहनशीलता एवं सेवा-वृत्ति का त्याग नहीं करता, वही सच्चा सेवक होता है। फादर डेमियन को भी रक्त-पित्त का रोग हो गया। यह देखकर रोगी सब घबराने लगे। परन्तु फादर डेमियन ने मुस्कराते हुए कहा—घबराओ मत! इससे मुझे यह जानने को मिलेगा, कि इस रोग में किस तरह की पीड़ा होती है। और इस तरह की अनुभूति होने से मैं आपकी और अच्छी तरह सेवा कर सकूंगा। उसने अपने रोग पर अनेक तरह का प्रयोग किया, जिससे अनेक बीमारों को भी लाभ पहुंचा। इस तरह फादर डेमियन ने अपने प्राणों की चिन्ता किए बिना अपना सम्पूर्ण जीवन बीमारों की सेवा में लगा दिया, और सेवा करते-करते ही अपने शरीर का त्याग किया। वास्तव में दुःखी एवं दर्दी व्यक्ति की सेवा करना ही भगवान की सच्ची सेवा है।

भगवान के हजारों-हजार नामों में से एक नाम—दीन-बन्धु भी

है। क्या आपको हृदय से विश्वास है कि भगवान दीन-बन्धु हैं? यदि ऐसा है, तब वह गिरजाघर, मन्दिर एवं मस्जिदों में नहीं, दीन-दुःखी व्यक्तियों के मध्य में मिलेंगे। कवि की भाषा में कहूँ, तो हम उसे और कहीं खोजते हैं और वह हमें अन्यत्र देखता है। हम कुंज और कानन में ढूंढते हैं, तो वह हमारी प्रतीक्षा में दीनों के मध्य में उपस्थित है, जहाँ हमारी दृष्टि ही नहीं पड़ती—

"मैं ढूँढता तुझे था, जब कुंज और वन में।
तू ढूँढता मुझे था, तब दीन के वतन में॥"

वास्तव में, परमात्मा कहीं बाहर नहीं है। उसे खोजने के लिए इधर-उधर भटकने की भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इसी बात की है, कि आप बाहर में नहीं, अपने अन्दर झांक कर देखें, कि में क्या कर रहा हूं। महात्मा कबीर ने कहा है—

"मुझे कहाँ तू ढूँढे मैं तो हरदम तेरे पास में।
ना मैं मन्दिर, ना मैं मस्जिद,
ना काशी-कैलाश में।
ना मैं बसूं अवध-द्वारिका,
मेरी भेट विश्वास में॥"

याद रखिए, परमात्मा आत्मा से बाहर नहीं है, आत्मा से भिन्न नहीं है। वह तो आपके कण-कण में व्याप्त है। प्रत्येक आत्मा परमात्म शक्ति से युक्त है। यदि आपको अपने आप पर विश्वास है, और सबको अपने समान समझकर सबके प्रति समानता का व्यवहार करते हैं, समता के भाव रखते हैं, तो परमात्मा आपके पास है। दीनों के प्रति दया रखना, उन्हें उत्पीड़ित नहीं करना ही, परमात्मा की सच्ची सेवा है। दूसरों को शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न करना ही अक्षय शान्ति को प्राप्त करना है। यदि आप किसी दुःखी

एवं पीड़ित व्यक्ति को और आघात पहुँचाते हैं, उसे उत्पीड़ित करते हैं, तो उसका परिणाम भयंकर ही आएगा। सन्त तुलसीदास जी ने भी कहा—

> "तुलसी आह गरीव की, कवहुँ न निष्फल जाय।
> मुए वैल के चाम से, लोह भस्म हो जाय ॥"

गांधीजी का सेवामय जीवन :

वर्तमान युग में गांधीजी भारत के ही नहीं; विश्व के महान् पुरुष हैं। परन्तु राष्ट्र पिता महात्मा गांधीजी को महान् किसने वनाया ? यदि एक शब्द में कहूं तो उनमें जो सेवा का गुण था, उसी ने उन्हें वापू, महात्मा एवं महापुरुष वनाया।

वैरिस्टर वनने के वाद गांधी जी एक वार दक्षिण अफ्रीका गए। उनके निवास स्थान पर एक कुष्ट रोगी उनसे कुछ मांगने आया। उसे देखकर पहले तो गांधीजी के मन में विचार आया, कि इसे कुछ देकर विदा कर दूं। पर इससे उनको आत्म-सन्तोप नहीं हुआ। उन्होंने उसे अन्दर वुलाया। अपने हाथ से उसके घाव धोए, मरहम-पट्टी की और दवा भी दी। कुछ दिन उसे अपने यहाँ रखा। परन्तु अधिक दिन तक घर में रखना संभव नहीं था, इसलिए उसे होस्पीटल में दाखिल करवा दिया। वह हॉस्पीटल सेठ रुस्तम जी के धर्मार्थ फण्ड से चलता था। गांधीजी की सेवा में इतनी अभिरुचि वढ़ी, कि वकालत का एवं समाज का काम करते हुए भी वे प्रतिदिन दो घण्टे का समय हॉस्पीटल में वीमारों की सेवा के लिए देते थे। जव दक्षिणी अफ्रीका में आपके नेतृत्व में सत्याग्रह हुआ, तव कुछ भारतीयों को वहाँ से निकाल कर जवरदस्ती भारत भेज दिया था। उस समय जो वच्चे एवं स्त्रियाँ अफ्रीका में रह गई थीं, गांधीजी ने उनकी देख-रेख की। वे वच्चों को पढ़ाते थे, अपने हाथ से पाखाने

साफ करते, नल से पानी भर लाते। उनके वस्त्र धोकर साफ कर देते। गांधीजी की सेवा के कारण उन्हें अपने निर्वासित व्यक्तियों की स्मृति भी नहीं आई।

एक ओर गांधीजी का जीवन था और एक ओर आपका है? गांधीजी ने सम्पूर्ण जीवन देश की एवं मानव-जाति की सेवा में लगा दिया। और आप के पास अपने पड़ौसी के बीमार बच्चे को देखने एवं संभालने के लिए भी समय ही नहीं है। यह समय की कमी नहीं, सेवा-भावना की कमी है। गांधीजी ने जब अफ्रीका में अपने देश के भाइयों की दुर्दशा को देखा तो उन्होंने खुलकर उसका विरोध किया और अहिंसा एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने उनको अधिकार दिलाने का प्रयत्न किया। उसमें कुछ सफल होने के बाद देश को आजाद बनाने के लिए भारत में भी सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया। स्वतन्त्रता पाने के लिए उन्होंने लाठियें खाईं, जेल-यात्राएँ कीं और भी अनेक तरह के कष्ट उठाए, परन्तु अन्त में वे अपने उद्देश्य में सफल हो गए। भारत स्वतन्त्र हो गया। यह सब गांधीजी की सेवा का ही फल है। वे अन्तिम सांस तक सेवा में संलग्न रहे। इसी सेवा की शक्ति ने उन्हें महात्मा बनाया, विश्व का महापुरुष बनाया।

अहंकार का त्याग :

सेवा और अहंकार दोनों परस्पर विरोधी हैं। जिस व्यक्ति के मन में अपने बड़प्पन का अहंकार होगा, वह कदापि सेवा नहीं कर सकता। अहंकार एवं अभिमान जीवन के विकास को रोकने वाला है। व्यक्ति रूप पर, धन पर, यौवन पर, अधिकार पर अभिमान करता है। परन्तु जरा सोचिए, यह अभिमान कितनी देर रहने वाला है। रूप, यौवन, धन-सम्पत्ति, भौतिक-शक्ति आज है, और कल नहीं। जिस वस्तु में स्थायित्व नहीं है, उसका अभिमान करना सब

से बड़ी मूर्खता है। और तो क्या, विश्व-विजय के स्वप्न देखने वाले सम्राट सिकन्दर की शक्ति एवं वैभव भी यहीं रह गया। रावण का अभिमान भी समाप्त हो गया। अतः अभिमान का भूत जब तक सिर पर सवार रहता है, तब तक व्यक्ति-सेवा की साधना नहीं कर सकता।

तीन-खण्ड के विजेता श्री कृष्ण कितने शक्तिशाली थे, यह आप जानते हैं। परन्तु जब वे अपनी सेना के साथ भगवान नेमिनाथ के दर्शनार्थ जा रहे थे, तब मार्ग में एक जरा से जर्जर शरीर वाले वृद्ध को घर के बाहर पड़े हुए विशाल ढेर में से एक-एक ईंट उठाकर घर में रखते हुए देखा। कृष्ण की करुणा साकार हो उठी। न उनके मन में राज्य का अभिमान जागा, और न अपने बड़प्पन का ही। श्री कृष्ण ने हाथी पर बैठे-बैठे एक ईंट उठाई और उसके घर में रख दी उन्हें ईंट उठाते देख सभी अधिकारी एवं सैनिक उस काम में लग गए, और देखते ही देखते सारी इंटें बूढ़े के घर में पहुँच गईं।

देखिए, श्री कृष्ण वासुदेव थे, फिर भी ईंट उठाते हुए शर्माये नहीं और न उनके मन में यह भावना ही आई कि मैं इतना बड़ा व्यक्ति होकर यह सामान्य कार्य कैसे करूं? वास्तव में बड़ा एवं महान् व्यक्ति वही है, जो छोटों के एवं दुःखी व्यक्तियों के दुःखों को दूर करता है। वास्तव में सेवा का कोई भी काम अपने आप में तुच्छ नहीं है। जो दूसरों को दुःख देता है, वह तुच्छ है, और जो दुःख-दर्द मिटाता है, वह महान् है।

सहिष्णुता :

सेवा-निष्ठ व्यक्ति निरहंकारी तो होना ही चाहिए, परन्तु साथ में उसमें सहिष्णुता भी होनी चाहिए। क्योंकि सेवा का मार्ग फूलों का नहीं, कांटों का मार्ग है। सेवा करने वाले व्यक्ति को अनेक बातें

सुननी और सहनी पड़ती हैं। विघ्न-बाधाओं एवं कष्टों के उपस्थित होने पर भी तथा कटु शब्दों का प्रहार करने पर भी जो व्यक्ति विचलित नहीं होता, वही सेवा कर सकता है। यह याद रखना चाहिए, कि सेवा-शुश्रूषा का गुलाब कांटों में ही खिलता और कांटों से बिंधने के बावजूद भी अपनी मधुर, मीठी और तरोताजा खुशबू दशों-दिशाओं में बिखेरता है, सुवास के अक्षय भण्डार को मुक्त-मन से लुटाता है। एक कवि ने बहुत सुन्दर शब्दों में कहा है—

"इन कष्ट-कटंकों में ही, जिसका जीवन-कुसुम खिला।
गौरव-गंध उसे उतना ही, यत्र-तत्र-सर्वत्र मिला॥"

निस्वार्थ भाव से सेवा करने वाला व्यक्ति कष्टों से कभी घबराता नहीं है। वह तो मित्रों की तरह उनके स्वागत में पलक-पांवड़े बिछाये उनकी प्रतीक्षा में खड़ा रहता है। वह तो यह समझता है, कि ये कष्ट कष्ट नहीं, प्रत्युत सहनशीलता का पाठ सिखाने वाले शिक्षक हैं। आपने आजादी की लड़ाई के समय देखा है, कि सत्याग्रह एवं अहिंसा के द्वारा देश को स्वतन्त्र कराने वाले सेवकों को कितनी यातनाएँ सहन करनी पड़ी है। हजारों व्यक्तियों को छाती पर गोलियों को, लाठियों के प्रहार को, जेलों के कष्टों को सहन करना पड़ा, फांसी के तख्तों पर झूलना पड़ा है, जेलों के कष्टों को सहना पड़ा है, तब उनकी सेवा सफल हो सकी। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि सहिष्णु व्यक्ति ही सेवा कर सकता है।

लोकैषणा का त्याग :

जिस व्यक्ति के मन में मान-सम्मान एवं प्रतिष्ठा और यश-कीर्ति प्राप्त करने की लालसा रहती है, वह व्यक्ति कदापि सेवा नहीं, कर सकता। प्रतिष्ठा पाने के लिए सेवा करना सेवा नहीं, दंभ है। सच्चा सेवक न निन्दा के प्रहारों से डरकर भागता है और न यश के

लोभ से अपने मार्ग से हटता है। वह बिना किसी तरह की कामना के रात-दिन सेवा में संलग्न रहता है। जैसे हवा किसी के द्वारा की गई निन्दा-स्तुति के असर से प्रभावित हुए बिना बहती रहती है। सूर्य अपना प्रकाश देते समय यह नहीं देखता, कि कौन मेरी निन्दा कर रहा है, और कौन स्तुति गान गा रहा है। उसी तरह सच्चा सेवक किसी तरह की अभिलाषा न रखते हुए अपना कार्य करता रहता है। उसके मन में यश, प्रतिष्ठा, धन आदि किसी भी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं रहती। यदि वह अपने मन में अभिलाषा रखता है, तो केवल यही अभिलाषा रखता है—मैं संतप्त एवं दुःखी प्राणियों के दुःखों का नाश किस प्रकार करूं—

"कामये दुःख-तप्तानां, प्राणीनामार्तिनाशनम् ॥"
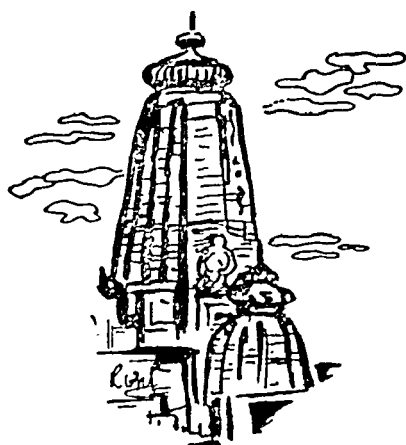
क्रिया-काण्ड मात्र को धर्म मानना एक भयंकर भूल है। धर्म न तो किसी स्थान विशेष में है और न किसी क्रिया- काण्ड विशेष में है। स्थान एवं क्रिया-काण्ड निमित्त मात्र हैं। वे साध्य नहीं, सिर्फ साधन हैं। और साधन बदल भी सकते हैं। परिणामों एवं विचारों के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के अनुरूप धर्म-साधना केसाधन अधर्म, पाप एवं कर्म-वन्ध के हेतु और अधर्म के साधन धर्म एवं निर्जरा के हेतु बन जाते हैं। यदि श्रमण भगवान महावीर की भाषा में कहूँ तो—"आस्रव के स्थान संवर-साधना के और संवर-साधना के साधन आस्रव के हेतु बन सकते हैं।"

"जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा"

अस्तु, धर्म विचार-प्रधान है, न कि आचार-प्रधान। धर्म में आचार का स्थान है उसका महत्व एवं मूल्य भी है। परन्तु प्रधानता आचार कीं नहीं, विचार की है, परिणामों की है, भावनाओं की है। यदि मानव के मन में धर्म के भाव नहीं है, विचारों में धर्म की ज्योति नहीं है, चिन्तन में धर्म की चिनगारी नहीं है, तो उसके आचार में, उसकी साधना में उसके क्रिया-काण्ड में धर्म अवतरित हो नहीं सकता।

वर्तमान युग क्रान्ति का, विकास का एवं अभ्युदय का युग है। दुनिया के हर कोने में एवं हर क्षेत्र में विभिन्न प्रकार का परिवर्तन हो रहा है। पुरातन मूल्य वदल रहे हैं, और वड़ी तेजी से वदल रहे हैं। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और धार्मिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति की लहर तीव्रगति से फैल रही है। दुनिया का कोई भी क्षेत्र इसके स्पर्श से अछूता नहीं रहा। पुरातन नियम एवं कानून—चाहे धार्मिक क्षेत्र के हों या लौकिक क्षेत्र के, समय के अनुसार वदलते जा रहे हैं। परिवर्तन, संसार का स्वभाव है। व्यक्ति चाहे या न चाहे, समय के अनुरूप परिवर्तन तो होता ही है, और होता रहेगा। इसीलिए भगवान महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार करके विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने का

आदेश दिया। साधु हो या श्रावक, द्रव्य, काल और भाव का क्षेत्र, सम्यक् रूप से विचार करके प्रवृत्ति करेगा, वही धर्म का परिपालन कर सकेगा। जिस व्यक्ति में विवेक नहीं है, समय के अनुरूप बदलने की क्षमता नहीं है, वह जीवन का सही दिशा में विकास नहीं कर सकेगा।

धर्म और समाज :

व्यक्ति—भले ही वह साधु हो या श्रावक, साध्वी हो या श्राविका, समाज से संबद्ध है। समाज व्यक्तियों के सुमेल से बनता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व ही समाज को विकसित करता है, उन्नत बनाता है, और समाज का सहयोग पाकर ही व्यक्ति का व्यक्तित्व उभरता है, विकसित होता है। समाज के सहयोग के बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी तरह की साधना नहीं कर सकता। साधु को श्रमणत्व की साधना के लिए समाज का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए समाज के विकास में प्रेरणा देना, उसे मार्ग बताना साधु का अपना कर्तव्य है। यदि निष्प्राण रूढ़ियों से चिपका रहने के कारण समाज जड़ता की ओर जा रहा है, तो साधु का यह कर्तव्य ही नहीं, परम धर्म हो जाता है, कि उसे म्रियमाण रूढ़ियों का परित्याग करके विकास एवं प्रगति के पथ पर गति करने का उपदेश दे।

यह समझना एवं मान बैठना भयंकर भूल होगी, कि धर्म का पथ अलग है, और समाज का मार्ग अलग है। धर्म कोई पदार्थ नहीं है, जो किसी स्थान विशेष में बन्द पड़ा हो। धर्म आत्मा का स्वभाव है। व्यक्ति का विवेक ही उसका धर्म है। जिस व्यक्ति के जीवन में, जिस समाज के कार्यों में विवेक नहीं है, विचार नहीं है, तो वह कभी भी विकास नहीं कर सकता। अतः समाज के लिए धर्म आवश्यक है। क्योंकि आचरण में उतरने वाला धर्म ही सच्चा रक्षक है—

"धर्मो रक्षति रक्षित :"

इस प्रकार धर्म और समाज का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हुआ है। यदि सामाजिक नियमों एवं रीति-रिवाजों में विवेक रखा जाए और उनमें जो बुराइयें आ गई हैं, उन्हें निकालकर समय के अनुरूप परिवर्तन कर लिया जाए, तो उससे समाज का भी विकास होगा, और धर्म का भी विकास होगा। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है, कि सामाजिक रीति-रिवाजों पर विचार करके हम यह सोचने एवं समझने का प्रयत्न करें, कि युग-युगान्तर से चली आ रही रूढ़ियों में कितनी बुराई आ गई है, और उसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

रीति-रिवाज :

आयुर्वेद शास्त्र का यह नियम है, कि शरीर में एक व्याधि के उत्पन्न होने और पनपने पर, वह अनेक व्याधियों को जन्म देती है। इसलिए चतुर वैद्य अन्य रोगों की चिकित्सा करने के पूर्व इस बात का पता लगाता है, कि मूल रोग क्या है ? मूल बीमारी को समझने के बाद वह उसे नष्ट करने के लिए दवा देता है। इसी प्रकार आज समाज रूपी शरीर में सैकड़ों-हजारों रोगों के कीटाणु प्रविष्ट हो गए हैं। जो रीति-रिवाज एक दिन समय की आवश्यकता के अनुसार प्रचलित हुए थे, परन्तु उनमें अब जीवन एवं चेतना नहीं रही, केवल निष्प्राण कंकाल मात्र रह गए हैं। जब तक इन निष्प्राण रूढ़ियों को समाप्त करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, उस दिशा में कदम नहीं उठाएँगे, तब तक व्याधि-ग्रस्त समाज तेजस्वी एवं स्वस्थ नहीं बन सकेगा। आज समाज का शरीर भयंकर व्याधियों से पीड़ित है यदि उस ओर ध्यान नहीं दिया, कुरूढ़ियों को नहीं तोड़ा, तो एक दिन यह रोग समाज को नष्ट कर देगा। इसलिए इसकी

तो धनवान शिक्षा की ओर लक्ष्य ही नहीं देते। यदि कभी कुछ ध्यान देते हैं, तो सेठानी जी यह कहकर अपने लाड़ले लाल को पढ़ाने से रोक देती है, कि क्या इसे नौकरी करनी है, जो पढ़ने के लिए आप परेशान कर रहे हैं। एक कवि ने कहा है—

श्रीमान् शिक्षा दें उन्हें, तो श्रीमती कहती वहीं।
घेरो न लल्ला को हमारे, नौकरी करनी नहीं॥
शिक्षे ! तुम्हारा नाश हो, तुम नौकरी के हित बनी।
लो मूर्खते ! जीती रहो, रक्षक तुम्हारे हैं धनी॥"

कवि ने व्यंग की भाषा में कहा है, कि अज्ञान के कारण पूंजीपति शिक्षा को केवल नौकरी का साधन समझते हैं। इसी कारण उनके जीवन का विकास नहीं हो पाया है। वास्तव में यह मान्यता भ्रम पूर्ण एवं अज्ञनता की द्योतक हैं। वास्तव में सच्ची शिक्षा वह है— जिससे व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो। भारतीय मनीषियों ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—जो व्यक्ति को वन्धन से मुक्त कर सके वही विद्या है—

"सा विद्या या विमुक्तये"

स्त्री-शिक्षा :

शिक्षा के अभाव में व्यक्ति रूढ़ियों, जड़-परम्पराओं एवं अंध-विश्वासों से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। और न कभी विकास के पथ पर आगे बढ़ सकता है, न कभी ऊपर उठ सकता है। मैं देखता हूँ कि बहनों में श्रद्धा-भक्ति, तप त्याग आदि बहुत है। परन्तु शिक्षा एवं विवेक की कमी के कारण उनमें अंध-विश्वास एवं रूढ़-परंपराएँ भी कम नहीं हैं। आज लड़कों को फिर भी थोड़ा-बहुत पढ़ाने की प्रवृत्ति शुरू हुई है, क्योंकि पढ़ाए बिना वह व्यवसाय भी तो नहीं कर सकता। परन्तु लकड़ियों को शिक्षा देने में अभी भी बहुत-से पुराण-

दंतकटाकट एवं तू-तू-मैं-मैं चलती रहती है, इसका कारण एक ही है, कि बहनों में शिक्षा एवं संस्कारों की कमी है। याद रखिए पढ़ी-लिखी लड़की जब तक आपके घर में रहेगी, कुल की शोभा को बढ़ाएगी और दूसरे घर में जाकर आपके नाम को रोशन करेगी।

जैन-परम्परा के इतिहास का अवलोकन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है, कि परिवार, समाज, राष्ट्र एवं धर्म की नींव रखने वाले प्रथम महापुरुष भगवान आदिनाथ ने अपनी दोनों लड़कियों—ब्राह्मी और सुन्दरी को पढ़ने और लिखने की कला सिखाई थी। ब्राह्मी लेखन कला में इतनी निपुण थी, कि लिपि का नामकरण ही ब्राह्मी-लिपि उसके नाम पर हुआ। यह उनकी सुशिक्षा एवं सम्यक्-संस्कारों का ही परिणाम है, कि जब भगवान ऋषभदेव का पुत्र बाहुबली साधना के पथ पर कदम रख कर भटक गया था, अहंभाव में जकड़ गया था, तब उसे अभिमान के हाथी से उतार कर साधना की समतल एवं विनम्र भूमि पर लाने का उपदेश देने वाली, उसके मन में विनम्र भाव को जागृत करने वाली ब्राह्मी और सुन्दरी ही थीं। जब रहनेमि राजीमति के सौन्दर्य को देखकर वासना एवं मोह के दल-दल में फंस गया, तब उसे साधना का सही पथ बताकर उसके जीवन को मोह के पंक में से निकालने वाली नारी राजीमति ही थी। अनेक वीर मृत्यु के भय से भयभीत होकर न्याय-पथ से मुड़ रहे थे, उन्हें न्याय, धर्म एवं कर्तव्य पालन की शिक्षा देकर उनमें वीरत्व की चेतना जगाने वाली क्षत्रिय रमणियों का उज्ज्वल गौरव आज भी इतिहास के पृष्ठों पर चमक रहा है। भगवान महावीर के समवशरण में आध्यात्मिक प्रश्न पूछ कर अपने ज्ञान की ज्योति को निखारने वाली श्राविका जयन्ती का जीवन भगवती सूत्र के पृष्ठों पर आज भी चमक रहा है, दमक रहा है। अद्वैतवाद के संस्थापक आचार्य शंकर और मीमांसा-दर्शन के महान विद्वान एवं प्रकाण्ड

पण्डित मण्डनमिश्र के मध्य में हुए शास्त्रार्थ में मध्यस्थ एवं निर्णायक का पद सुशोभित करने वाली मण्डनमिश्र की पत्नी एक विदुषी नारी थी। गणित के क्षेत्र में भी नारी ने महत्वपूर्ण काम किया है, लीलावती गणित भारतीय गणित-शास्त्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जिसका आविष्कार भारतीय नारी—लीलावती ने किया था। शिक्षा का ऐसा कोई क्षेत्र शेष नहीं रहा है, जिसमें नारी ने सफलता प्राप्त नहीं की हो। मेरा कहने का उद्देश्य यह है, कि आप अपनी सन्तान को योग्य बनाना चाहते हैं, परिवार में शान्ति का वातावरण चाहते हैं, समाज और राष्ट्र में प्रगति लाना चाहते हैं, तो लड़के और लड़की में भेद करना छोड़ दें। लड़के की तरह लड़की को भी आदर, स्नेह एवं प्रेम की दृष्टि से देखें, उसे शिक्षित बनाने का प्रयत्न करें। याद रखिए, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के जीवन को बदलने की एवं उसमें नये प्राणों का संचार करने की यदि शक्ति है तो वह नारी में है। सुशिक्षित एवं संस्कारित नारी अपना ही नहीं, अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र का काया-कल्प कर सकती है। इसलिए नारी-शिक्षा की ओर आपको अवश्य ध्यान देना चाहिए।

वृद्ध-विवाह :

गृहस्थ-जीवन में विवाह वासना को केन्द्रित एवं मर्यादित करने का एक रास्ता है। परन्तु जब यह वासना एवं अविवेक का साधन बन जाता है, तब जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर डालता है। विवाह के लिए अन्य बातों के पहले वर-वधू की वय समान होनी चाहिए। शास्त्रों में जहाँ-कहीं विवाह के सम्बन्ध में वर्णन आया है, वहाँ 'सरिसवया'—वर-वधू समान वय वाले थे। क्योंकि समान वय वाले दम्पति के दाम्पत्य-जीवन का स्वास्थ्य पर, विचारों पर एवं सन्तान पर अच्छा असर

पड़ता है। उनके रहन-सहन एवं विचार में भी समानता रहती है। परन्तु जब कभी वासना के व्यामोह में फँसकर वृद्ध व्यक्ति यौवन में कदम रखने वाली छोटी उम्र की लड़की से विवाह करता है, तो उससे लड़की का स्वास्थ्य भी बिगड़ता है, उसकी सन्तान भी निर्बल और बीमार होती है, तथा परिवार के व्यक्तियों के नैतिक जीवन पर भी बुरा असर होता है। ५०-६० वर्ष के बाद भी जब वह अपनी वासनाओं पर नियत्रण नहीं रख सकता और अपनी पुत्री या पौत्री जैसी लड़की को पत्नी बनाने में संकोच नहीं करता, तब उसकी सन्तान एवं परिजन भी वासना के रंग में रँग जाते हैं। और सबसे बुरा प्रभाव पड़ता है उसकी लड़कियों, पुत्र-वधुओं एवं अपनी पत्नी पर। यदि संयोग-वश उसकी पुत्र-वधु या पुत्री छोटी उम्र में विधवा हो जाती है, या थोड़े दिनों में उसकी आँख बन्द होते ही उसकी नव-यौवना पत्नी विधवा हो जाती है, तो विधवा विवाह निषेध के कारण वे पुनः विवाह नहीं कर सकतीं। अनेक वृद्ध अपनी विधवा पुत्री एवं पुत्र-वधु को ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश देते हैं, परन्तु जब वे स्वयं वृद्ध अवस्था में पहुँचने के बाद भी दूसरा, तीसरा, चौथा विवाह करके अपनी वासना को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं, तो उनके मन में विद्रोह की आग प्रज्वलित हुए बिना नहीं रहती, और साथ में उसके प्रति जो सम्मान था, वह भी समाप्त हो जाता है।

ऐसे विवाह प्रायः करके धनवानों में ही होते हैं। पूँजीपति वृद्ध, धन का लोभ देकर किसी गरीब की लड़की से विवाह कर लेता है। पैसे के अभाव में और धन के लोभ में आकर गरीब लड़की का बाप वृद्ध को भी अपनी लड़की देना स्वीकार कर लेता है, और आभूषणों की चमक-दमक को देखकर अबोध लड़की भी काम-लोलुप वृद्ध के जाल में फँस जाती है। इस प्रकार धन के नशे में एवं लोभ में आसक्त व्यक्ति लड़की के भविष्य को नहीं देख पाते। वास्तव में यह

विवाह व्यक्ति के साथ नहीं, धन एवं वासना के साथ होता है। जिस के दुष्परिणाम आज हमारे सामने हैं।

बाल-विवाह :

वृद्ध विवाह की तरह बाल-विवाह भी समाज के लिए घातक है। क्योंकि जब तक शरीर के सभी अंगों का भली-भाँति विकास नहीं होता, उसके पूर्व अपरिपक्व अवस्था में दाम्पत्य जीवन को स्वीकार करने से शरीर की शक्ति क्षीण हुए बिना नहीं रहती। याद रखिए यदि कमजोर व्यक्ति पर उसकी शक्ति से अधिक बोझा डाला जाए, तो उसके अवयव समय से पहले ही कार्य करना बन्द कर देंगे। इसलिए भारतीय-संस्कृति में एवं जैन-परम्परा में भी इस बात का ध्यान रखा जाता था कि जब तक शारीरिक शक्ति का पूरा विकास नहीं हो जाता, तब तक माता-पिता अपने लड़के-लड़की का विवाह नहीं करते थे। परन्तु मध्य युग में बाल-विवाहों का रिवाज बहुत बढ़ गया। इससे भारतीय युवकों के चेहरे पर तेज नहीं रहा, शरीर में शक्ति नहीं रही एवं मन में स्फूर्ति नहीं रही। अपरिपक्व अवस्था में शक्ति को क्षीण करना जीवन का नाश करना है। और अनेक रोगों एवं समस्याओं को जन्म देना है। बाल विवाहों के कारण स्त्री-पुरुषों एवं बच्चों में रोग बढ़े हैं, परिवार में जन-संख्या बढ़ी है और इसके कारण बेकारी एवं जीवन-निर्वाह का बोझ भी बढ़ा है। एक युग था, कि बड़ा परिवार पुण्यवानी का प्रतीक माना जाता था। परन्तु आज बड़ा परिवार, परिवार के लिए ही नहीं, समाज एवं राष्ट्र के लिए एक समस्या बन गया है. आज सरकार परिवार-नियोजन के द्वारा जन-संख्या घटाना चाहती है। परन्तु जब तक व्यक्ति बालक-बालिका को अविकसित वय में विवाह के बन्धन में बाँधने की प्रवृत्ति को एवं अमर्यादित जीवन को समाप्त नहीं करेगा,

तब तक वह पारिवारिक एवं शारीरिक सुख-शान्ति को बनाएँ नहीं रख सकता।

विधवा-समस्या :

बाल और वृद्ध-विवाह की अधिकता के कारण भारत में विधवाओं की संख्या बहुत बढ़ गई है। समाज की इन घातक परम्पराओं एवं प्रवृत्तियों की बलि-वेदी पर इन अबलाओं का बलिदान किया जा रहा है। पुरुषों की वासना, कामेच्छा एवं भयंकर भूलों का परिणाम बेचारी विधवाओं को भोगना पड़ रहा है। 'विधवा' शब्द सुनते ही आँखों के सामने एक करुणा की सजीव मूर्ति खड़ी हो जाती है। उनकी दुर्दशा एवं परिवार और समाज द्वारा उनके प्रति की जाने वाली उपेक्षा एवं तिरस्कार की वृत्ति आत्मा को कँपा देती है। उनके दारुण दुःख देखकर पत्थर हृदय भी रो उठता है, परन्तु आपका हृदय उनके दुःख से द्रवीभूत होता है या नहीं, यह आप ही जानें? यदि आपका हृदय पिघला होता, तो आप उनके दुःख के बोझ को हल्का करने का अवश्य ही प्रयत्न करते। गरीब एवं निराश्रित विधवाओं के भरण-पोषण के लिए कोई व्यवस्था करते एवं उस ओर सक्रिय कदम उठाते। परन्तु मैं देख रहा हूँ, कि अभी तक आपने उस ओर कदम नहीं उठाया। आप गायों की, बकरे-बकरियों की, कबूतरों की रक्षा के लिए गौ-शाला, पांजरापोल आदि की व्यवस्था करते हैं, परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है, कि इन अनाथ व्यक्तियों के लिए आपके मन में दया को कहीं अवकाश ही नहीं है।

आज विधवा-विवाह का प्रश्न नवयुवक एवं क्रान्तिकारी विचारक उठा रहे हैं, सरकार भी इसे प्रोत्साहन दे रही है। पुरुषों की अमर्यादित वासना एवं स्वच्छन्दवृति के कारण ही जो बाल-विधवाएँ हैं, उनके लिए यह समस्या बन गई है। जैसे स्त्री के लिए आपने

यह नियम वना दिया, कि वह दूसरा विवाह न करे, वैसे ही पुरुषों के लिए भी यह नियम वन जाए कि पत्नी के मरने पर वह दूसरा विवाह न करे, तो विधवा-विवाह के प्रश्न को उठने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। आप स्वयं ६० वर्ष के होने पर भी दो, तीन और चार वार विवाह कर सकते हैं, परन्तु एक छोटी उम्र की विधवा दुबारा विवाह नहीं कर सकती, इस असमानता के कारण ही यह प्रश्न सामने आया है। यदि पुरुष वर्ग पुनर्विवाह न करने के आदर्श को उपस्थित करे, तो आज तक पुरुषों ने नारी जाति पर जो अन्याय एवं अत्याचार किया है, उसका कुछ अंश में प्रायश्चित्त हो जाएगा। यदि आप समय के रहते सावधान नहीं हुए, तो यह अन्दर में धधकने वाली ज्वाला न जाने कब दावानल का रूप ले ले और उसमें सब-कुछ भस्म हो जाए। आप वहुत लम्बे समय से इनकी उपेक्षा करते रहे, जिसका परिणाम आप भोग रहे हैं। मेरा आपसे इतना ही कहना है, कि इनके जीवन को विकसित एवं व्यवस्थित करने के लिए सक्रिय कदम उठाएँ।

फिलूज-खर्च :

मैं देख रहा हूँ, कि आप प्रति वर्ष लाखों रुपए खर्च करते हैं। वैसे पैसा खर्च करने के लिए ही आप कमाते हैं। परन्तु आपको जहाँ खर्च करना चाहिए वहाँ तो आप एक नया पैसा भी खर्च नहीं करते, और जहाँ खर्च करने की आवश्यकता नहीं है, उपयोगिता नहीं है, वहाँ विना सोचे-समझे पैसे को पानी की तरह वहाते जा रहे हैं। विवाह-शादियों में, मृत्यु-भोज में, ऐशोआराम में, मुकदमों में एवं अन्य प्रदर्शन के कार्यों में झूठी शान बनाए रखने के लिए लाखों खर्च कर देते हैं। परन्तु जब शिक्षण-संस्थाओं, विधवाओं, अनाथ वालकों, साहित्य-प्रकाशन, धार्मिक प्रचार एवं अन्य सामाजिक उत्थान के

कार्यों के लिए खर्च करने का प्रसंग उपस्थित होता है, तब आपके हाथ काँपने लगते हैं। आपने धन तो पाया, परन्तु उसका सदुपयोग करना नहीं सीखा। वही पैसा सार्थक कहा जाता है, जो शुभ-कार्यों में लगता है। इसलिए आगम में कहा गया है, पुण्यानुबन्धी पुण्य से प्राप्त धन-सम्पत्ति का उपयोग सदा शुभ-कार्यों में होता है, और पापानुबन्धी पुण्य से प्राप्त धन का उपयोग अशुभ एवं अधर्म के कार्यों में होता है। जिस द्रव्य के आने पर शुभ कार्य करने की, दान देने की भावना जागृत होती है, वह पुण्यानुबंधी पुण्य से प्राप्त है, और जिसके आने पर मन में विषय-वासना, ऐशोआराम एवं प्रदर्शन के कार्यों में पैसा खर्च करने का विचार होता है, वह पापानुबंधी पुण्य से प्राप्त है। क्योंकि वह व्यक्ति को पाप की ओर ले जाता है।

आज जैन-समाज के पास पैसा बहुत है। परन्तु आपका पैसा विवाह-शादी, वस्त्राभूषण एवं अन्य आडम्बरों तथा प्रदर्शनों में खर्च हो जाता है। याद रखिए शरीर की शोभा आभूषणों से नहीं, त्याग से बढ़ती है। हाथ की शोभा सोने और हीरों के चमकते-दमकते कंकणों से नहीं, दान से है। भर्तृहरि ने कहा है—'करे श्लाघ्यस्त्यागः' —हाथ की शोभा दान से है। सन्त कबीर ने भी सीधी-सादी भाषा में बहुत सुन्दर बात कही है—

> **"हाड़ बढ़ा हरि भजन कर, द्रव्य बढ़ा कुछ देय।**
> **अक्ल बढ़ी उपकार कर, जीवन का फल येह ॥"**

याद रखिए, देने से कोष खाली नहीं होता, प्रत्युत बढ़ता है। जीवन में त्याग की भावना में अभिवृद्धि होती है, तभी व्यक्ति के मन में दान की भावना जागृत होती है। विक्टर ह्यूगो ने भी एक स्थान पर सुन्दर बात कही है—"ज्यों-ज्यों धन की थैली दान में खाली होती है, त्यों-त्यों दिल भरता है"—

"As the Purse is emptied, the heart is filled"

इसलिए सज्जनो ! मैं आपसे इतना ही कहना चाहता हूँ, कि आपको जो कुछ मिला है, उसे व्यर्थ के प्रदर्शनों एवं भोग-विलास में खर्च न करके उससे कुछ अच्छा कार्य करें। थैली में से पैसे निकाल कर दिल और दिमाग को गन्दगी एवं कचरे से न भरें, प्रत्युत शुभ विचारों, शुभ-आशीर्वादों से भरें।

मृत्यु-भोज :

विवाह-शादी की तरह मृत्यु-भोज में भी लोग अपने नाम का प्रदर्शन करने के लिए लाखों रुपये खर्च कर देते हैं। इससे मध्यम-वर्ग के सामने बहुत बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाती है। यदि वह अपने आत्मीय व्यक्ति की मृत्यु पर समाज को मृत्यु-भोज देता है, तो ऋण के भार से दब जाता है या सब कुछ बेचकर और अधिक गरीब बन जाता है। यदि मृत्यु-भोज नहीं करता है, तो समाज के व्यंग-बाणों से विंधकर मर जाता है।

आप सोचिए, जिसका आत्मीय व्यक्ति मर गया है, वह कितने गहरे शोक में निमग्न है। क्या अपने समाज के भाई को दुःख में देखकर भी उसकी स्थिति को नहीं समझते। मैं नहीं समझ पाया, कि जिस व्यक्ति का हृदय अपने आत्मीय व्यक्ति के वियोग में रो रहा है, वहाँ मिष्टान्न आपके गले के नीचे कैसे उतरते हैं, आपके मन में मिठाई खाने के विचार कैसे आते हैं ? एक ओर अपने पति की मृत्यु का आघात लगा है, दूसरी भविष्य की चिन्ता है, तीसरी बाल-बच्चों का उत्तरदायित्व एवं उनके जीवन को बनाने की चिन्ता सवार, इससे अधिक चिन्ता उसे समाज एवं जाति को मृत्यु भोज देने की करनी पड़ती है। एक जाति-भोज के कारण बाल-बच्चों का जीवन एवं उसका भविष्य अंधकारमय बन जाता है। क्योंकि भोजन

करने के बाद उसकी स्थिति को कोई नहीं पूछता। इस कुप्रथा ने अनेक परिवारों को बर्बाद कर दिया है। मैं तो सोचता हूँ, कि मृत्यु के प्रसंग पर मृत्यु-भोज माँगने वाले इन्सान नहीं हो सकते, उनके जीवन में मानवता नहीं रह सकती।

और भी अनेक कुरूढ़ियाँ समाज में हैं और कुछ नई कुरीतियाँ चल रही हैं। समाज के मध्यम वर्ग की स्थिति को समझकर एवं समय के रुख को परख कर जब तक आप रूढ़ियों एवं गलत परंपराओं को समाप्त नहीं करेंगे, तब तक समाज का विकास होना सम्भव नहीं है। अतः समाज की स्थिति को समझ कर चिकित्सक की दृष्टि से रोगों का उपचार करेंगे, तो समाज को नव-जीवन प्राप्त होगा। आप सब संगठित होकर नव-समाज का निर्माण करें। आप सर्वांग सुन्दर समाज व्यवस्था करने में सफल बनें यही मंगल-कामना है।

संघटन का महत्व :

आपने वीणा को देखा है, और उसकी मधुर झंकार को सुना भी है। परन्तु क्या कभी इस बात पर विचार भी किया है, कि उसमें मधुर स्वर कब और कैसे झंकृत होता है ? याद रखिए—यदि वीणा का एक तार भी ढीला या अत्यधिक कसा हुआ होगा, तो उसमें मधुर ध्वनि नहीं निकलेगी। परन्तु उसमें बेढंगा और अस्त-व्यस्त स्वर निकलेगा। और वीणा के तीनों तार जब एक साथ संघटित होंगे, एक ही ढंग से कसे हुए होंगे—न अति शिथिल होंगे और न अति कसे हुए, तब ही उनमें से मधुर संगीत की ध्वनि प्रस्फुटित होगी। वीणा से मधुर ध्वनि प्राप्त करने के लिए वीणा के तारों में एकता होनी चाहिए। उसी प्रकार जब तक मन, वचन

और कर्म में एकरूपता नहीं आएगी, तब तक साधना में जो आनन्द आना चाहिए वह आ नहीं सकता। एकता के अभाव में आनन्द की, सुख की एवं शान्ति की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती। परम-आनन्द को प्राप्त करने के लिए मन, वचन एवं कर्म में एकत्व एवं संघटन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता, कि हमारा मन एक ओर दौड़ लगाता रहे, वचन दूसरी तरफ भागता रहे, और कर्म का मोड़ तीसरी ओर हो, और हमारी साधना सफल हो जाए।

संघटन की आवश्यकता :

आध्यात्मिक-साधना में ही नहीं, सर्वत्र एकता की आवश्यकता है, संघटन की आवश्यकता है। उसी के माध्यम से सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। जहाँ एकता है, संघटन है, मेल-जोल है, वहीं सिद्धि है, सफलता है। यदि परिवार, जाति, धर्म समाज, राष्ट्र एवं विश्व में एकता एवं संघटन है, तो वह सब तरह से सम्पन्न एवं सुखी बन सकता है। जिस परिवार, जाति, समाज, धर्म, पंथ एवं राष्ट्र में एकता का अभाव है, वह कभी भी पनप नहीं सकता, ऊपर उठ नहीं सकता, और शान्ति की अनुभूति कर नहीं सकता। सन्त तुलसीदास जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"जहाँ सम्प है—एकता है, वहाँ सम्पत्ति है, सम्पन्नता है, और जहाँ कुसम्प है, वहाँ विपत्ति है, दुःख-दैन्य है—

> **"जहाँ सम्प तँह सम्पति नाना,**
> **जहाँ कुसम्प तँह विपत निदाना ॥"**

यह मेरा अपना अनुभव है, कि जिस परिवार में प्रेम-स्नेह है, एक-वाक्यता है, एक-रूपता है, वह परिवार सब तरह सम्पन्न, सुखी एवं उन्नत परिलक्षित होता है। इसके विपरीत जिस परिवार में

परस्पर इर्ष्या, द्वेष संघर्ष एवं लड़ाई-झगड़ा चलता है, वह सब तरह से गिरा हुआ दिखाई देता है। पाश्चात्य विचारक श्री जान डिकिन्सन (Jhon dickinsen) ने भी अपने विचारों में इसी बात को अभिव्यक्त किया है—"संघटन में हो हमारा अस्तित्व कायम रहता है, और विभाजन में हमारा पतन होता है—

"By uniting we stand, by diriding we fall"

प्रेम, स्नेह एवं संघटन के अभाव में परिवार का ही नहीं, जाति, धर्म, पंथ. समाज एवं राष्ट्रों का भी पतन एवं विनाश हो जाता है। इसलिए यह कहावत नितान्त सत्य है - "प्रेम ही परमेश्वर है।" जिसके हृदय में प्रेम का सागर लहर-लहर कर लहराता है, उसी व्यक्ति, उसी परिवार, उसी समाज एवं उसी राष्ट्र में ईश्वर का निवास रहता है और जहाँ द्वेष एवं इर्ष्या की आग प्रज्वलित रहती है, वहाँ सदा-सर्वदा शैतान रहता है। तथागत बुद्ध ने अपने अन्तिम उपदेश में स्पष्ट शब्दों में कहा था – हे भिक्षुओ ! जब तक तुम्हारे अन्दर एकता, संगठन एवं प्रेम रहेगा, वहाँ तक यह संघ उत्तरोत्तर बढ़ता रहेगा। कोई भी शक्ति संघ का कुछ नहीं बिगाड़ सकती।" परन्तु तथागत बुद्ध के बाद जब बौद्ध आचार्यों में परस्पर संघर्ष बढ़ा, वाद-विवाद बढ़े तो वह गिरता ही गया, और धीरे-धीरे वह भारत से लुप्त हो गया। सचमुच में संघटन ही उन्नति का मूल है, और फूट एवं संघर्ष ही पतन की जड़ है। एक विचारक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"कलियुग में संघटन, एकता ही शक्ति है—

"संघे शक्ति कलौ युगे।"

अंग्रेजी में एक कहावत है—"संघटन ही शक्ति है"

"Union is strength,"

संघं-भगवओ :

नन्दी सूत्र में संघ को बहुत महत्व दिया है। आगमकार ने संघ-स्तुति करते हुए संघ को भगवान कहा है। तीर्थंकर जो कि तीर्थ के अथवा संघ के संस्थापक होते हैं, परन्तु जब वे समवशरण में बिराजते हैं, तब 'णमो तित्थस्स' तीर्थ को नमस्कार हो, कहते हैं।[1] भगवती सूत्र में प्रारंभ में 'णमो तित्थस्स' कहकर भगवान ने तीर्थ को नमस्कार किया है। इससे स्पष्ट होता है, कि संघ का कितना महत्व है। आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है—तीर्थंकर पहले तीर्थ—संघ को प्रणाम करके फिर उपदेश देते हैं।[2] परन्तु आपको इस बात को ध्यान में रखना चाहिए, कि एक सूत्र में गूंथे हुए साधु- साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप संघ को ही भगवान कहा है, परन्तु विभिन्न सम्प्रदायों एवं पंथों की परम्पराओं में बंटे हुए, बिखरे हुए साधकों को नहीं। जहाँ एकता है, संघटन है, वहाँ ईश्वरत्व है, इसलिए उसे भगवान कहा गया है। और उसको नमस्कार किया गया है।

संघ-व्यवस्था में व्यवहार महत्वपूर्ण है। केवली भी अपने छद्मस्थ गुरु को कर्त्तव्य समझकर तब तक वन्दन करते हैं, जब तक गुरु उनकी सर्वज्ञता से अनभिज्ञ रहते है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है -

ववहारोऽपि हु बलवं, जं छउमत्थंपि वंदइ अरहा।
जा होइ अणाभिण्णो, जाणंतो धम्मयं एयं॥

—आवश्यक निर्युक्ति, १२३

---

१. नन्दी सूत्र, संघ स्तुति,४—१९.

२. तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्दे णं।

—आवश्यक निर्युक्ति, ५६७.

संघटन की शक्ति :

एकता में गजब की ताकत होती है। अलग-अलग रहा हुआ तृण कुछ नहीं कर सकता। एक हवा का झोंका उसे उठा कर कहीं का कहीं फैंक देता है। जो चाहे वह तुरन्त उसे तोड़-मरोड़ कर फैंक देता है। परन्तु जब अनेक तृण मिलकर रस्सी का रूप धारण कर लेते हैं, तो उससे उन्मत्त हाथी बांधा जा सकता है छोटी-छोटी चींटियें जब सम्मिलित होकर विषधर पर टूट पड़ती हैं, तो उसके शरीर को चलनी की तरह छेदकर समाप्त कर देती हैं। इधर-उधर बिखरने वाली वाष्प जब यन्त्र में बंद कर लिया जाता है, तो उससे रेल का इंजन एवं बड़े-बड़े कारखाने चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार साधारण वस्तुएँ संघटित कर ली जाती है, तो उनसे बहुत बड़ा काम निकाल लिया जाता है। इस सम्बन्ध में पञ्चतन्त्र में एक कथा आती है—

एक जंगल में कबूतरों का एक झुण्ड रहता था। इनके वृद्ध नायक का नाम चित्रग्रीव था। एक बार आकाश में उड़ते-उड़ते निर्जन जंगल में चावल के दाने बिखरे हुए देखे। इन्हें देखकर कबूतरों की इच्छा चावल चुगने की हुई। परन्तु उनके नायक चित्रग्रीव ने कहा—"इस निर्जन जंगल में चावल कहाँ से आए ? मुझे इसके पीछे हमें फंसाने का जाल रचा गया है, ऐसा लगता है। अतः थोड़ी देर प्रतीक्षा करो, तब तक मैं जांच कर लूं।" परन्तु एक युवक कबूतर को उसकी बात अच्छी नहीं लगी। उसने कहा—"बूढ़ों के वचन आपत्ति के समय मानने चाहिए। यदि हमेशा उनकी बात पर चलते रहे, तो हम भूखे मर जाएँगे।" अन्य कबूतरों ने भी उसकी बात का समर्थन किया। और सब नीचे उतर आए। चित्रग्रीव जानता था, कि यहाँ संकट उपस्थित हो सकता है. इसलिए संकट के समय

उन सवके साथ रहना उचित समझ कर वह भी आकाश से नीचे उतर आया । ज्यों कवुतरों ने चावल चुगने के लिए अपने पैर एवं पंजे जमीन पर रखे, कि उनके पंजे जाल में फंस गए। अव वे उड़ नहीं सके। तव सव कवूतर उद्दण्ड एवं उद्धत स्वभाव के कवूतर को उपालंभ देने लगे। तव चित्रग्रीव ने कहा—देखो, जो होना था, वह हो गया। अव किसी को दोष देने से कोई लाभ नहीं होने वाला है। यदि जैसा मै कहूँ, वैसा तुम सव करो, तो मैं तुम को इस विपत्ति से वचने का उपाय वता सकता हूँ।

सव ने एक स्वर से कहा—हम आप की वात को स्वीकार करेंगे। पहले आप की वात को नहीं माना, उसका फल इस समय भोग रहे हैं। अव दुवारा ऐसी भयंकर भूल नहीं करेंगे।

चित्रग्रीव ने शान्त स्वर में कहा—यदि हम सव एक-मत हो जाएँ, तो इस वन्धन से छुटकारा पा सकते हैं। यदि एक भी कवूतर अलग रहा, तो संकट वना ही रहेगा। अतः हमें अव यह करना है, कि हम सव एक साथ अपनी पूरी शक्ति लगाकर उड़ जाएँ।

सवने वैसा ही किया, और पूरी शक्ति के साथ एक साथ उड़ान भरते ही जाल भी उनके साथ ऊपर उठ आया। वे सव जाल को लेकर उड़ने लगे। जाल फैलाने वाला शिकारी कवूतरों के वहुत वड़े झुण्ड को जाल में आवद्ध देखकर खुश हो रहा था, और उन्हें पकड़ने के लिए झाड़ियों की ओट में से निकलकर आ ही रहा था। जव उसने उन्हें जाल के साथ उड़ते हुए देखा, तो वह दुःखी मन से सोचने लगा, कि मैं तो इन्हें फंसाना-चाहता था, पर ये तो मेरा जाल लेकर ही उड़े जा रहे हैं। शायद आगे चलकर उनमें फूट पड़ जाए, और वे नीचे आ गिरें। इस आशा से वह उनके पीछे भागने लगा। परन्तु उनकी उड़ान की रफ्तार के सामने वह दौड़

मिल गया। जयचंद का आमंत्रण पाकर उसकी सहायता के बहाने भारत पर चढ़ आया, और जयचन्द के सहयोग से पृथ्वीराज को पराजित करके गिरफ्तार कर लिया। जयचन्द चाहता था, कि अब मैं दिल्ली का बादशाह बन जाऊँगा। परन्तु हुआ कुछ और ही। धोखेबाज गौरी ने थोड़े दिन के बाद जयचन्द को भी हरा दिया। इस प्रकार उत्तर भारत पर मुसलमानों के पैर जमने लगे, और धीरे-धीरे वे सारे भारत में फैल गए। परन्तु उसके बाद भी आपस की फूट समाप्त नहीं हुई। जिसका परिणाम यह आया, कि अंग्रेजों ने मुसलिम सम्राटों को पराजित करके अपना शासन भारत पर थोप दिया, और दो-सौ वर्ष तक वे शासन करते रहे। गांधी जी एवं भारत के अन्य नेताओं ने देश को जागृत किया, और संगठित रूप से सत्याग्रह करके देश को स्वतन्त्र बनाया। परन्तु ब्रिटिश शासन के कारण भारत में एक जटिल समस्या खड़ी हो गई—हिन्दू-मुस्लिम की; जिसके कारण भारत दो भागों में विभक्त हो गया—हिन्दुस्तान और पाकिस्तान। पाकिस्तान बन जाने के बावजूद भी इस समस्या का अन्त नहीं आया। आज भी इस साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण कभी-कभी संघर्ष उभर आता है। इसका अन्त हुए बिना देश में शान्ति की सरिता बह नहीं सकती।

कौमी-एकता :

इस साम्प्रदायिक फूट एवं वैमनस्य के कटु फल भोगने के बाद भी हमारी आँखे नहीं खुल रही हैं, यह देश का दुर्भाग्य है। दोनों कौमों को चाहिए, कि वे साम्प्रदायिक भेद को भुलाकर राष्ट्रीयता के नाते संगठित होकर रहना सीखें। दोनों को अपने-अपने हित को समझकर परस्पर प्रेम बढ़ाना चाहिए। किसी तीसरे पक्ष को, तीसरी शक्ति को बीच में लाना या एक-दूसरे को जानी दुश्मन समझकर

जगत में फूट बुरी,
घर की फूट से बिनसाई, सुवरन पुरी ॥
फूट हीं सों सब कौरव नासे, भारत-युद्ध भयोरी ।
जो को घाटो या भारत में, अबलों माही पुर्‌योरी ।"

महाभारत-युद्ध का कारण भी कौरव-पाण्डव की फूट ही रही है, जिसमें भारत की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी । जैन-आगमों में कोणिक और उनके भाईयों के मध्य में हार-हाथी के लिए होने वाले भयंकर संग्राम का वर्णन आया है । उस संग्राम में दो दिन में लाखों व्यक्तियों का जो भयंकर संहार हुआ, उस का कारण भी भाई-भाई की फूट रही है । और इसका परिणाम यह आया, कि जिस हार-हाथी के लिए इतना वड़ा युद्ध लड़ा गया, वह दोनों में से किसी भी पक्ष के हाथ में नहीं आया ।

भारत की परतन्त्रता :

भारत का इतिहास स्पष्ट वता रहा है, कि भारत में जो फूट एवं वैमनस्य की भावना थी, उसी ने भारत को गुलाम वनाया । सम्राट पृथ्वीराज चौहान के समय में भारत पूर्णतः स्वतन्त्र था । परन्तु पृथ्वीराज और जयचन्द दोनों भाईयों में उत्पन्न हुए वैमनस्य ने स्वतन्त्र भारत को परतन्त्र वना दिया । पृथ्वीराज चौहान वहुत वड़ा योद्धा था । उसने मुहम्मद गौरी को अनेक बार परास्त किया, और उसे कई वार वन्दी भी बना लिया । परन्तु अपनी उदारता के कारण क्षमा-मांगने पर उसे छोड़ भी दिया । एक वार जव थानेश्वर और करनाल के रास्ते में तराइन गाँव के पास युद्ध में घायल होकर घोड़े से गिर पड़ा, तव उसके साथियों ने वड़ी कठिनता से उसके प्राण वचाये । उसके वाद वह पृथ्वीराज को पराजित करने का अवसर ढूंढता रहा । उसी समय पृथ्वीराज और जयचन्द का विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया । मुहम्मद गौरी को यह अच्छा अवसर

मिल गया। जयचंद का आमंत्रण पाकर उसकी सहायता के वहाने भारत पर चढ़ आया, और जयचन्द के सहयोग से पृथ्वीराज को पराजित करके गिरफ्तार कर लिया। जयचन्द चाहता था, कि अव मैं दिल्ली का वादशाह वन जाऊँगा। परन्तु हुआ कुछ और ही। धोखेवाज गौरी ने थोड़े दिन के वाद जयचन्द को भी हरा दिया। इस प्रकार उत्तर भारत पर मुसलमानों के पैर जमने लगे, और धीरे-धीरे वे सारे भारत में फैल गए। परन्तु उसके वाद भी आपस की फूट समाप्त नहीं हुई। जिसका परिणाम यह आया, कि अंग्रेजों ने मुसलिम सम्राटों को पराजित करके अपना शासन भारत पर थोप दिया, और दो-सौ वर्ष तक वे शासन करते रहे। गांधी जी एवं भारत के अन्य नेताओं ने देश को जागृत किया, और संगठित रूप से सत्याग्रह करके देश को स्वतन्त्र वनाया। परन्तु ब्रिटिश शासन के कारण भारत में एक जटिल समस्या खड़ी हो गई—हिन्दू-मुस्लिम की, जिसके कारण भारत दो भागों में विभक्त हो गया—हिन्दुस्तान और पाकिस्तान। पाकिस्तान वन जाने के वावजूद भी इस समस्या का अन्त नहीं आया। आज भी इस साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण कभी-कभी संघर्ष उभर आता है। इसका अन्त हुए विना देश में शान्ति की सरिता वह नहीं सकती।

कौमी-एकता :

इस साम्प्रदायिक फूट एवं वैमनस्य के कटु फल भोगने के वाद भी हमारी आँखे नहीं खुल रही हैं, यह देश का दुर्भाग्य है। दोनों कौमों को चाहिए, कि वे साम्प्रदायिक भेद को भुलाकर राष्ट्रीयता के नाते संगठित होकर रहना सीखें। दोनों को अपने-अपने हित को समझकर परस्पर प्रेम वढ़ाना चाहिए। किसी तीसरे पक्ष को, तीसरी शक्ति को वीच में लाना या एक-दूसरे को जानी दुश्मन समझकर

व्यवहार करना राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए खतरनाक हो सकता है। दोनों को अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाकर प्रेम से रहना चाहिए और देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना भाई समझ कर उसके साथ अपनत्व का व्यवहार करना चाहिए। एक गुजराती कवि ने विशाल दृष्टि से कितना सुन्दर कहा है—

> **"अमारुं ते तमारुं छे, तमारुं ते अमारुं छे।**
> **अमारा ने तमारा मां, प्रभु नो नाम प्यारो छे॥**
> **अमे जगदीश ने भजिए, तने अल्ला उचारो छे।**
> **अमे श्रीराम ने रटिए, तमे रहिमान धारो छे॥**
> **अरे रे! धर्म ना लीधे, गणो जुदाई क्यों प्यारा।**
> **कुसंपे, क्लेश क्यों मांडो, अरे ओ! बन्धुओं मारा।"**

तीसरी शक्ति से—भले ही वह पाकिस्तान या अमरीका कोई भी क्यों न हो, यह आशा की जाए, कि वह हमारा न्याय कर देगी, यह दुराशा मात्र है। इसलिए सर्व-प्रथम कौमी-एकता को बढ़ाने वाला वातावरण पैदा करना चाहिए। दोनों में सौमनस्य, प्रेम एवं स्नेह की भावना को दृढ़ बनाने के लिए परस्पर में विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। विश्वास के बिना प्रेम बढ़ नहीं सकता, एकता में स्थायित्व आ नहीं सकता। और उसके बिना देश का विकास संभव नहीं है।

धर्म और समाज का संघटन :

परिवार, समाज एवं राष्ट्र की तरह धर्म के क्षेत्र में भी फूट के कारण हमने अपने गौरव को खो दिया है। एक दिन वह था, कि जब जैन-धर्म के अनुयायियों की संख्या चालीस करोड़ कही जाती थी, परन्तु आज घटते-घटते वह बीस-पच्चीस लाख तक रह गई है और वह भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक दायरों में विभक्त है। इसलिए

जैन-समाज का प्रति-दिन विकास नहीं, ह्रास ही हो रहा है। जरा आँख खोलकर सोचिए, जो बौद्ध-धर्म भारत से विलुप्त हो गया था, उसके अनुयायी फिर से भारत में वढ़ रहे हैं। उनकी लाखों की संख्या हो गई है। अन्य धार्मिक सम्प्रदाय एवं पंथ के लोग बढ़ते जा रहे हैं। परन्तु जैनों की संख्या में अभिवृद्धि नहीं, कमी हो रही है। इसका कारण एक ही है, कि जैन-परम्परा में संघठन की कमी रही है। श्रमण भगवान महावीर के समय जैन-समाज एक ही अनुशासन में अपने जीवन को विकसित कर रहा था, साधना के पथ पर वढ़ रहा था, परन्तु आचार्य भद्रबाहु के वाद में आपस में विचार भेद वढ़ने लगा, और संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर के दो भागों में विभक्त हो गया। उसके वाद श्वेताम्बर समाज श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरह पंथ इन तीन भागों में विभक्त हो गया। यह विभाजन की परंपरा यहीं समाप्त नहीं हुई। मूर्ति-पूजक समाज में ८४ गच्छ—उपसम्प्रदायें वन गई, स्थानकवासी समाज में २२ उप-सम्प्रदायें वनीं और तेरहपंथ में से वीर-पंथ की एक शाखा फूट निकली। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने से भिन्न सम्प्रदाय के विचारकों, साधुओं एवं श्रावकों को अपने से निम्न श्रेणी का, शिथिलाचारी एवं मिथ्यादृष्टि कहकर उनका अपमान एवं तिरस्कार करने लगा, और अपने आपको ही शुद्ध आचार-निष्ठ एवं सम्यक् दृष्टि मानने लगा। इसका परिणाम यह हुआ, कि उसकी शक्ति संघ को गिराने एवं समाप्त करने लगी, आप रात-दिन झगड़ों में उलझते रहे, जिससे शक्ति क्षीण होती गई, और आज भी क्षीण होती जा रही है।

मित्रो, आज का युग अपनाने का है, तिरस्कार करने का नहीं। श्रमण भगवान महावीर ने किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार एवं अप-

मान करना नहीं सिखाया। व्यक्ति अपने आप में महत्वपूर्ण है। वह अनन्त-चतुष्टय से युक्त है। यदि आपको तिरस्कार करना है, तो दुर्गुणों का तिरस्कार करो, परन्तु व्यक्ति का अपमान मत करो। भले ही, कोई दिगम्बर हो, श्वेताम्बर हो, स्थानकवासी हो या तेहर-पंथी हो तो क्या, जैनत्व की दृष्टि से सब आपके भाई हैं। जब तक हमारे मन में यह भावना उद्‌बुद्ध नहीं होगी कि हम सबसे पहले जैन हैं, उसके बाद और कुछ, और जैन के कारण सभी जैन हमारे अपने हैं, पराए नहीं, तब तक जैन-समाज का विकास हो नहीं सकेगा।

जैन-धर्म कितना उदार, विराट एवं व्यापक धर्म है, कि सब धर्मों के संघर्षों को समाप्त करने के लिए स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद की स्थापना की। अनेकान्त समन्वय की कुञ्जी है, और संघर्षो एवं विवादों को समाप्त करने तथा हल करने का एक प्रशस्त मार्ग है। इस सिद्धान्त को समझकर आचारण में साकार रूप दे दिया जाए, तो मैं समझता हूँ, कि फिर दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी एवं तेरहपंथ के संघर्ष को कभी भी उभरने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। परन्तु, आश्चर्य एवं दुःख इस बात का है, कि अनेकान्त को मानने वाले, स्याद्वाद के उपासक स्वयं परस्पर लड़ रहे हैं। अनेकान्त का गीत गाने वाले अपने-अपने पंथ, मत एवं सम्प्रदाय के दुराग्रहों का पोषण करने के लिए अनेकान्त की राह छोड़कर एकान्तवाद को पकड़ बैठे हैं। वस्तुतः अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वे भगवान महावीर एवं उनके सिद्धान्त अनेकान्तवाद का अपमान कर रहे हैं, और उपहास कर रहे हैं। मित्रो! अब मतभेदों को त्याग कर सगठित बनने के लिए कुछ कार्य करना चाहिए। एक कवि ने कहा है—

"ए जैन कौम जाग अब तो हुआ सवेरा,
घर घर में दिवाली है, तेरे घर में अंधेरा॥

ये हिन्दू, आर्य; पारसी, इस्लाम-ईसाई,
सबने तो अपने धर्म की, जड़ खूब जमाइ,
आपस में लड़ते हैं, जैन करते बखेड़ा।।
हैं पोरवाल, ओसवाल और श्रीमाली,
रखते हो भेद-भाव, रीत कहाँ से निकाली,
एक वृक्ष के ही फूल को, क्यों हाय बिखेरा।।

आपकी सम्प्रदायों में परस्पर में चल रहे द्वेष, ईर्ष्या एवं वैमनस्य को देखकर कवि का हृदय रो पड़ा। दुनिया आज तेजी से आगे बढ़ रही है। मनुष्य चांद की धरती पर कदम रख रहा है। वह मंगल के धरातल को छूने के लिए उतावला हो रहा है और इधर हम हैं, कि भगवान की मूर्ति को शृंगार कराना या नहीं कराना, लंगोटीयुक्त मूर्ति का वन्दन करना या नग्नमूर्ति का वन्दन करना, मूर्ति की पूजा करना या नहीं करना, मुख वस्त्रिका बाँधना या नहीं बाँधना, लाउडस्पीकर में बोलना या नहीं बोलना इन नगण्य प्रश्नों में ही उलझे पड़े हैं, और वर्षों से लड़-झगड़ कर भी न तो समाधन कर पाए और न समन्वय ही स्थापित कर सके। जब कि सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करते हैं, तो जैन-धर्म के मूल सिद्धान्तों में बहुत-बड़ा अन्तर नहीं है। सभी जैन २४ तीर्थंकर एवं नवकार-मंत्र को अपना देव एवं मंत्र मानते हैं। सभी षड्-द्रव्य, नव-तत्व, चवदह गुण-स्थान, पाँच-महाव्रत, पाँच-समिति, तीन-गुप्ति, पाँच-अणुव्रत, तीन-गुणव्रत, चार-शिक्षा-व्रत, स्याद्वाद, अनेकान्त, नय-वाद, सप्तभंगी आदि को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। सिद्धान्त में निकटता होने के बावजूद भी एक-दूसरे से इतने दूर हैं, जितने कि नदी के दोनों किनारे। इसका कारण एक ही है, कि हम सिद्धान्तों को एक ओर फेंक कर, केवल बाहर के चिन्हों को पकड़ कर बैठ गए

हैं, और उन्हीं को धर्म एवं सिद्धान्त मान बैठे हैं। याद रखिए, जब तक हम इन बाहरी बातों के व्यामोह से चिपके रहेंगे, तब तक आपस में मिल नहीं सकेंगे। हम भले ही अपने-अपने दायरे में रहें, परन्तु परस्पर मिलना एवं विचार-विमर्श करना तो शुरु करें। परस्पर एक दूसरे से प्रेम-स्नेह रखें। परन्तु मैं देखता हूँ, कि आज तो हम एक-दूसरे की जड़-काटने में लगे हैं।

पशु-पक्षियों को देखिए, उनमें कितनी एकता है। एक कौआ संकट के समय कांव-कांव की आवाज लगाता है, तो सैकड़ों कौए एकत्रित हो जाते हैं। एकबार राजा भोज जंगल में घूमने गए। पण्डित धनपाल उनके साथ थे। उन्होंने घूमते-घूमते देखा—एक मृग ऊपर आकाश की ओर उछल रहा है, और वराह जमीन खोद रहा है। राजा ने धनपाल से इसका कारण पूछा, तो पण्डित ने कहा—राजन्! आपत्ति के समय मृग एवं वराह अपने सजातीय बन्धुओं के निकट पहुँचना चाहते हैं। आकाश में स्थित चन्द्रमा में मृग है और वराह-अवतार नीचे पाताल-लोक में है। अतः मृग उछल कर चन्द्र-लोक के मृग से और वराह जमीन खोदकर अपने अवतार से मिलना चाहता है। कहने का तात्पर्य यह है, कि संकट के समय में संकट से बचने के लिए पशु भी अपने सजातीय की शरण लेना चाहता है। परन्तु जैनों में अभी तक इतना प्रेम-स्नेह भी परिलक्षित नहीं होता।

याद रखिए, जब विद्युत के नेगेटिव और पोजिटिव दोनों तार परस्पर मिलते हैं, सारा भव्य-भवन विद्युत के बल्बों की रोशनी से जगमगा उठता है। विद्युत के तारों का स्पर्श पाते ही धड़धड़ाती मशीनें एवं इलेक्ट्रिक ट्रेनें चलने लगती हैं। इस प्रकार संघठन से बहुत से काम आसानी से हो जाते हैं। आप जिस भव्य-भवन के

संस्कृति :

संस्कृति का सीधा-सा अर्थ है—जीवन को संस्कारित करना, मन को मांजना, विचारों को परिमार्जित करना। कुछ विचारक सभ्यता एवं कला आदि के लिए भी संस्कृति शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि सभ्यता एवं कलाओं का अवतरण विचारों के अनुरूप होता है। व्यक्ति एवं समाज के संस्कारित एवं असंस्कारित विचारों की परिणति के अनुसार सभ्यता एवं कला के रूप में परिवर्तन होता रहता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि चाहे जिस युग को ले लीजिए, उस युग की सभ्यता एवं कला में उस युग के व्यक्तियों की व्यक्तिगत एवं समाजगत विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है और विचारों के परिवर्तन के साथ उसमें भी परिवर्तन होता हुआ परिलक्षित होता है। इसलिए सभ्यता एवं कला में विचारों की प्रधानता है। विचारों के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के अनुरूप सभ्यता एव कला में विकास और ह्रास होता है। यदि व्यक्ति के विचार सुसंस्कृत है, तो सभ्यता एवं कला में निखार आए बिना नहीं रहेगा। सभ्य एवं कलाकार कहलाने वाला व्यक्ति सुसंस्कृत हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। परन्तु सुसंस्कृत व्यक्ति सभ्य एवं कलाकार होगा ही। इससे यह स्पष्ट होता है कि विचारों को संस्कारित करना, उन पर पड़े हुए विकारों के आवरण को दूर करना, वासनाओं, कामनाओं एवं आकांक्षाओं तरंगों से उद्वेलित मन को तरंगित नहीं होने देना, तथा उसे उक्त तरंगों से रहित बनना संस्कृति है।

१९ स्याद्वाद

दुनिया में पदार्थ उतने के उतने हैं, लेकिन विज्ञान के अन्वेषण और आविष्कार के कारण उन पदार्थों के अन्दर रहे हुए अनेक गुणों का विश्व को ज्ञान होता रहा है। इस महायुद्ध के पूर्णाहुतिकाल के पहले अणु बम एक अज्ञात तत्व था, वह आज प्रकट हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है, कि वस्तु मात्र में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। यह जो वस्तु का स्वरूप देखते हैं, वही उसका पूरा स्वरूप नहीं है, उसके अतिरिक्त भी वस्तु में अनेक धर्म विद्यमान हैं, विज्ञान का यह सिद्धान्त और जैन-दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

स्याद्वाद का स्वरूप :

स्याद्वाद की आधार-शिला पर खड़ा हुआ जैन धर्म यह कहता है, कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु, दीपक से लगाकर आकाश तक की प्रत्येक वस्तु, में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। वस्तु के धर्मों का विभिन्न दृष्टि-कोणों से जब तक अवलोकन नहीं किया जाए वहां तक वस्तु का सत्य स्वरूप नहीं समझा जा सकता है। विभिन्न दृष्टि-कोणों से वस्तु का अवलोकन करना ही स्याद्वाद है। तात्पर्य यह है कि एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न वास्तविक धर्मों का सापेक्ष रूप, स्वीकार करने का नाम स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद है। जैसे एक ही पुरुष अपने भिन्न-भिन्न सम्बन्धी जनों की अपेक्षा से पिता पुत्र और भ्राता आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है। इसी प्रकार अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में अनेक धर्मों की सत्ता प्रमाणित होती है। इस अपेक्षा भेद की उपेक्षा अथवा अवहेलना करने से वस्तु का स्वरूप अपूर्ण ही रह जाता है।

वस्तु के किसी एक ही धर्म को लेकर उसका निरूपण किया जाए, और उसे सर्वांश सत्य समझा जाए तो यह विचार भ्रान्त ही

ठहरेगा। उदाहरणार्थ किसी एक पुरुष—व्यक्ति को लीजिये। उसे कोई पिता, कोई पुत्र, कोई काका, कोई मामा, कोई भाई कहकर पुकारता है। एक पुरुष की इन भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से प्रतीत होता है, कि उसमें पितृत्व, पुत्रत्व, पितृव्यत्व, मातुलत्व और भ्रातृत्व आदि अनेक धर्मों की सत्ता मौजूद है। अब यदि उसमें रहे हुए केवल पितृत्व धर्म की ही ओर दृष्टि रख कर उसे सर्वथा पिता ही मान बैठें तब तो बड़ा अनर्थ होगा। वह हर एक का पिता ही सिद्ध होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह पिता भी है, और पुत्र भी। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है, और अपने पिता की अपेक्षा वह पुत्र कहलाएगा। इस तरह भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से इन सभी उक्त संज्ञाओं का उसमें निर्देश किया जा सकता है। जैसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, आदि विरोधी धर्मों का पाया जाना अनुभव सिद्ध है। उसी तरह हरेक पदार्थ में अपेक्षा भेद से अनेक विरोधी धर्मों की सत्ता प्रमाण सिद्ध है।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप एक समय में एक ही शब्द द्वारा सम्पूर्णतया नहीं कहा जा सकता। इसी तरह वस्तु में रहने वाले अनन्त धर्मों में से किसी भी धर्म का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। अतः केवल एक ही दृष्टि विन्दु से पदार्थ का अवलोकन न करते हुए भिन्न-भिन्न दृष्टि-विन्दुओं से ही उसका पर्यालोचन करना न्यायसंगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप है। यही स्याद्वाद का तात्पर्य है।

एकान्तवाद विवादों का कारण है :

स्याद्वाद के इस अनुपम तत्व को नहीं समझने के कारण विश्व में विविध धर्मों, दर्शनों, मतों, पंथों और सम्प्रदायों में विवाद खड़े होते हैं। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य-मिथ्या वतलाते

हैं। वे अपने ही माने हुए धर्म या मत को सम्पूर्ण सत्य मान कर दूसरे धर्मों का निषेध करते हैं। इस तरह संसार में धर्म के नाम पर विवाद उपस्थित होते हैं। इसका कारण केवल एकान्तवाद ही है। एकान्तवाद वास्तविकता से बहुत दूर होने के साथ ही अपूर्ण होता है। इतना ही नहीं वह अपूर्णता में पूर्णता का मिथ्या आरोप करता है। इस बात को सरलता से हृदयंगम कराने के लिए एक दृष्टान्त उपयोगी है। वह यह है—

कुछ जन्म के अन्धों ने हाथी का नाम सुना। यह हाथी कैसा होता है, इस बात का उन्हें ज्ञान नहीं था। किसी व्यक्ति ने उनके सामने हाथी लाकर खड़ा कर दिया। वे लोग हाथी के अलग-अलग अवयव छूने लगे। कोई हाथी के पाँव को हाथ लगाता है। कोई सूंड़ पकड़ता है। कोई कान छूता है। कोई पेट टटोलता है। कोई पूंछ पकड़ता है। इस प्रकार अपने-अपने हाथ में आये हुए हाथी के अवयव को ही वे हाथी समझने लगे। जिसने हाथी के पैर पकड़े थे, वह कहने लगा, कि हाथी स्तम्भ के समान होता है। सूंड़ पकड़ने वाला बोला, कि हाथी मूसल के समान होता है। कान टटोलने वाला कहता है, कि हाथी सूप के समान होता है। पेट पर हाथ फेरने वाला बोला, कि हाथी कोठी के समान होता है। इसी तरह पूंछ पकड़ने वाला बोला, कि हाथी रस्से के समान होता है। इस प्रकार वे सभी अन्धे अपनी-अपनी बात को पूर्ण सत्य समझकर परस्पर विवाद करने लगे, और एक दूसरे को मिथ्या बतलाने लगे। ठीक यही हाल एकान्तवादी दर्शनों, धर्मों और मतों का है।

उक्त जन्मान्धों का कथन एक-एक अंश में सत्य अवश्य है, पर जब वे अपनी ही धुन में एक-दूसरे की बात काटने लगते हैं, तब उन सबका कथन असत्य हो जाता है। हाथी को भली-भांति जानने

वाला सूझता आदमी जानता है, कि उन्होंने सत्य के एक-एक अंश को ही ग्रहण किया है, और शेष अंश का अपलाप कर दिया है। अगर ये लोग अपनी बात को ठीक समझते हुए अन्य को भी सच्चा समझें तो उन्हें मिथ्या का शिकार न होना पड़े। अगर सभी अन्धे अपनी-अपनी एक देशीय कल्पना को एकत्र करके हाथी का स्वरूप समझें, तो उन्हें हाथी की सर्वाङ्ग सम्पूर्ण आकृति का ज्ञान हो सकता है। परन्तु अज्ञान और कदाग्रह के कारण वे एक दूसरे को मिथ्या कहकर स्वयं झूठ के पात्र वन रहे हैं। ठीक इसी तरह विश्व में प्रचलित धर्मों के विषय में समझना चाहिए। सत्य सर्वत्र एक है, अखण्ड है और व्यापक है। उसके सम्वन्ध में किसी तरह के विवाद को अवकाश ही नहीं है। तदपि धर्म के नाम पर विविध मान्यताएँ प्रचलित हैं, और विश्व में धार्मिक विवादों का एक वड़ा भारी प्रश्न उपस्थित है। इस धार्मिक विवाद का कारण केवल अज्ञान और कदाग्रह है।

संसार के विभिन्न पन्थ और सम्प्रदाय सम्पूर्ण सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन ज्ञान की अपूर्णता के कारण वे वस्तु के एक अंश को ही प्राप्त कर सकते हैं। सत्य के एक अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेने से झगड़े होते हैं। सभी धर्म वाले अपनी-अपनी धुन में मस्त होकर दूसरे को झूठा ठहराते हैं। इस कारण वे स्वयं झूठे ठहरते हैं। सव एकत्रित होकर न्याय बुद्धि से पक्षपात छोड़कर धर्म का निर्णय करें, तो धर्म का सच्चा स्वरूप मालूम हो सकता है।

जैन-दर्शन का स्याद्वाद विश्व के समस्त धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और दर्शनों का समन्वय कर देता है। वह विश्व को यह शिक्षा देता है, कि जगत के सभी धर्म और दर्शन किसी अपेक्षा से सत्य के ही

अंश है। परन्तु जब एक अंश दूसरे अंश से न मिलकर उनका तिरस्कार करता है, तब वह विकृत हो जाता है, और सत्य मिटकर सत्याभास हो जाता है। जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब वह मान्यता उस मत के अनुयायियों के लिये काष्ट की नौका न रहकर पत्थर की बन जाती है। यह एकान्तवाद की स्थिति संसार के महासागर में डुबा देने वाली हो जाती है। परन्तु जो मत, पंथ या दर्शन दूसरे सत्य के अंशों को पचाने की क्षमता रखता है वह उदार और संगठित बनकर पूर्ण सत्य के मार्ग पर प्रगति करता है।

स्याद्वाद यह सिखलाता है, कि तुम वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखो। तुम अपनी दृष्टि को सत्य समझो, लेकिन जो दृष्टिकोण तुम्हें अपना विरोधी प्रतीत होता है, उसकी सत्यता को भी समझने की कोशिश करो। उसे मिथ्या कहकर, यदि उसको अस्वीकार करोगे तो तुम स्वयं मिथ्यावादी हो जाओगे। सम्पूर्ण वस्तु तत्व का अवलोकन करने के लिये सापेक्ष दृष्टि होनी चाहिये। सापेक्ष दृष्टि का तात्पर्य है, कि जो वस्तु एक दृष्टिकोण से जिस रूप में प्रतीत हुई हो उसे ही पूर्ण न मानकर दूसरे दृष्टि कोणों के लिए भी उसमें अवकाश होना चाहिये। इसी सापेक्षवाद को पारिभाषिक शब्दों में नय वाद कहते हैं।

नय विचार :

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर जो यथार्थ अभिप्राय होता है, वह नय हैं। एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से उत्पन्न होने वाले विभिन्न अभिप्राय नय कहे जाते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के सम्बन्धों में अनन्त प्रकार के अभिप्राय और विचार हो सकते हैं, अतएव नय भी अनन्त हैं। सन्मति तर्क में सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्यवर सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया ।

जितने वचन के प्रकार हैं, उतने ही नयवाद हैं ।

नयों के सम्बन्ध में यह सदा स्मरण रखना चाहिए, कि ये नय अपनी-अपनी मर्यादा में ही सत्य होते हैं । जब ये अपनी मर्यादा से बाहर होकर एक दूसरे के प्रतिषेधक बन जाते हैं, तो ये असत्य हो जाते हैं और अमान्य ठहरते हैं । जो नय अपने विषय का ग्राहक होकर भी अन्य का निषेध नहीं करता है, वही नय कहलाता है और जो नय दूसरे नय का निषेध करके प्रवृत्त होता है, वह दुर्नय या नयाभास है । कहा भी है ।

"अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥"

प्रमाण वस्तु के अनेकरूपों को ग्रहण करता है । नय वस्तु के एक अंश को विषय करता है । नय दूसरे धर्मों की अपेक्षा रखता है । जो दूसरे धर्मों का निराकरण करता है वह दुर्नय है । नय वाद सापेक्ष (आंशिक) सत्य है ।

इस तत्व को सुबोधतया समझाने के लिए यह दृष्टान्त उपयोगी होगा । विशाल समुद्र की जलराशि में से थोड़ा-सा (घड़ा भर) पानी लीजिये । उस घड़े भर पानी को न तो समुद्र कह सकते हैं, और न असमुद्र ही कह सकते हैं । अगर उस घड़े भर पानी को ही समुद्र कह दिया जाए, तो समुद्र का शेष जल असमुद्र हो जाएगा अथवा अनेक समुद्र मानने पड़ेंगे । ये दोनों प्रत्यक्ष-बाधित हैं । इसलिये समुद्र के घड़े भर पानी को हम समुद्र नहीं कह सकते । इसी तरह उसे असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता है । इसका कारण यह है कि वह जल समुद्र का ही है । अगर समुद्र के घड़े भर पानी में अल्प भी समुद्रता नहीं, तो वह सब पानी में भी नहीं हो सकती है । क्योंकि

जो धर्म अंश में नहीं है वह समुदाय में भी नहीं हो सकता। जब समुद्र के घड़े भर पानी में समुद्रता नहीं है, तो क्या कारण है कि वह शेष जल में मानी जाए। समुद्र के घड़े भर पानी में भी समुद्रता है ही, अन्यथा वह समुद्र का जल नहीं कहा जा सकता है। इससे यह तात्पर्य निकला कि समुद्र का घड़ा भर पानी न तो समुद्र ही है, और न असमुद्र ही है, लेकिन समुद्र का अंश है। ठीक इसी तरह नय द्वारा गृहीत वस्तु स्वरूप न तो पूर्ण वस्तु ही है और न अवस्तु ही है, लेकिन वस्तु का अंश है। कहा भी है—

"नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि।
नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशो कथ्यते बुधैः॥"

जैसे समुद्र के घड़े-भर पानी को न तो समुद्र और न असमुद्र कह सकते हैं, लेकिन समुद्र का अंश कहते हैं। उसी तरह नय द्वारा गृहीत वस्तु न तो पूर्ण वस्तु ही है, और न अवस्तु ही, लेकिन वस्तु का अंश मात्र है।

यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है, कि नय वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है, अतएव यह आंशिक और आपेक्षिक सत्य है। इस आपेक्षिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मानकर जो वस्तु के अन्य अंशों का प्रलाप करता है वह नयाभास हो जाता है। वादिदेव सूरि ने कहा है—

"स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी नयाभासः"

जो नय अपने गृहीत वस्तु के अंश को ही सत्य मानकर शेष अंश का निषेध करता है, वह नयाभास है।

विश्व में जितने एकान्तवादी मत या पंथ हैं, वे अपने ही माने हुए तत्व को पूर्ण सत्य मानकर शेष मतों का तिरस्कार करते हैं, अतएव वे सभी नयाभास के उदाहरण बनते हैं और अमान्य ठहरते

हैं। विश्व के सभी प्रचलित धर्म, दर्शन या पंथ सत्य के अंश हैं। लेकिन उसके अनुयायी उसी अंश को संपूर्ण मान लेते हैं, अतएव वह सत्यांश भी असत्य हो जाता है। उदाहरण के लिए बौद्ध दर्शन वस्तु के अनित्य धर्म को ही स्थान देकर नित्य धर्म का तिरस्कार करता है। और वेदान्त-दर्शन वस्तु के नित्य धर्म को स्वीकार करता है, और अनित्यता का अपलाप करता है। दोनों दर्शन अपने पक्ष के आग्रही हैं और एक दूसरे को मिथ्या कहते हैं, लेकिन वास्तविक दृष्टि से दोनों ही अपूर्ण हैं। वस्तु में नित्य और अनित्य दोनों धर्म पाये जाते हैं, अतएव वस्तु नित्यानित्य है। यह कहकर जैन-दर्शन का नयवाद उक्त दोनों विरोधी दृष्टिकोणों का समन्वय करता है।

जैन-दर्शन का नयवाद द्वैत, अद्वैत, निश्चय, व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पुरुषार्थ आदि वादों का बड़ी कुशलता के साथ समन्वय करता है। जैन-दर्शन, विभिन्न विचारों के पीछे रहे हुए विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं का अवलोकन करके समन्वय के सिद्धान्त के द्वारा परस्पर के मनोमालिन्य को दूर करके सबमें एकता स्थापित करता है। नयवाद विचार दृष्टि के लिए अंजन का कार्य करता है जिससे दृष्टि का वैषम्य दूर हो जाता है। नयवाद व्यक्ति की दृष्टि को विशाल और हृदय को उदार बनाकर मैत्री भाव का मार्ग सरल बना देता है। समस्त कलहों का शमन करके जीवन-विकास के मार्ग को सरल बनाने में नयवाद प्रधान और समर्थ अंग है। नयवाद के विमल जल से दृष्टि का प्रक्षालन होने से राग-द्वेष का प्रचार बन्द हो जाता है। इसी तरह आध्यात्मिक और व्यावहारिक उभय दृष्टि से नयवाद विश्वहितकारी सिद्धांत है। श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

> "नयास्तव स्यात्पदलाञ्छनाःस्युः रसोपविद्धा इवलोहधातवः।
> भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥"

हे जिनेन्द्र देव ! जिस प्रकार विविध रसों द्वारा सुसंस्कारित लोह, स्वर्णादि धातु, अभीष्ट पौष्टिकता और स्वास्थ्य प्रदान करती हैं, इसीतरह "स्यात्" पद से अंकित आपके नय अभीष्ट फल के प्रदाता हैं। अतएव हितैषी आर्य-पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

इसी तरह स्याद्वाद की समन्वय शक्ति को प्रदर्शित करते हुए प्रखर तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर ने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकास्तोत्र के चतुर्थ द्वात्रिंशिका के पन्द्रहवें श्लोक में कहा है—

"उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥"

हे नाथ ! जैसे सभी नदियां समुद्र में आकर सम्मिलित होती हैं, इसी तरह विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन में सम्मिलित हो जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों में समुद्र नहीं दिखाई देता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न दर्शनों में आप नहीं दिखाई देते। तदपि सर्व-दर्शन, समुद्र में नदियों के समान आपके शासन में उपस्थित हो जाते हैं।

स्याद्वाद के समन्वय तत्त्व की मीमांसा कर चुकने पर अब यह बताना आवश्यक है, कि पदार्थ अनन्त धर्मात्मक कैसे हैं? उसमें नित्य और अनित्य, सत्-असत्, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि विरुद्ध धर्म कैसे पाए जाते हैं?

पदार्थों का व्यापक स्वरूप :

विश्व के पदार्थों का भली-भांति अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है, कि पदार्थ मात्र उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य से युक्त है। तत्वार्थाधिगम सूत्र में भी उमास्वाति ने कहा है—

"उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्"

पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति वाला है।

जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसका नाश होता है, और जो ध्रुव रहता है, वह पदार्थ है। जो उत्पन्न नहीं होता, नष्ट नहीं होता, और ध्रुव नहीं रहता, वह पदार्थ ही नहीं है, यथा आकाश-कमल। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह आशंका की जा सकती है, कि जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, वह भला ध्रुव कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान यह है, कि उत्पत्ति और विनाश बिना ध्रुवता के नहीं हो सकते, और ध्रुवता बिना उत्पत्ति और विनाश के स्वतंत्र नहीं रह सकती। जहाँ हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करते हैं, वहाँ पर उसकी स्थिरता का भी अविकल रूप से भान होता है,। जहाँ ध्रुवता का भान होता है, वहाँ कथञ्चित् उत्पत्ति और विनाश अवश्य प्रतीत होते हैं। उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य यह त्रिपुटी एक दूसरे के अभाव में नहीं रहती। इस त्रिपुटी में से कोई भी स्वतन्त्र रूप से नहीं पाया जा सकता है। ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। उदाहरण के लिए एक सुवर्ण पिण्ड को ही लीजिए—

प्रथम सुवर्ण पिण्ड को गलाकर उसका कड़ा बना लिया गया। कड़े का ध्वंस करके उसका मुकुट तैयार किया गया। यहाँ पर स्वर्ण पिण्ड के विनाश से कड़े की उत्पत्ति और कड़े के ध्वंस से मुकुट का उत्पन्न होना देखा जाता है। परन्तु इस उत्पत्ति विनाश के सिलसिले में मूल वस्तु सुवर्ण की सत्ता बराबर मौजूद है। स्वर्ण की पिण्ड दशा के विनाश और कड़े की उत्पत्ति दशा में भी स्वर्ण की सत्ता मौजूद है, एवं कड़े के विनाश और मुकुट के उत्पाद काल में भी स्वर्ण बराबर विद्यमान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के आकार विशेष का होता है, न कि मूल वस्तु का। मूल वस्तु तो लाखों परिवर्तन होने पर भी अपनी स्वरूप-स्थिरता से च्युत

नहीं होती। कड़ा कुण्डलादि स्वर्ण के आकार विशेष हैं, इन आकार विशेषों का ही उत्पन्न और विनाश होना देखा जाता है, इनका मूल तत्व स्वर्ण उत्पत्ति और विनाश दोनों से अलग है। इस उदाहरण से यह प्रतीत हुआ, कि पदार्थ में उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीनों ही धर्म स्वभाव-सिद्ध हैं। किसी भी वस्तु का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता। वस्तु के किसी आकृति विशेष के विनाश से यह नहीं समझ लेना चाहिए, कि वह वस्तु सर्वथा नष्ट हो गयी। आकृति के बदलने मात्र से किसी का सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे बाल जिनदत्त, बालावस्था को छोड़कर युवा होता है, और युवावस्था को छोड़कर वृद्ध होता है, इससे जिनदत्त का नाश नहीं कहा जा सकता है। जैसे सर्प फणावस्था को छोड़कर सरल होता है, तो इस आकृति के परिवर्तन से उसका नाश होना नहीं माना जाता है। इसी तरह आकृति के बदलने से वस्तु का नाश नहीं हो जाता है। इसी तरह कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन नहीं उत्पन्न होती है। अतः जगत के सारे ही पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थितिशील हैं, यह बात भली-भाँति प्रमाणित हो जाती है।

उत्पाद और व्यय को 'पर्याय' और ध्रौव्य को 'द्रव्य' के नाम से कहा जाता है। इस तरह वस्तु का स्वरूप द्रव्य-पर्यायात्मक है। द्रव्य स्वरूप नित्य, और पर्याय स्वरूप अनित्य है। कहा भी है—

"द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः
पर्यायात्मना सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते वा।"

द्रव्य रूप से सभी पदार्थ नित्य हैं, और पर्याय की अपेक्षा से सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और नष्ट होते हैं, अतएव अनित्य हैं। इस तरह सापेक्ष दृष्टि से एक ही वस्तु में नित्यानित्यत्व आदि

विरुद्ध धर्मों का अविरोध व्यवस्थापन करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद है।

समर्थ विद्वान हरिभद्र सूरि ने पदार्थों को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को एक और भी युक्ति द्वारा प्रमाणित किया है। उन्होंने लिखा है—

"घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥"

कल्पना करिये, कि तीन व्यक्ति एक साथ किसी सुनार की दुकान पर गए। उनमें से एक को स्वर्ण-घट की, दूसरे को मुकुट की और तीसरे को केवल स्वर्ण की आवश्यकता है। वहाँ जाकर वे देखते हैं, कि सुनार सोने के बने हुए घड़े को तोड़कर उसका मुकुट बना रहा है। सुनार के इस कार्य को देख कर उन तीनों ही मनुष्यों के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव पैदा हुए। जिसे स्वर्ण-घट की आवश्यकता थी उसे शोक हुआ, जिसे मुकुट की आवश्यकता थी वह प्रसन्न हुआ और जिसे केवल स्वर्ण की ही आवश्यकता थी उसे न शोक हुआ और न हर्ष ही। वह अपने मध्यस्थ भाव में ही रहा। यहाँ पर प्रश्न होता है, कि इस प्रकार का भाव-भेद क्यों? अगर वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक न हो, तो इस प्रकार के भेद-भाव की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती है। घट प्राप्ति की इच्छा से आने वाले पुरुष को घट के विनाश से शोक, और मुकुटार्थी पुरुष को मुकुट की उत्पत्ति से हर्ष, और स्वर्णार्थी को न हर्ष और न शोक ही हुआ। इससे यह प्रतीत होता है, कि घट के विनाश-काल में ही मुकुट उत्पन्न हो रहा है, और दोनों ही अवस्था में स्वर्ण द्रव्य स्थित है, तभी तो उन तीनों को क्रमशः शोक, हर्ष और मध्यस्थ भाव हुआ। यदि घट के विनाश-काल में मुकुट की उत्पत्ति न मानी

जाए, तो घटार्थी पुरुष को शोक, और मुकुटार्थी को हर्ष का होना असंभव हो जाता। एवं घट-मुकुटादि स्वर्ण-पर्यायों में स्वर्ण रूप कोई द्रव्य न माना जाए, तो स्वर्णार्थी पुरुष के मध्यस्थ भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु सुनार के इस एक ही व्यापार से शोक, प्रमोद और माध्यस्थ तीनों प्रकार के भाव देखे जाते हैं। ये निर्निमित्तक नहीं हो सकते इसीलिए वस्तु के स्वरूप को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त ही मानना चाहिए।

एक और लौकिक उदाहरण से पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है—

> "पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
> अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम्॥"

जिस पुरुष को केवल दुग्ध ग्रहण का नियम है, वह दही नहीं खाता। जिसको दही-ग्रहण का नियम है, वह दुग्ध का ग्रहण नहीं करता। परन्तु जिस व्यक्ति ने गो-रस का त्याग कर दिया हो वह न दूध ही खाता है, और न दही ही। इस व्यावहारिक नियम से दुग्ध का विनाश, दधि की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता ये तीनों ही तत्व प्रमाणित होते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है—

> "उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः।
> गोरसत्वात् स्थिरं जानन्, स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः।"

दूध जब दही रूप में परिणमता है, तब दूध का विनाश और दधि का उत्पाद होता है, परन्तु गोरस द्रव्य स्थिर रहता है। ऐसी अवस्था में कौन स्याद्वाद का निषेध कर सकता है!

वस्तु नित्यानित्य है :

पदार्थों के व्यापक स्वरूप में यह भलीभाँति प्रमाणित कर दिया गया है, कि पदार्थ मात्र उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है। इस कथन

कर हार वन जाता है। इस तरह स्वर्ण द्रव्य के आकार-पर्याय में उत्पाद-विनाश होता रहता है। उसकी पर्याय बदलती रहती है, लेकिन स्वर्ण द्रव्य का ध्वंस कदापि नहीं होता है। इसीतरह मिट्टी का घट वन जाता है, घट फूटकर कपाल (ठीकरी) वन जाते हैं, लेकिन मिट्टी कायम रहती है, उसके मूल रूप का कभी विध्वंस नहीं होता है। पर्यायों की परिणति होती है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है, अतएव पदार्थ को पर्याय की अपेक्षा से अनित्य मानना चाहिए। द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है, क्योंकि विभिन्न पर्यायों में (कटक, कुण्डलादि में स्वर्ण, और घट आदि में मिट्टी) द्रव्य का *अनुगत रूप से प्रत्यक्ष भान हो रहा है। यह वस्तु का नित्यानित्य* रूप ही वास्तविक है।

उक्त रीति से ही सामान्य-विशेप, सद्-असत्, वाच्य-अवाच्य और भेद-अभेद की विचारणा में भी पदार्थ उभय रूप ही हैं। जैसा कि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने अन्ययोगव्यवच्छेदक द्वात्रिंशिका में कहा है—

> "स्यान्नाशिनित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।
> विपश्चितां नाथ! निपीततत्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम्॥

पदार्थ कथञ्चित् अनित्य और कथञ्चित् नित्य हैं। कथञ्चित् सामान्य रूप और कथञ्चित् विशेष रूप है। कथञ्चित् वाच्य है और कथञ्चित् अवक्तव्य है। कथञ्चित् सत् हैं और कथञ्चित् असद् रूप हैं। हे विद्वानों के नाथ! ये सब आपके तत्वामृत के पान से निकले हुए उद्गार हैं।

इस विवेचन का सारांश यह है कि जैन-दर्शन को वस्तु का एकान्त रूप अभिमत नहीं है, परन्तु उसकी दृष्टि में वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है—अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्व संविदाम्।

आक्षेप परिहार :

अनेकान्तवाद के सुसंगत सिद्धान्त के रहस्य को भली-भाँति न समझने के कारण तथा उसकी युक्ति-युक्त दार्शनिक एवं व्यावहारिक दृष्टि को ग्रहण न करने के कारण जैन-दर्शन के प्रतिद्वन्द्वी वेदान्त के आचार्य शंकर ने तथा अन्य विद्वानों ने स्याद्वाद सिद्धान्त पर अनुचित आक्षेप किये हैं, और इसे अनिश्चिततवाद, संशयवाद, और उन्मत्त प्रलाप तक कह डाला है। परन्तु शंकराचार्यादि ने इसके खंडन के लिए लेखनी उठाकर सचमुच जैन-दर्शन के प्रति अन्याय किया है। अगर वे जैन-दर्शन को स्याद्वाद का जो रूप अभिमत है, उसे समझने के बाद खण्डन करते तब तो युक्तिसंगत था, परन्तु उन्होंने जिस स्याद्वाद का खण्डन किया है वह स्याद्वाद का स्वरूप जैन-दर्शन नहीं मानता है। शंकराचार्य ने शंकर भाष्य में स्याद्वाद के विरुद्ध यह लिखा है।

> "नह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत् सदसत्वादिविरुद्ध-
> धर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् ।"

"शीत और उष्ण की भांति एक धर्मी में परस्पर विरोधी सत्व और असत्व आदि धर्मों का एक काल में समावेश नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शीतलता और उष्णता ये दो विरुद्ध धर्म एक काल में एक जगह पर नहीं रह सकते, इसी तरह सत्व और असत्व का भी एक काल में एक स्थान पर रहना नहीं बन सकता। इसलिये जैनों का सिद्धान्त ठीक नहीं है।"

उक्त भाष्य के अन्दर शंकराचार्य ने जो शंका की है, वही प्रायः सभी स्याद्वाद के विरोधियों की मुख्य आशंका और आक्षेप है। उनका कहना है कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे? जो अनित्य है वह नित्य कैसे? जो सत् है, वह असत् नहीं हो सकता। जो एक है, वह अनेक नहीं हो सकता। जो सामान्य रूप है, वह विशेष रूप नहीं

हो सकता। जो भिन्न है, उसे अभिन्न कैसे कहा जा सकता है? ये विरोधी धर्म एक जगह कैसे रह सकते हैं? यही स्याद्वाद पर मुख्य आक्षेप किया गया है।

इस प्रकार का आक्षेप करने वालों ने जैन-धर्म के स्याद्वाद के स्वरूप को उसके वास्तविक रूप में नहीं पहचाना। वे स्याद्वाद का यही रूप समझते रहे, कि परस्पर विरोधी धर्मों का एक स्थान पर स्वीकार करने का नाम स्याद्वाद है। परन्तु क्यों? और कैसे? इस बात पर किसी ने लक्ष्य ही नहीं दिया। यही कारण है, कि वे स्याद्वाद के गूढ़ तत्व को नहीं समझ पाए। स्याद्वाद का अर्थ 'परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक स्थान में विधान करना' नहीं है, परन्तु अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अपेक्षाकृत भेद से जो जो धर्म रहे हुए हैं, उनको उसी अपेक्षा से वस्तु में स्वीकार करने की पद्धति को जैन-दर्शन अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के नाम से उल्लेख करता है। जैन-दर्शन का स्याद्वाद यह नहीं कहता है, कि पदार्थ जिस अपेक्षा से नित्य है, सत् है, भिन्न है, उसी अपेक्षा से वह अनित्य है, असत् है और अभिन्न है। जैन विद्वानों ने इस भ्रम को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में दूर करने का प्रयत्न किया। जैन-दर्शन अगर एक ही अपेक्षा से नित्य-अनित्य सद्-असत्, भिन्न अभिन्न आदि कहता तो विरोध दोष आता, लेकिन जैन-दर्शन भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्मों की सत्ता स्वीकार करता है, इससे उसमें विरोध की गंध नहीं हो सकती।

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व और पितृत्व उभय धर्म जैन धर्म स्वीकार करता है। लेकिन वह एक ही अपेक्षा से नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। वह व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। इस प्रकार उसमें पितृत्व और पुत्रत्व दोनों धर्म अविरोध रूप से पाए जाते हैं, इसमें विरोध

को अवकाश ही कहां है ? विरोध तो तव होता जव उसे उसके पिता की अपेक्षा से भी पिता और पुत्र की अपेक्षा से भी पिता कहा जाता। अथवा अपने पुत्र की अपेक्षा से भी पुत्र कहा जाता। एक ही अपेक्षा से पिता-पुत्र कहा जाता, तो अवश्य विरोधी कथन होता, लेकिन विभिन्न अपेक्षा से जव विभिन्न धर्मों का कथन किया जाता है, तव विरोध नहीं होता है। अपेक्षा भेद से विरोधी धर्मों के स्वीकार में विरोध नहीं होता है। जैसे 'यज्ञदत्त छोटा भी है और बड़ा भी है' इस स्थल में देवदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त में छोटापन, और विष्णुदत्त की अपेक्षा वड़प्पन देखा जाता है। एक ही यज्ञदत्त व्यक्ति में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व ये दोनों विरोधी धर्म जैसे अपेक्षा भेद से विद्यमान हैं, इसी तरह अपेक्षा भेद से नित्यानित्यत्व, सत्व-असत्व, एकत्व-अनेकत्व, सामान्य-विशेष आदि विरोधी धर्म भी अविरोध रूप से एकत्र रह सकते हैं। इसमें विरोध की कोई आशंका नहीं रहती।

जैन-दर्शन जिस रूप से वस्तु में सत्व मानता है, उसी रूप में उसमें असत्व नहीं मानता है, इसलिए विरोध की शंका नहीं की जा सकती। वह स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा वस्तु में सत्व और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से असत्व मानता है। इसलिये अपेक्षा भेद से सत्व-असत्व दोनों ही वस्तु में अविरोध रूप से रहते हैं। इसी तरह द्रव्यापेक्षा से वस्तु में नित्यत्व और पर्याय-अपेक्षा से अनित्यत्व भी अविरुद्धतया रह सकता है। इस अपेक्षा भेद से एकत्व-अनेकत्व आदि समस्त विरोधी धर्मों की सत्ता पदार्थ में अविरोध रूप से प्रमाणित होती है।

आधुनिक विज्ञान के आचार्यों और प्राध्यापकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अपेक्षावाद (The doctrine of Relativity) से ही वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप से जाना जा सकता है। इस पर से यह

सिद्ध होता है, कि स्याद्वाद का सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सत्य है, और इस सिद्धान्त का उपदेष्टा जैन-धर्म, विश्व-धर्म और वैज्ञानिक धर्म है।

स्याद्वाद का विषय अति गहन है। ऐसे गहन विषय का संक्षेप में पूरा निरूपण नहीं हो सकता है। तदपि जैन-धर्म के इस सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप द्वारा संसार प्रगति के पथ पर प्रयाण कर सकता है। यह सिद्धान्त जगत-व्यवहार की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त में समन्वय शक्ति अनुपम है। यह विश्व के समस्त दर्शनों, धर्मों और विवादों का बड़ी कुशलता से सम-

अभी आपने शास्त्र रूप में संगृहीत प्रभु महावीर की अमर वाणी का श्रवण किया है। आपका और हमारा कितना भारी सौभाग्य है कि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी महापुरुषों के अनुभव द्वारा लिखे हुए शास्त्रों को श्रवण कर सकने का हमें स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। दीर्घ तपश्चर्या और कठिन साधना के फल स्वरूप उन महात्माओं ने जिस परम तत्व का साक्षात्कार किया, उसे उन्होंने विश्वकल्याण की उदार भावना से प्रेरित होकर संसार के सामने प्रवचन रूप में उपस्थित कर दिया। महापुरुषों के अनुभवों के साररूप शास्त्र हमारे मार्गदर्शक हैं। ये शास्त्र हमें कल्याण का मार्ग बता रहे हैं। ये शास्त्र हमें चेतावनी दे रहे हैं, कि हे कल्याण पथ के पथिको! तुम्हें सावधानी पूर्वक इस मार्ग पर चलना चाहिए, और अगर इस मार्ग पर

नहीं चलोगे, तो तुम्हारा कल्याण होना असंभव है। ये शास्त्र हमें कल्याण मार्ग में सावधान करने के लिए चेतावनी दे रहे हैं, जिनके कान हैं वे ज्ञानियों की चेतावनी को सुनें। अगर नहीं सुनेंगे तो फिर पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ेगा। शास्त्रकारों का हम पर बड़ा भारी उपकार है, कि उन्होंने जीवन के अँधेरे रास्ते को तय करने के लिए हमें शास्त्र रूप दीपक प्रदान किया है, जिसके प्रकाश में हम सरलता के साथ अपने लक्ष्य को पहुँच सकते हैं।

शास्त्रकारों ने जीवन के कल्याण के लिए जिन उपायों को प्रदर्शित किया है, उनमें ब्रह्मचर्य की प्रधानता है। जीवन विकास के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को संसार के सभी धर्माचार्यों, महर्षियों और महापुरुषों ने स्वीकृत की है।

ब्रह्मचर्य की महिमा :

ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। सभी धर्मों में ब्रह्मचर्य को अग्रस्थान दिया गया है। जैन शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य का उन्मुक्त कंठ से यशोगान किया है। ब्रह्मचर्य में ऐसी दिव्यशक्ति प्रकट हो जाती है कि देवता भी उसे नमस्कार करते हैं। कहा है—

> "देव दाणव गन्धव्वा, जक्ख-रक्खस्स किन्नरा।
> बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति ते।।"

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि देवता भी कठिन ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाले ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं।

अखण्ड ब्रह्मचारी में ब्रह्माण्ड को हिला देने वाली शक्ति होती है। वह आकाश और पाताल को एक कर सकता है। दुनिया में कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसे वह सिद्ध न कर सके। ब्रह्मचारी में ऐसी अद्भुत ताकत होती है, कि दुनिया की अन्य सभी ताकतें

उसके सामने पानी भरती है। ब्रह्मचर्य स्वयं ब्रह्म है—शक्ति का पिण्ड है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र के चतुर्थ संवर द्वार में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए भगवान् सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी को कहते हैं—

"जम्बू ! एत्तो य बंभचेरं तवनियमनाणदंसणचरित्त-सम्मत्तविणयमूलं, यमनियमगुणप्पहाणजुत्तं हिमवंत महतंतेयमंतं पसत्यं गंभीरं थिमिय मज्झे····।

जम्मिय आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं सीलं तवो य विणओ संजमो य खंति मुत्ति गुत्ति, तहेव य इहलोए य परलोए य जसे य कित्ती य पच्चओय·······।"

हे जम्बू ! यह ब्रह्मचर्य, तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्यक्त्व और विनय का मूल है। यम, नियम आदि गुणों का आधार है। जिस प्रकार पर्वतों में हिमवान् प्रधान है, इसी तरह सब यम-नियमों में ब्रह्मचर्य प्रधान है, तेजोमय है, प्रशस्त है, गम्भीर है····। ब्रह्मचर्य व्रत के आराधन करने पर तप, विनय, क्षमा, मुक्ति, गुप्ति आदि की आराधना हो सकती है। ब्रह्मचर्य इस लोक और पर लोक में यश कीर्ति और विश्वास का कारण है। ब्रह्मचर्य ही सब सद्गुणों का मूल है। जिस प्रकार पर्वतों में मेरू, हाथियों में एरावत, पशुओं सिंह प्रधान है, इसी तरह व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं

सब प्रकार के तप में ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्कृष्ट है। उपनिषद् में भी कहा है कि, "तपो वै ब्रह्मचर्यम्" अर्थात् ब्रह्मचर्य ही तप है। जिस प्रकार वृक्ष का आधार मूल है। मूल होने पर ही शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि होते हैं। मूल के बिना पत्र-पुष्पादि का संभव कैसे हो सकता है? इसी तरह ब्रह्मचर्य धर्म

रूपी वृक्ष का मूल है। इसके होने पर ही अन्य यम-नियमों की आराधना हो सकती है। इसके बिना धर्म का आराधन नहीं हो सकता है—"मूलं नास्ति कुतः शाखा मूल के बिना शाखा कैसे हो सकती है ?" तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य पर ही धर्म का आधार है। धर्म की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।

शक्ति का स्रोत :

ब्रह्मचर्य शक्ति का पुञ्ज है। कोई भी पुरुषार्थ शक्ति के बिना साध्य नहीं हो सकता है। शक्ति का दारमदार ब्रह्मचर्य पर ही है। शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि सभी शक्तियों का स्रोत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के पालन से ही शरीर मन, आत्मा बलवान् होते हैं। ब्रह्मचर्य के अभाव से शरीर, मन, और आत्मा का पतन होता है। ब्रह्मचर्य में गजब की शक्ति है, अखण्ड ब्रह्मचर्य के कारण भीष्म विश्व के पितामह कहलाए। ब्रह्मचर्य के प्रताप से सुदर्शन सेठ के लिए शूली का सिंहासन बन गया। योग सूत्र में भी कहा गया है कि—

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः"

आत्मदर्शन के लिए इन्द्रियों का निग्रह करने की प्रधान आवश्यकता होती है। इन्द्रिय-निग्रह और संयम के बिना ऐसा साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिए इन्द्रियनिग्रह को ब्रह्मचर्य कह सकते हैं। इन्द्रियों पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करना सचमुच ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का इतना व्यापक अर्थ होते हुए भी आजकल ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ केवल वीर्य रक्षा ही अधिकतर प्रचलित है। वीर्य ही शरीर का राजा है। वीर्य ही शरीर का सार है। वीर्य ही जीवन है, वीर्य ही शक्ति है। वीर्य की रक्षा पर ही जीवन का दारमदार है। कहा गया है—

"मरणं विन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात् ।"

वीर्य का नाश करना मृत्यु है, और वीर्य की रक्षा करना ही जीवन है। इस कथन से वीर्य रक्षा का महत्व भलीभाँति समझा जा सकता है।

प्राचीन आर्य एवं जैन-संस्कृति में ब्रह्मचर्य का अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान है। आर्य संस्कृति के अनुसार मानव जीवन चार विभागों में विभक्त है, पहला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वान-प्रस्थाश्रम और चौथा संन्यासाश्रम। इस आश्रम प्रणाली के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक पच्चीस वर्ष तक प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मचर्य से रहता और इन वर्षों में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि शक्तियों का सम्पादन करके अपने आपको आगामी सुखमय जीवन के लिए तैयार करता था। प्राचीन काल में उच्चकोटि के विद्वान, तत्ववेत्ता, दार्शनिक तथा बड़े-बड़े शूरवीर तेजस्वी व्यक्ति हुए हैं, इसका श्रेय इस आश्रम प्रणाली को और विशेषकर ब्रह्मचर्य को ही है। इस आदर्श-आश्रम प्रणाली के निर्माताओं ने ब्रह्मचर्य में ही सर्वतोमुखी उन्नति के दर्शन किए, अतएव उन्होंने सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य को ही मुख्य रूप से स्थान दिया।

यह दुर्भाग्य है, कि अब इस देश में वह प्रणालियाँ नहीं रह गई हैं। ब्रह्मचर्याश्रम मिट गये और नतीजा यह हुआ, कि आप सब तरह अवनत हुए। आपने राजनैतिक वर्चस्व खोया, आर्थिक दृष्टि से धन-माल विदेशों में बहाकर कंगाल हुए, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से आप पंगु बन गए, यह हुआ सो तो हुआ ही, आपने अपना शारीरिक ह्रास भी कर डाला। आपने अपना स्वास्थ्य भी खो दिया। जिस देश में भीम और अर्जुन, राणा प्रताप और शिवाजी जैसे वीर हुए उसी देश में आज फीके और पिचके गाल वाले, भीतर धँसी हुई निस्तेज आँखों वाले, दुबले-पतले, कमजोर और अकर्मण्य युवक इधर-उधर फिरते हुए दिखाई देते हैं। हमारे देश में बाल मृत्यु की अधिकता है। यहाँ की औसतन आयु भी मात्र २३ वर्ष की है। तात्पर्य यह है कि आप शारीरिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि सब दृष्टियों से एकदम अवनत हो गये हैं। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में कह सकते हैं कि—

> "यदि ब्रह्मचर्याश्रम मिटाकर शक्ति को खोते नहीं।
> तो आज हम मृत जातियों में यों गिने जाते कहीं ?"

इससे स्पष्ट है, कि आप लोगों की ब्रह्मचर्य के प्रति की गई उपेक्षा इस महान् पतन का प्रधान कारण है। ब्रह्मचर्य के बिना आज भारत की सन्तान दीन-हीन और निस्सहाय हो रही है। आज इस धर्मपरायण भारत देश में विलासिता और नीतिभ्रष्टता का बोल-बाला देखकर बड़ा अफसोस होता है। भारत के वायुमण्डल में आज विषैली हवा चल रही है। कुशिक्षा और फैशन ने आज के युवक और युवतियों को पथभ्रष्ट कर दिया है।

फैशन :

आजकल की शिक्षा-प्रणाली में चरित्र का नाम निशान तक नहीं

होता। स्कूल एवं कालेजों में पढ़नेवालों में अधिकांश चरित्रहीन और फैशनपरस्त दिखाई देते हैं। इसका कारण यह है, कि शिक्षालयों में अध्यापकगण चरित्र की ओर ध्यान ही नहीं देते हैं : साथ ही साथ इस बढ़ती हुई फैशन ने सदाचार रूपी उपवन में आग लगा दी है। आज का युवक एवं युवती वर्ग फैशन के पीछे अंधा हो रहा है। जिस देश के युवक एवं युवतियाँ स्वाभाविक तेज से, सहज सौन्दर्य से, और मुख मण्डल की कान्ति से, दीप्त, होती थीं उसी देश के युवक युवतियाँ स्वाभाविक तेज से हीन होकर बनावटी स्नो, क्रीम व पाउडर से अपने मुख को चमकाने की निरर्थक कोशिश करती हुई दिखाई देती हैं। आज की युवतियों का अधिकांश समय बनाव शृंगार में पूरा हो जाता है। एक गुजराती कवि ने कहा है :—

अलबेली फेसनों दुनियां मा आवी, नारी ए वर्ताव्यो केर रे,
जोइलो नी आज नी नारिओ।
मस्तके पिन्नो राखे, काने एरिंगड़ा, गले रंगून केरा चेन रे।
हाथे रूमाल राखे, पगमां चपलिया, आंखे चश्माना सणगार रे।।

प्रसंग से यह कह देना भी आवश्यक है, कि आजकल की कतिपय बहनें बारीक वस्त्रों को पहनने में अपनी शोभा और इज्जत समझती हैं। अधिकांश बहनें चटकमटक वाले सूक्ष्म वस्त्रों को पहन धर्म स्थानों पर और अन्य स्थानों पर आती हैं। यह बड़े दुःख की बात है। वस्त्रों को पहनने का उद्देश्य लज्जा को ढाँकने का है। इन सूक्ष्म वस्त्रों से यह उद्देश्य सफल नहीं होता है। बहनो! ये सूक्ष्म वस्त्र आपकी लज्जा को नहीं ढाँकते। सूक्ष्म वस्त्रों का पहनना अपनी निर्लज्जता का प्रदर्शन करना है। इसलिए यदि आप अपने शील और लज्जा की रक्षा करना चाहती हैं, तो बारीक वस्त्रों का त्याग कर सादगीमय जीवन बिताइए। सादगीमय पवित्र जीवन में ही नारी की सच्ची महत्ता है। सादगी सच्ची सुन्दरता है। भाइयो!

आपसे भी यही कहना है, कि आप भी वारीक वस्त्रों को छोड़ें और अपना जीवन वन सके उतना सादा वनाइए। खासकर उन युवकों से जो वनाव शृंगार में ही अपना समय वर्वाद करते हैं—मैं यह कहना चाहता हूँ, कि वे इस निरर्थक फैशन का मोह छोड़ें। यह फैशन उनका सर्वनाश कर देगी। वे पतंगिये के समान फैशनरूपी दीपक पर मुग्ध होकर जल मरेंगे। भाइयो व वहनो! यह फैशन आपके ब्रह्मचर्य को नष्ट कर रही है, यह आपके शरीर के स्वास्थ्य और सौन्दर्य को वर्वाद कर रही और आपके धन को लूट रही है। इस तन, मन और धन को चूसने वाली डायन फैशन के चक्कर से वचिये और पवित्र सादगीमय जीवन विताइए। इसी में आपके शील की, धर्म की, और आपके देश की उन्नति है।

सदाचारी सुदर्शन :

वन्धुओ! आपके सामने अखण्ड वह्मचर्य के आदर्श रूप में भगवान अरिष्टनेमि और भीष्मपितामह के उज्जवल जीवन हैं। आदर्श श्रावकसुदर्शन का आदर्श आपके सामने है। अभया रानी सुदर्शन पर मुग्ध हो गई थी। वह सुदर्शन को अपनी विषय वासना की पूर्ति का साधन वनाना चाहती थी। उसने अनेकों उपायों द्वारा अपने मनोरथ को सिद्ध करना चाहा। परन्तु उसकी दाल न गली। एक दिन वसन्तोत्सव के लिए जव नगर के नर-नारी नगर से वाहर गये हुए थे, तव अभया रानी ने मौका पाकर के, पौपधशाला में पौपध करके वैठे हुए सुदर्शन को वलात् अपने सैनिकों द्वारा पकड़वा कर अपने महल में मँगवा लाई। रानी सोलह शृंगारों से सज्जित होकर सुदर्शन के पास आई और विविध हाव-भावों का प्रदर्शन करती हुई कहने लगी, कि मैं वहुत लम्बे समय से आपके लिए लालायित हूँ। आज मुझे यह शुभवसर प्राप्त हुआ है। आप मेरी

प्यास को बुझाएँ। आपके रूप ने ही मुझसे ऐसा बर्ताव कराया है। मुझे क्षमा करें और इस चिर काल की प्यास को तृप्त करें।

सुदर्शन—माता ! यह आप क्या कह रही हैं ?

सुदर्शन के मुख से "**माता**" ! यह सम्बोधन सुनकर रानी चौंक पड़ी। वह कहने लगी—देखो सुदर्शन ! अधिक न तरसाओ। तुम्हारे लिए सारा राज्य समर्पित करने को तैयार हूँ। महाराज तो मेरे इशारों पर नाचते हैं। अगर तुम मुझसे प्रेम करो तो समझलो कि सारा राज्य तुम्हारे ही हाथों में है।

सुदर्शन—माता ! मुझे राज्य और वैभव से कोई मतलब नहीं। मुझे मेरा धर्म राज्य से भी अधिक प्रिय है।

रानी—सुदर्शन ! मान जाओ। मैं बहुत अनुनय-विनय करती हूँ। तुम मान जाओ और मेरी अभिलाषा को पूर्ण करो। अन्यथा यह भी समझलो कि अब तुम फंस चुके हो। अब तुम्हारा सिर मेरे हाथों में है। अगर तुम अपने जीवन की खैर चाहते हो तो मेरी प्रार्थना मान लो।

रानी की इस धमकी का भी सुदर्शन पर कोई असर न पड़ा। वे अपने धर्म पर दृढ़ रहे। एक अंश से भी विचलित न हुए। रानी ने सब उपाय अजमा लिए। वह हार गई। आखिर उसने रूप विरूप कर लिया और कोलाहल मचा दिया। सुदर्शन सैनिकों द्वारा पकड़े गये। उन पर अन्तःपुर में घुसकर बलात्कार करने का आरोप लगाया गया और राजा ने उन्हें शूली पर चढ़ाने का हुक्म दे दिया। शूली तैयार है। समय नजदीक है, किन्तु सुदर्शन ने रानी के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। सुदर्शन को जरा भी दुःख नहीं है। उन्हें इस बात का हर्ष है कि वे अपने धर्म को सुरक्षित रख सके। वे एक तीव्र कसौटी पर खरे उतरे इसका उन्हें अपार हर्ष था। वे शूली पर चढ़ाये

आपसे भी यही कहना है, कि आप भी बारीक वस्त्रों को छोड़ें और अपना जीवन बन सके उतना सादा बनाइए। खासकर उन युवकों से जो बनाव शृंगार में ही अपना समय बर्बाद करते हैं—मैं यह कहना चाहता हूँ, कि वे इस निरर्थक फैशन का मोह छोड़ें। यह फैशन उनका सर्वनाश कर देगी। वे पतंगिये के समान फैशनरूपी दीपक पर मुग्ध होकर जल मरेंगे। भाइयो व बहनो! यह फैशन आपके ब्रह्मचर्य को नष्ट कर रही है, यह आपके शरीर के स्वास्थ्य और सौन्दर्य को बर्बाद कर रही और आपके धन को लूट रही है। इस तन, मन और धन को चूसने वाली डायन फैशन के चक्कर से बचिये और पवित्र सादगीमय जीवन बिताइए। इसी में आपके शील की, धर्म की, और आपके देश की उन्नति है।

सदाचारी सुदर्शन :

वन्धुओ! आपके सामने अखण्ड बह्मचर्य के आदर्श रूप में भगवान अरिष्टनेमि और भीष्मपितामह के उज्जवल जीवन हैं। आदर्श श्रावकसुदर्शन का आदर्श आपके सामने है। अभया रानी सुदर्शन पर मुग्ध हो गई थी। वह सुदर्शन को अपनी विषय वासना की पूर्ति का साधन बनाना चाहती थी। उसने अनेकों उपायों द्वारा अपने मनोरथ को सिद्ध करना चाहा। परन्तु उसकी दाल न गली। एक दिन वसन्तोत्सव के लिए जब नगर के नर-नारी नगर से वाहर गये हुए थे, तब अभया रानी ने मौका पाकर के, पौषधशाला में पौषध करके बैठे हुए सुदर्शन को बलात् अपने सैनिकों द्वारा पकड़वा कर अपने महल में मँगवा लाई। रानी सोलह शृंगारों से सज्जित होकर सुदर्शन के पास आई और विविध हाव-भावों का प्रदर्शन करती हुई कहने लगी, कि मैं वहुत लम्बे समय से आपके लिए लालायित हूँ। आज मुझे यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। आप मेरी

प्यास को बुझाएँ। आपके रूप ने ही मुझसे ऐसा वर्ताव कराया है। मुझे क्षमा करें और इस चिर काल की प्यास को तृप्त करें।

सुदर्शन—माता ! यह आप क्या कह रही हैं ?

सुदर्शन के मुख से "माता" ! यह सम्बोधन सुनकर रानी चौंक पड़ी। वह कहने लगी—देखो सुदर्शन ! अधिक न तरसाओ। तुम्हारे लिए सारा राज्य समर्पित करने को तैयार हूँ। महाराज तो मेरे इशारों पर नाचते हैं। अगर तुम मुझसे प्रेम करो तो समझलो कि सारा राज्य तुम्हारे ही हाथों में है।

सुदर्शन—माता ! मुझे राज्य और वैभव से कोई मतलब नहीं। मुझे मेरा धर्म राज्य से भी अधिक प्रिय है।

रानी—सुदर्शन ! मान जाओ। मैं वहुत अनुनय-विनय करती हूँ। तुम मान जाओ और मेरी अभिलाषा को पूर्ण करो। अन्यथा यह भी समझलो कि अव तुम फंस चुके हो। अव तुम्हारा सिर मेरे हाथों में है। अगर तुम अपने जीवन की खैर चाहते हो तो मेरी प्रार्थना मान लो।

रानी की इस धमकी का भी सुदर्शन पर कोई असर न पड़ा। वे अपने धर्म पर दृढ़ रहे। एक अंश से भी विचलित न हुए। रानी ने सव उपाय अजमा लिए। वह हार गई। आखिर उसने रूप विरूप कर लिया और कोलाहल मचा दिया। सुदर्शन सैनिकों द्वारा पकड़े गये। उन पर अन्तःपुर में घुसकर वलात्कार करने का आरोप लगाया गया और राजा ने उन्हें शूली पर चढ़ाने का हुक्म दे दिया। शूली तैयार है। समय नजदीक है, किन्तु सुदर्शन ने रानी के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। सुदर्शन को जरा भी दुःख नहीं है। उन्हें इस वात का हर्ष है कि वे अपने धर्म को सुरक्षित रख सके। वे एक तीव्र कसौटी पर खरे उतरे इसका उन्हें अपार हर्ष था। वे शूली पर चढ़ाये

गए। परन्तु अहाहा! आश्चर्य! महाआश्चर्य!! शूली सिंहासन के रूप में परिणत हो गई, यह है ब्रह्मचर्य का प्रताप।

बन्धुओ! सुदर्शन श्रावक की कितनी दृढ़ता है। रानी स्वयं प्रार्थना करती है, तदपि वे जरा भी विचलित न हुए। आप में इतनी दृढ़ता है? अफसोस! कई श्रावक कहे जाने वाले परस्त्रियों की ओर घूरते हैं। उन्हें बुरी निगाह से देखते हैं। सुदर्शन भी श्रावक था, आप भी श्रावक हैं? दोनों की तुलना कर लीजिए और विचारिए कि आप कहाँ हैं? बन्धुओ? श्रावकों का यह धर्म है, कि वे परस्त्री को तो अपनी माता और बहन समझें हों और स्व-स्त्री के प्रति भी अत्यन्त मर्यादित हों। विवाह का आदर्श भी उच्च है। उस उच्च आदर्श को समझकर ही स्व-स्त्री के प्रति मर्यादित हो। श्रावक के लिए स्व-स्त्री के साथ भी निरंकुश जीवन विताना भयंकर पाप है। श्रावक-श्राविकाओं को यह समझना चाहिए, कि विवाह विलास के लिए नहीं है। सुदर्शन श्रावक के आदर्श को सामने रखकर मनसा, वाचा, कर्मणा पर-स्त्री सेवन से दूर रहे, और नीतिमय जीवन वितावें। लक्ष्मणजी का चरित्र ब्रह्मचर्य के लिए आदर्श प्रेरणा रूप है।

ब्रह्मचर्य की कसौटी :

वनवास काल की बात है। राम, लक्ष्मण और सीता रास्ता तै करते हुए चले जा रहे हैं। समय बहुत हो चुका है। मार्ग के परिश्रम के कारण सीता के मुखमण्डल पर लालिमा और थकावट के चिन्ह झलकने लगे। पानी, भोजन और विश्राम की आवश्यकता मालूम हुई। एक वृक्ष के तले विश्राम के लिए बैठे। लक्ष्मण ने पानी और वन के फलफूल ले आने की आज्ञा माँगी। परन्तु रामचन्द्रजी ने स्वयं जाने की इच्छा बताई और लक्ष्मण से कहा, कि 'मैं पानी और भोजन की तलाश में जाता हूँ, तुम यहीं सावधानी रखते हुए ठहरो।'

ऐसा कहकर राम पानी व भोजन की तलाश में निकल गये। मार्ग के परिश्रम से थकी हुई सीता को ठंडी छाया और हवा के झोकों से नींद आने लगी। सीता वहीं भूमि पर पत्थर का तकिया बना कर सो गईं। यह दृश्य देखकर लक्ष्मण को विचार उत्पन्न हुआ, कि उच्च राजमहलों में सुन्दर पलंग पर मखमली शय्या पर फूलों की सेज पर सोने वाली कोमलाङ्गी सीता आज वन की इस कठोर भूमि पर और पत्थर को तकिया वनाकर सोरही है। माता सीता को इस कठोर पत्थर के तकिये के सहारे कैसे नींद लग सकती है? मैं इनकी सेवा के लिए ही तो वन में इनके साथ आया हूँ। मुझे इनकी तकलीफ दूर करनी चाहिए। वन में और तो कोई साधन हमारे पास है नहीं। इस पत्थर की अपेक्षा तो मेरी जंघा अधिक सुकोमल है। उसको तकिया वनाया जा सकता है। ऐसा विचार करके अत्यन्त पवित्र आशय से प्रेरित होकर उन्होंने माता सीता का मस्तक अपनी जंघा पर रख लिया। इसी तरह सीता लक्ष्मण की जंघा पर सोई हुई हैं। उधर रामचन्द्रजी पानी और वनफल लेकर आते हैं। दूर से उन्होंने देखा, कि एक स्त्री एक पुरुष को जघा पर सो रही है। उन्हें विचार हुआ, कि कहीं मैं दूसरी जगह तो नहीं आगया हूँ। चिन्ह तो सभी वैसे ही हैं, जहां हम सब विश्राम के लिए ठहरे थे। क्या सीता लक्ष्मण की जंघा पर सो रही है? यह क्या? राम और नजदीक आये और उन्होंने जानलिया कि ये सीता लक्ष्मण ही हैं। रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण की परीक्षा लेने का विचार किया। उन्होंने एक तोते का रूप वनाया और उसी वृक्ष पर वैठकर लक्ष्मण को संवोधन कर कहने लगे:—

"पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा, दृष्ट्वा योषित-यौवनम्।
त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव, कस्यनो चलते मनः॥"

फूल को, फल को और स्त्री के यौवन को—इन तीन रत्नों को

देखकर किसका मन विचलित नहीं होता है ? तोते के इस प्रश्नात्मक कथन के उत्तर में लक्ष्मण बोले—

> पिता यस्य शुचिर्भूतः, माता यस्य पतिव्रता ।
> उभाभ्यां यः समुत्पन्नस्तस्य नो चलते मनः ॥"

जिसका पिता मनसा वाचा, कर्मणा पवित्र-सदाचारी हो, जिसकी माता सच्ची पतिव्रता हो, ऐसे सुयोग्य माता-पिता से उत्पन्न हुआ व्यक्ति फूल, फल और स्त्री के यौवन को देखकर भी विचलित नहीं होता ।

भाइयो ! लक्ष्मण के इस उत्तर में बड़े महत्व की बात रही हुई है । जिसके माता-पिता सदाचारी हों, उसकी सन्तान भी प्रायः सदाचारी ही होती है । इसके विपरीत आप सोच सकते हैं, कि माता-पिता यदि विषयी हैं, लम्पटी हैं, दुराचारी हैं, तो उनकी सन्तान सदाचारी कैसे हो सकती है ? सन्तान को सदाचारी बनाने का उत्तरदायित्व माता-पिता पर है । माता-पिता के संस्कार ही बालक के जीवन के निर्माण करने वाले होते हैं, इसलिए माता-पिता की जवाबदारी अधिक बढ़ जाती है । माता-पिता का दुराचार परम्परा तक दोष का कारण होता है । अतएव माता-पिता को अपने सदाचार का पूरा ध्यान रखना चाहिए । योग्य माता-पिता की सन्तान योग्य ही होती है । लक्ष्मण महाराज दशरथ के और माता सुमित्रा के पुत्र थे । दोनों ही सदाचारी थे, इसलिए लक्ष्मण इतने सदाचारी हो सके, कि परस्त्री सीता उनकी जंघा पर सोई हुई है, तदपि उनके मन में लेशमात्र भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ ।

तोते ने पुनः प्रश्न किया—

> "घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
> जानुस्थिता परस्त्री चेत्, कस्य नो चलते मनः ॥"

नारी घी के घड़े के समान है, और पुरुष तप्त अग्नि के समान

है। जंघा पर पर-स्त्री सोई हो तो किसका मन विचलित नहीं होता है?

सदाचारी लक्ष्मण प्रत्युत्तर देते हैं—

"मनोधावति सर्वत्र, मदोन्मत्तगजेन्द्रवत् ।
ज्ञानांकुशे समुत्पन्ने, तस्य नो चलते मनः ॥"

मन, मतवाले हाथी के समान यत्र-तत्र भ्रमण किया करता है, परन्तु ज्ञान रूपी अंकुश के द्वारा वह मन रूपी मतवाला हाथी वश में हो जाता है। उस ज्ञानरूपी अंकुश वाले व्यक्ति का मन कदापि चलित नहीं हो सकता है।

लक्ष्मण के सदाचार की कसौटी हुई वे शुद्ध स्वर्ण के समान खरे उतरे। मर्यादा पुरुषोत्तम राम गद्गद् हुए और धन्य सुमित्रा-नंदन धन्य कहकर स्वरूपस्थ हुए।

दृष्टि संयम :

लक्ष्मण के सदाचार को प्रकट करने वाली एक घटना को और लीजिए। रावण सीता का हरण कर आकाशमार्ग से चला जाता है। उस समय दुःख से आर्त बनी हुई सीता, यह समझकर, कि इनकी सहायता से रामचन्द्रजी को मेरे गमन का मार्ग मालूम होने में सहुलियत होगी—अपने आभूषण नीचे गिराती गई। आखिर सीता की खोज में भटकते हुए राम को वे प्राप्त होते हैं। शोक की अधिकता से राम उन आभूषणों को पहचान न सके। वे लक्ष्मण से कहते हैं हे भाई! जरा देखो तो, ये आभूषण क्या तुम्हारी भाभी के ही हैं? लक्ष्मण कहते हैं—

"कंकणं नैव जानामि, नाभिजानामि कुण्डले।
नूपुरं त्वभिजानामि, नित्यं चरणवन्दनात् ॥"

हे आर्य! मैं कंकण, कुण्डल आदि आभूषणों को नहीं पहचान

सकता हूँ, मैंने कभी इन्हें देखा तक नहीं है। मैं भाभी के चरणों में नित्य नमस्कार करता था, इससे मेरी दृष्टि नूपुर पर पड़ती थी। इससे मैं नूपुर पहचानता हूँ, अन्य आभूषण नहीं। सीताजी के चरणों को छोड़ कर अन्य किसी अंग पर मैंने गौर पूर्वक दृष्टि नहीं डाली, अतः आभूषणों को कैसे पहचान सकता हूँ।

बन्धुओ ! लक्ष्मण वनवास में राम और सीता की निरन्तर सेवा करते हुए पास में रहते थे। इतने लम्बे समय तक निरन्तर साथ रहने पर भी लक्ष्मण ने सीताजी की ओर कभी गौर की दृष्टि से देखा तक नहीं ? कैसा अद्‌भुत संयम और सदाचार है। आप सभी को इस अद्‌भुत सदाचारी के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए। आपको अपनी दृष्टि पर काबू रखना चाहिए। आपकी दृष्टि कभी पर-स्त्रियों की ओर नहीं जानी चाहिए। अगर आप अपनी दृष्टि पर संयम नहीं रखते हैं, तो आप श्रावक नहीं कहला सकते। श्रावकत्व तो दूर रहा सामान्य मनुष्य भी कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते। अतएव लक्ष्मण का आदर्श सामने रखकर आपको सदाचार का पालन करना चाहिए।

सदाचार :

चार्ल्स डारविन वर्त्तमान युग के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता माने जाते हैं। उनका कहना है, कि प्रत्येक प्राणी को अपने अस्तित्व के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, इसे जीवनसंग्राम (Struggle for existence) कहते हैं। प्रकृति जीवन संग्राम में उसे ही सहायता करती है जो सदा-चारी हो। दुनिया का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो देश सदाचार के नियमों का जितना अधिक पालन करता है, वह उतना ही अधिक समुन्नत होता है। जो जाति या देश सदाचार के नियमों की उपेक्षा करता है वह पतन के गर्त में गिर जाता है। रोमन साम्राज्य और अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान के पतन का

कारण भोग-विलास ही है। पृथ्वीराज चौहान संयुक्ता के प्रेमपाश में बँधे हुए अंधे हो रहे थे। मुहम्मद गौरी ने आक्रमण किया और सम्राट् को—समूचे भारत को कैद कर लिया। कहने का मतलब यह है, कि प्रकृति भी सदाचारी को ही जीवन संग्राम में सहायता पहुँचाती है।

ब्रह्मचर्य का चमत्कार :

सदाचारी के सदाचार में क्या गजब की शक्ति होती है, यह बात लक्ष्मण के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। सीता के आग्रह से रामचन्द्रजी स्वर्ण मृग को पकड़ने के लिये जाते हैं। वह स्वर्ण मृग मायावी राक्षस मारिच की माया मात्र था। मृग बहुत दूर निकल गया और रामचन्द्र जी भी उसके पीछे बहुत दूर तक चले गये। राम को बहुत देर हो चुकी थी। वे अब तक नहीं लौटे इसलिए सीता अत्यन्त व्याकुल हो रही थीं। सीता ने लक्ष्मण से कहा, कि देर बहुत हो गई है, अब तक वे नहीं लौटे हैं, अवश्य ही उन पर कोई विपत्ति आई है, इसलिए तुम उनकी सहायता के लिए जाओ। यह सुनकर लक्ष्मण बोले—भाभी, चिन्ता की कोई बात नहीं है। आर्य रामचन्द्रजी सब तरह से अजेय हैं। देव, दानव या गन्धर्व भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं। वे स्वयं सर्वतः समर्थ हैं। आप चिन्ता न कीजिए। अभी भाई साहब लौट आएँगे। आपको अकेली छोड़कर मैं जाना नहीं चाहता। लक्ष्मण के वचनों को सुनकर सीता की व्याकुलता दूर न हुई। वे अधिक व्यग्र हो गईं और उस व्यग्रता के कारण भान भूलकर लक्ष्मण से अति तीव्र शब्दों में कहने लगीं—

"बोली अब मैंने जान लिया, स्वारथ का भाई चारा है।
तुम वन में साथ जो आये हो कुछ मतलब और तुम्हारा है।।"

लक्ष्मण ने इस मायावी जंगल में सीता को अकेली छोड़कर

जाना उचित नहीं समझा। इसलिए उन्होंने राम की सहायता के लिए जाने से इन्कार कर दिया। लक्ष्मण का हृदय एकदम पवित्र था, लेकिन अत्यधिक व्यग्रता के कारण सीता उसे कपट समझती है, और वह कहती है, कि अब मैंने तुम्हें जान लिया है। स्वार्थ की ही दुनिया है। तुम किसी और मतलब को लेकर हमारे साथ वन में आये हो। तुम्हें धिक्कार है कि तुम्हारे भाई पर विपत्ति आई है, और तुम उनकी सहायता के लिए जाने से इन्कार करते हो। लक्ष्मण को ये वचन बड़े मर्म-भेदी लगे।

"वचन उस शुद्ध हृदय में जाते ही वे टुकड़े हो हो के निकले।
जब जगह ठहरने को न मिली तो आँसू हो हो के निकले॥
यह रेखा उल्लंघन करके जो कुटिया के अन्दर आवेगा।
है उसे आण यह लक्ष्मण की वह वहीं भस्म हो जावेगा॥"

सीता के इन मर्म-भेदी वचनों से लक्ष्मण का हृदय टूक-टूक हो गया। उनकी आँखों में से आँसू गिरने लगे। उन्होंने सोचा, कि अब नहीं जाना भाभी के लिए एक बड़े भारी सन्देह की बात हो जाएगी और यदि चला जाता हूँ, तो सीताजी अकेली रह जाती हैं। राक्षसी माया वाले इस जंगल में उन्हें अकेली कैसे छोड़ूं। बड़ी भारी दुविधा उनके सामने उपस्थित हुई। आखिर उन्होंने सीता की रक्षा का उपाय करके राम के पास जाना ही उचित समझा। उन्होंने एक रेखा खींच दी, और कहा कि जो कोई व्यक्ति इस रेखा को लांघकर कुटिया में आवेगा तो वह वहीं भस्म हो जाएगा। सीताजी को कुटिया में ही रहने का कहकर लक्ष्मण राम के पास जाने लगे। थोड़ी दूर जाने पर पीछे देखते हैं।

इतने ही में मालूम हुआ वह रेखा रंग बदलती है।
जब आगे पांव बढ़ाया तो देखा एक उज्ज्वल ज्वाला जलती है॥

ब्रह्मचारी के वचनों में सिद्धि होती है उसमें अलौकिक शक्ति

होती है। ज्योंही लक्ष्मण रेखा खींचकर आगे बढ़ते हैं, त्योंही वहाँ अग्नि की ज्वाला जल उठती है। वह ज्वाला सीता का रक्षण करती है। दुनिया में किसी देव अथवा दानव की यह शक्ति नहीं, कि वह लक्ष्मण की खेंची हुई उस रेखा में प्रवेश कर सके। रावण जब सीता का हरण करने के लिए आता है, तब वह उस ज्वाला को देखता है और सोचता है।

और रेखा उलंघन यदि करेगा तू, तो होगा अभी मरण तेरा।
सीता–हरण नहीं होगा, हो जावेगा प्राण–हरण तेरा॥

लंकाधिपति रावण को यह हिम्मत न हो सकी, कि वह रेखा को लांघ कर सीता का हरण कर सके। यह प्रताप लक्ष्मण के आदर्श शील का ही है। यह है, ब्रह्मचर्य का चमत्कार।

बन्धुओ! आपने लक्ष्मण के चरित्र में शील और सदाचार की कैसी अद्भुत झाँकी देखी। क्या आप लक्ष्मण के आदर्श चरित्र को सुनकर अपने जीवन में ब्रह्मचर्य का आदर्श उतारेंगे? याद रखिए, यह लुभावना विषयी जीवन विष के समान भयंकर सिद्ध होगा। यदि आप जीवन की वास्तविक सफलता चाहते हैं, यदि आप जीवन का उत्कर्ष चाहते हैं, और यदि आप जाति एवं देश का अभ्युदय चाहते हैं, तो आपको ब्रह्मचर्य के आदर्श को अपनाना होगा।

आप यह कहेंगे कि हम तो गृहस्थ हैं, हम ब्रह्मचर्य का पालन किस तरह कर सकते हैं? मैं आपको यह कहना चाहता हूँ, कि गृहस्थाश्रम में रहकर भी ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है। यदि आपका गृहस्थाश्रम वास्तविक गृहस्थाश्रम है, तो ब्रह्मचर्य के पालने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। परन्तु मैं देख रहा हूँ मित्रो! आपके गृहस्थधर्म का भी कहां ठिकाना है? आपके गृहस्थाश्रम का पवित्र उद्देश्य विलुप्त हो चुका है। धनोपार्जन करना, और विलासी

जीवन बिताना क्या यही गृहस्थाश्रम है? यदि गृहस्थाश्रम सचमुच गृहस्थाश्रम है, तो उसमें सदाचार और शील का सर्वोपरि स्थान होना चाहिए। आज के युग में महात्मा गांधी का जीवन आपके लिए मार्ग-दर्शक हो सकता है। वे लगभग ४५ वर्ष से ब्रह्मचर्यमय जीवन बिता रहे हैं। गांधी जी ने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा है, कि मैं ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही इतने कार्य करने में समर्थ हो सका हूँ। गांधी जी की आत्मकथा पढ़ने से आप यह जान सकेंगे, कि ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा करने के बाद उनका जीवन कितना उच्च और उच्चतर होता गया। यदि आप भी अपने जीवन में कुछ सार्थकता लाना चाहते हैं तो ब्रह्मचर्य की ओर ध्यान दीजिए। संयम की ओर क्रमशः बढ़ते रहिए।

विचारों का प्रभाव :

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए यह आवश्यक है कि उसके साधक नियमों का यथोचित पालन किया जाए। ब्रह्मचर्य पालन की इच्छा रखने वाले के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है, कि वह अपनी भावनाओं को विशुद्ध करें। सदा पवित्र विचारों को ही अपने दिमाग में स्थान दें। कुत्सित विचारों को पास फटकने भी न दें। भावना का चरित्र पर बड़ा भारी असर हुआ करता है। भावना की शुद्धि के विना वीर्य रक्षा संभव नहीं है। अगर मन मलिन है, मन में बुरे विचारों को स्थान है, तो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता है। गीता में कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

सर्वनाश कर डालते हैं। इसलिए विकारी साहित्य से दूर रहकर चरित्र को दृढ़ करने वाले सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन करना चाहिए। ऐसा करने से मस्तिष्क की सात्विकता बनी रहती है और इससे ब्रह्मचर्य की सफल आराधना होती है।

आहार और ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आहार की सात्विकता की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य और आहार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मचारी को सात्विक आहार ही करना चाहिए। अधिक मीठा गरिष्ठ, खट्टा, चटपटे मसालेवाला तामसिक भोजन ब्रह्मचारी को न करना चाहिए। गरिष्ठ और तेज चटपटे मसाले वाला भोजन विकारों को उत्तेजना देता है। अतएव ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है। आप लोगों का खानपान बहुत बिगड़ा हुआ है। आपके खानपान को देखने से यह मालूम होता है, कि आप जीने के लिए नहीं खाते, केवल खाने के लिए जीते हैं। आप लोग स्वाद के वश में हो रहे हैं। स्वाद वाली चीजें खाने के आदी हो रहे हैं। उस स्वाद के वश होकर आप यह नहीं सोचते, कि इस तरह के तामसिक भोजन का असर कितना खराब हो रहा है। ये चटपटे मसालेदार शाक और चटनियाँ ब्रह्मचर्य रूपी उपवन के लिए आग के समान हैं। गरिष्ठ भोजन और चटपटे मसालेदार खाकर ब्रह्मचर्य पालने की आशा करना दुराशा मात्र है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्वाद-निग्रह, एवं स्वाद-जय अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए महात्माजी ने अस्वाद को भी व्रत में स्थान दिया है और कहा है, कि अस्वाद व्रत के पालन के बिना ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नहीं है।

बन्धुओ ! हमेशा यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के लिए खाना है, खाने के लिए जीना नहीं है। सात्विक भोजन आपकी जीवन-शक्ति को बढ़ाता है, स्वास्थ्य और बल की वृद्धि करता है,

मालवकेसरी जी द्वारा समय-समय पर अभिव्यक्त
मन एवं बुद्धि को आलोक से जगमगा
देने वाले सारपूर्ण संक्षिप्त विचार

विचार

आत्मा

●

आत्मा और परमात्मा एक ही द्रव्य के अथवा एक ही तत्व के दो नाम हैं। स्वरूप की दृष्टि से दोनों में समानता है, एकरूपता है। जो आत्मा है, वही परमात्मा बनता है, और परम-आत्म-स्वरूप में आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

आत्मा अनन्त शक्ति संपन्न है, और अनन्त गुणों एवं धर्मों से युक्त है। आत्मा के चार गुणों को महत्वपूर्ण माना गया है, जिसे अनन्त चतुष्टय कहते हैं, और जो गुण सदा-सर्वदा आत्मा के साथ रहते हैं— अनन्त-ज्ञान-दर्शन, अनन्त-सुख, और अनन्त-शक्ति।

लोक में स्थित प्रत्येक आत्मा में अनन्त चतुष्टय है। लेकिन चार घातिक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय के आवरण के कारण उसकी ज्योति धूमिल पड़ गई है। इसका ज्ञान आदि अभी तक पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं हो पाए हैं।

जिन महान् व्यक्तियों ने साधना के द्वारा आवरण को हटा दिया है, घातिक कर्मों का नाश कर दिया है, और अघातिक-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म को समाप्त कर रहे हैं, या कर दिया है, उन्हें अरिहन्त एवं सिद्ध अथवा परमात्मा कहते हैं।

स्वरूप की दृष्टि से आत्मा एक है, तथा आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से एवं अनुभूति अथवा ज्ञान-दर्शन की दृष्टि से आत्मा एक नहीं, अनेक हैं, अनन्त हैं। कर्म सहित और कर्म रहित की अपेक्षा से आत्मा और परमात्मा में भेद भी है, अन्तर भी रहा हुआ है।

जैन धर्म की दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य में, प्रत्येक तत्व में, प्रत्येक पदार्थ में एक साथ दो विरोधी गुणों का अस्तित्व भी पाया जाता है। आत्मा को ही लीजिए, उसमें एकत्व गुण भी है, और अनेकत्व गुण

भी है। उसमें नित्यत्व भी है, और अनित्यत्व भी है। आत्म-द्रव्य की अपेक्षा उसका कभी नाश नहीं होता। वह कदापि आत्मा से अनात्मा नहीं बनता, इसलिए नित्य भी है। परन्तु पर्याय की दृष्टि से सदा परिवर्तित होता रहता है, इसलिए अनित्य भी है। इस प्रकार आत्मा में ही नहीं, सभी द्रव्यों में अनन्त धर्म पाए जाते हैं।

आत्मा अनन्त शक्ति-सम्पन्न है। अपने विकास और पतन का कर्ता वह स्वयं है। संसार में परिभ्रमण करने की शक्ति भी उसके हाथ में है, और मुक्त होने की ताकत भी उसके हाथ में है।

आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और वही आत्मा का मित्र है। बाहर का शत्रु-शत्रु नहीं है, वास्तविक शत्रु है काषायिक भाव—क्रोध, मान, माया एवं लोभ में रमण करने वाला आत्मा। यदि मन में कषाय-भाव नहीं है, तो कोई भी बाहरी व्यक्ति आत्मा को पतन के गर्त में नहीं ढकेल सकता। इसलिए कषाय-युक्त आत्मा, आत्मा का शत्रु है, और कषाय रहित आत्मा, आत्मा का परम मित्र है।

जागो, प्रमाद को त्यागो और आगे बढ़ो। तुम्हारे लिए प्रगति का पथ प्रशस्त है, और मुक्ति का द्वार खुला है। जो व्यक्ति प्रमाद एवं मोह की निद्रा को त्याग कर जागृत हो गया है, उसका भाग्य भी जागृत हो जाता है। और जो व्यक्ति उठकर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाता है, आत्म-विश्वास का संबल लेकर पथ पर चल पड़ता है, मार्ग की कठिनाइयाँ उसके लिए कठिनाइयाँ नहीं रह जातीं, और मार्ग की दूरी उसके लिए दूरी नहीं रह जाती है। उसके लिए मार्ग में पड़े हुए शूल भी फूल बन जाते हैं।

इस लिए उठो, जागो, आलस्य छोड़ो और आगे कदम बढ़ाओ, सिद्धि तुम्हारे अपने हाथ में है। तुम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हो।

★

ज्ञान और ज्ञानी

मनुष्य को अपनी गलती एवं भूल स्वीकार करने में कदापि संकोच नहीं होना चाहिए।

मनुष्य की यह सब से बड़ी कमजोरी है—जब वह यह सोचता है कि मैं सबसे अधिक बुद्धिमान, समझदार और ज्ञान-सम्पन्न हूं।

ज्ञानी वह है, जो अपनी गलती को, अपनी कमजोरी को देख सकता है, और उसमें सुधार करने का प्रयत्न करता है।

वह ज्ञान एवं बुद्धि, जो दूसरे व्यक्ति के हित के लिए, विकास के लिए काम में नहीं लाई जाती, वह उस स्वर्ण से भी बदतर है, जो तिजोरियों में बन्द रहता या जमीन के खड्डे में गड़ा रहता है।

यथार्थ में ज्ञान का उपयोग यही है, कि अपने और जन-जन के जीवन को आलोक से भर दे। वही दीपक दीपक कहलाने का अधिकारी है, जो अपने से स्पर्श करने वाले बुझे हुए दीपक को ज्योतिर्मय बना दे।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह आत्मा के चप्पे-चप्पे में परिव्याप्त है। उसे बाहर से नहीं लाना है। उसके ऊपर पड़े हुए अज्ञान के आवरण को हटा दो, सारा जीवन ज्ञानालोक से आलोकित हो जाएगा।

ज्ञान और क्रिया में ज्ञान का महत्व सर्वोपरि है। ज्ञान के अनुरूप ही क्रिया की पर्याय शुद्ध-अशुद्ध या सम्यक्-असम्यक् कहलाती है। यदि ज्ञान सम्यक् है, विशुद्ध है, तो उसके साथ की जाने वाली क्रिया

भी सम्यक् कहलाएगी। यदि ज्ञान की अशुद्ध पर्याय है, तो उसके साथ की जाने वाली जिन भगवान के द्वारा प्ररूपित क्रिया भी, मिथ्या क्रिया कहलाएगी। अस्तु, क्रिया से ज्ञान में परिवर्तन नहीं आता, ज्ञान से क्रिया बदलती है।

देखने, जानने, समझने और परखने की शक्ति ज्ञान में है, क्रिया में नहीं। क्रिया अंधी होती है। इसमें गति अवश्य है, परन्तु सोचने-समझने की शक्ति नहीं है। ज्ञान से अनुप्राणित क्रिया ही व्यक्ति को लक्ष्य तक पहुँचा सकती है।

इसलिए जो क्रिया ज्ञान से संबद्ध नहीं है, विवेक के आलोक से आलोकित नहीं है, वह केवल रूढ़ि कहलाती है, जड़ परंपरा की संज्ञा से सुशोभित होती है। रूढ़ क्रियाओं एवं जड़ परंपराओं का अनुपालन करके आज तक न तो कोई संसार-सागर से पार हुआ है, और न कोई इससे संतरण कर सकेगा।

अपने स्वरूप को जानना ज्ञान है। जो अपने को जानता है, वह सब को जान सकता है। 'स्व' को जानने वाला 'पर' का ज्ञाता न हो, ऐसा हो नहीं सकता। क्यों कि एक में अनेकत्व, और अनेक में एकत्व अन्तर्निहित है। इसलिए पर को जानने के पूर्व स्व का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करो।

ज्ञानी वही है, जो अपने को जानकर अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करता है। अपने आप में निवसित होना ही मोक्ष है।

पर पदार्थों में रहना संसार है, और स्व स्वरूप में रहना मुक्ति है। मोक्ष और संसार में स्व-पर में स्थित होने का अन्तर है। ✶

•

जब व्यक्ति किसी वस्तु के एक पहलू को सुनकर-समझकर उसे मान लेता है, तो वह अंधेरे में भटकता है। वह वस्तु के सही स्वरूप को पहचान नहीं सकता। परन्तु जब वह वस्तु के दोनों पहलुओं को सुनता-समझता है, तब सब-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

एकान्तवाद अंधेरा है, धुंधलापन है। उसमें सत्य का आलोक नहीं है। अनेकान्त वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाला प्रकाश है। अनेकान्त के आलोक में सब-कुछ स्पष्ट है।

वस्तु में एक नहीं, अनेक धर्म हैं, तब उसे एक ही दृष्टि एवं एक ही अपेक्षा से कैसे समझा जा सकता है? एक दृष्टि से हम वस्तु के एक ही गुण को जान सकते हैं, समग्र वस्तु को नहीं। समग्र वस्तु को अनेकान्त के द्वारा ही जाना-पहचाना जा सकता है। ☆

समता

● १
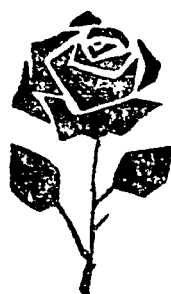
पदार्थ अपने आप में जड़ हैं। उनमें न विषय वासना उत्पन्न करने की ताकत है, और न वीतरागता उद्बुद्ध करने की शक्ति है। समता और विषमता, सरागता और वीतरागता—दोनों आत्मा में निहित हैं।

जब व्यक्ति अपने स्वरूप को समझ लेता है, तब कोई भी पदार्थ कोई भी शृंगार, एवं कोई भी कामोत्तेजक वस्तु उसे वासना एवं संसार की ओर घसीट नहीं सकती और जब व्यक्ति बाह्य पदार्थों में अपनत्व बुद्धि रखता है, तब तक कोई धार्मिक स्थान, धर्म-शास्त्र, एवं धर्म-गुरु उनके मन में समता के भाव जगा नहीं सकते!

समता, समाधि, सुख एवं आनन्द बाहर में नहीं, आत्मा में ही हैं। अपनी दृष्टि को अपने अन्दर मोड़ो, तुम्हें सब-कुछ अपने में ही उपलब्ध हो जाएगा।

फूल सदा कांटों में ही जन्मता है, कांटों में ही खिलता है, और कांटों में ही अपनी मधुर पराग, एवं अपरिमित सुवास फैलाता हुआ विकसित रहता है। परन्तु कांटों से अलग होने पर वह खिल नहीं सकता, विकसित नहीं रह सकता। भले ही उसे हार रूप में पिरोया जाए, या सेज पर सजाया जाए, या गुलदस्ते में लगाया जाए, वहाँ वह मुर्झाये बिना नहीं रहेगा।

विकास का पथ, अनन्त सुख की राह फूलों की सुवास से परिपूरित पगडंडी से नहीं, कांटों के मध्य से गुजरती है।

कांटों की तीक्ष्ण नोंक को सुरभित पुष्पों के रूप में परिवर्तित करने वाला, तथा कांटों की चुभन में भी आत्म-सुख की अनुभूति करने वाला साधक ही अव्याबाध सुख एवं आत्म-आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

सुख में प्रफुल्लित होकर अपने को भूलो मत, और दुःख में आहें भरकर, आँसू बहाकर अपनी राह से भटको मत। दुःख-सुख की धूप-छाँह में सम बने रहना ही आत्म-साधना है।

सुख-दुःख दोनों को कर्म-फल समझ कर समभाव से दोनों का संवेदन करने वाला साधक आवद्ध कर्म की निर्जरा करता है, और अपने कदम मुक्ति की ओर बढ़ाता है। समता मुक्ति का द्वार है, और विषमता संसार का द्वार है। ★
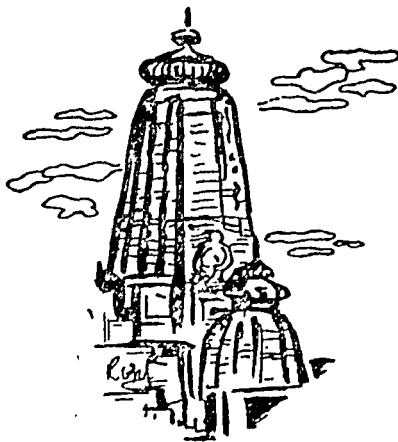
विचार और आचार

●

मुक्ति का आधार है—विचार और आचार। स्वयं के विशुद्ध चिन्तन-मनन से उद्भूत विचारों को जीवन में साकार रूप देना आचार है।

जिस सम्यक् साधना के द्वारा राग-द्वेष को क्षय किया जाए, आत्मा पर आए हुए कर्म-आवरण को हटाया जाए—आत्मा को कर्मों से रिक्त किया जाए, उसे चारित्र्य या आचार कहते हैं।

अपने विचारों पर पड़े हुए आवरण को अनावृत करके ही व्यक्ति मुक्ति के पथ पर बढ़ सकता है। दूसरों से विचार उधार लेकर व्यक्ति कदापि पूर्णता को नहीं पा सकता। आत्मज्योति का अनावृत करने के लिए यह अनिवार्य है, कि हम अपने विचारों पर से दूसरों के विचारों की गुलामी को उतार कर फेंक दें।

हम अपने सोचने-विचारने के तरीके को बदलें। यह सोचना छोड़ दें—हम अपूर्ण हैं, अज्ञानी हैं, पूर्ण बन नहीं सकते। हमारा विचार सत्य से दूर, बहुत दूर है, इसलिए पूर्व के महापुरुषों के विचारों की लीक पर ही चलना चाहिए।

हमें सदा अपने इस विश्वास को दृढ़ बनाना चाहिए—सत्य मेरे अपने अन्दर है, पूर्णता मेरी आत्मा में निहित है। क्यों कि जब तक व्यक्ति स्वयं को अल्पज्ञ समझने की भूल करके चिन्तन की गहराई में नहीं उतरता, तब तक वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन नहीं सकता। ★

अहिंसा

●

अहिंसा का इतना ही अभिप्राय नहीं है, कि किसी को नहीं मारना, किसी के प्राणों का नाश नहीं करना। किसी को नहीं मारना, यह अहिंसा का निषेध पक्ष है, और यह अर्थ सीमित एवं एक अंश से सत्य है।

केवल मारना ही हिंसा नहीं है, प्रत्युत किसी के शरीर को चोट पहुँचाना भी हिंसा है, किसी की वाणी पर एवं विचारों पर प्रहार करना भी हिंसा है, और किसी के मन पर आघात-प्रत्याघात करना भी हिंसा है। इसलिए अहिंसा के निषेध पक्ष में भी मारना मात्र नहीं, प्रत्युत मन, वचन एवं शरीर पर प्रहार करना भी हिंसा है।

हिंसा से द्वेषभाव जागृत होता है, वैर-विरोध की परंपरा बढ़ती है। अतः अहिंसा का अभिप्राय है, कि द्वेष, क्रोध, आवेश एवं ईर्ष्या को कम करना, या समाप्त करना।

वस्तुतः अहिंसा का अर्थ है—प्राणी मात्र के साथ प्रेम, स्नेह एवं वात्सल्य भाव रखना। सब को अपनी आत्मा के तुल्य समझ कर सब के साथ समानता का व्यवहार करना, सब का आदर, और सम्मान करना।

प्रत्येक प्राणी का अभ्युदय चाहना, प्रत्येक प्राणी के हित की एवं कल्याण की कामना करना, तथा उनके हित के लिए, कल्याण के

लिए, एवं अभ्युदय के लिए प्रयत्न करना, उनको सहयोग देना अहिंसा है।

दुःख एवं पीड़ा से त्रस्त व्यक्ति के दुःख को मिटाने का प्रयत्न करना, दुःखी जीवों के प्रति दया, करुणा एवं अनुकम्पा की भावना से उनके दुःख को कम करने का प्रयत्न करना, गिरते हुए व्यक्ति को सहारा देकर ऊपर उठाना—अहिंसा है। अहिंसा का प्रयोगात्मक रूप है—सब के प्रति समभाव रखते हुए निस्वार्थ भाव से यथासंभव सब के दुःख को दूर करने की भावना रखना, और विशुद्ध भावों के अनुरूप दुःख मिटाने का प्रयत्न करना।

परिवार, समाज, राष्ट्र, एवं विश्व के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना, और सब के हित, सुख एवं कल्याण का ध्यान रखना, तथा सब के सुख-दुःख में समविभाग बँटाने का प्रयत्न करना, अहिंसक का प्रथम कर्तव्य है।

प्रत्येक कार्य में विवेक रखना, और यत्नपूर्वक काम करना अहिंसा का सब से पहला, और महत्वपूर्ण पाठ है।

वस्तु छोटी हो या बड़ी, अल्प मूल्य की हो या बहुत मूल्य की, सजीव हो अथवा निर्जीव, किसी भी वस्तु का दुरुपयोग करना, किसी के उपयोग में आने वाली वस्तु को अनावश्यक होने पर भी नष्ट करना, दूसरे के उपयोग में नहीं आने देना, हिंसा है, घोरातिघोर पाप है।

व्यक्ति में किसी भी छोटे-से-छोटे प्राणी को बनाने की, उस की जिन्दगी का नव-निर्माण करने की क्षमता नहीं है, ऐसी स्थिति में उसे किसी की जिन्दगी के साथ खिलवाड़ करने का एवं किसी के बने बनाए घर को उजाड़ने का भी क्या अधिकार है? अस्तु, किसी के जीवन विकास को रोकना, किसी की जिन्दगी को समाप्त

करने का प्रयत्न करना, जघन्य अपराध है, नैतिक पतन है, और महाहिंसा है।

अहिंसा को जीवन में साकार रूप देने का एक ही मार्ग है—सब के साथ प्रेम करो, सब के साथ स्नेह रखो, सब का आदर करो, और किसी के मन को भी आघात मत पहुँचाओ। यदि तुम किसी के घावों पर मरहम नहीं लगा सकते हो, तो कोई चिन्ता की बात नहीं, परन्तु कम से कम किसी के घावों पर नमक तो मत छिड़को। ☆

सत्य

●

सत्य जीवन का प्रकाश है, आत्मा की उज्ज्वल-समुज्ज्वल ज्योति है। जिस व्यक्ति के जीवन में सत्य का ज्योतिर्मय दीप प्रज्वलित नहीं होता, वह प्रगति पथ पर बढ़ नहीं सकता। उसके चारों ओर सघन अंधेरा छाया रहता है। वह मताग्रह एवं हठाग्रह के गहन तिमिर में इतस्ततः भटकता एवं ठोकरें खाता रहता है, और राग-द्वेष के कांटों में उलझता एवं अपने साथियों को भी उनमें उलझाने का प्रयत्न करता है।

सत्य के सम्बन्ध में कुछ विचारकों का कहना है कि वह फूलों का नहीं, कांटों का मार्ग है। सत्यवादी सदा शूली पर लटकाया जाता है, और असत्य को स्वीकार करने वाला सोने के सिंहासन पर स्थान पाता है। इस कथन में सत्यांश तो है, पर पूर्ण सत्यता नहीं।

सत्यवादी को अनेक बार विभिन्न कठिनाइयों एवं बाह्य कष्टों को सहन करना पड़ता है। इतने पर भी सच्चाई यह है—सत्यवादी शूली पर भी सिंहासन से अधिक आत्म-आनन्द की अनुभूति करता है। वह कांटों में खिलने वाला गुलाब है, जो सदा कांटों में भी मुस-काता रहता है, अपनी मधुर महक विश्व के कण-कण में फैलाता रहता है। परन्तु इसके विपरीत असत्यवादी स्वर्ण-सिंहासन पर भी शूली के चुभन की अनुभूति करता है।

सत्यवादी के लिए शूली सिंहासन बन जाती है, नुकीले कांटे उसे

फूल-सी गुदगुदी देते हैं। परन्तु असत्यवादी के लिए सिंहासन भी शूली-सा बना रहता है। क्योंकि सत्पथ के पथिक का शरीर भले ही शूली पर पड़ा हो, उसकी आत्मा जन-जन के हृदय सिंहासन पर आसीन रहती है, जब कि असत्यवादी को जन-जन के मन में कदापि स्थान नहीं मिलता।

सत्य के सम्वन्ध में इतना लिखा गया है, कि उसका अनुशीलन-परिशीलन एवं अनुचिन्तन करते-करते जीवन परिसमाप्त हो जाए, तव भी बहुत-कुछ अध्ययन करना शेष रह जाएगा। इतने विशाल विचारों को यदि हम एक वाक्य में आबद्ध करना चाहें, तो सत्य की परिभाषा यह है—सत्य वही है, जो आत्मस्पर्शी, सीधा, सरल और स्पष्ट हो।

अर्थ शब्द का शरीर है, उसकी आत्मा है—सत्य-तथ्य। कथ्य वही है, जो तथ्य है।

यदि हम हृदय से उद्‌बुद्ध होने वाले यथार्थ भावों को सीधे, सरल और स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त न करके अर्थ के घुमाव-फिराव द्वारा उसकी यथार्थता को छुपाने का प्रयत्न करते हैं, उस पर अर्थ की चाशनी का पुट देकर जनता में या व्यक्ति के सामने प्रस्तुत करते हैं, तो वह आकर्षक, सुहावना एवं लुभावना तो प्रतीत हो सकता है, परन्तु सत्य नहीं हो सकता।

सत्य में घुमाव-फिराव की आवश्यकता नहीं रहती। उसमें अर्थ का मिठास नहीं, हृदय का मिठास, माधुर्य एवं स्वच्छता-पवित्रता होनी चाहिए। जो विचार शुद्ध हृदय से प्रस्फुटित होता है, वही सत्य है, वही तथ्य है, और वही कथ्य है।

हम अपनी आत्म-शक्ति एवं विशुद्धता को विस्मृति के गहन अंधकार में ढकेल कर यह समझ लेते हैं—हमारे विचार, और हमारा

चिन्तन तब तक सही नहीं हो सकता, जब तक वह आप्त पुरुष, धर्म-शास्त्र एवं पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित, प्ररूपित एवं उल्लिखित विचारों एवं दूसरों के विचारों के अनुरूप न हो। जब हम अपने एवं दूसरों के विचारों को आत्म-कसौटी पर कसकर नहीं परखते, परन्तु उन्हें पर की कसौटी पर कस कर सत्य मानने का प्रयत्न करते हैं, तो इसका परिणाम यह होता है कि कभी-कभी हम सत्य से दूर भटक जाते हैं। परतंत्रता व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकती। इसलिए हमारे सोचने-समझने का तरीका यह होना चाहिए—पूर्व पुरुषों के वे ही विचार सही एवं हमारे लिए उपयोगी हैं, जो हमारे आत्म-अनुभव से मिलते हैं, आत्म-चिन्तन के अनुरूप हैं। ✶

अस्तेय

•
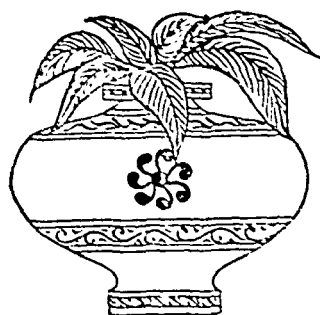
दूसरे के अधिकार की वस्तु को उसकी इच्छा के, उसकी भावना के, और उसकी आज्ञा के बिना अपने अधिकार में करना चौर्य-कर्म है। और अपने अधिकार की वस्तु में सन्तोष रखना, विना आज्ञा के दूसरे के अधिकार में रहे हुए पदार्थों को आवश्यक होने पर न तो ग्रहण करना, न दूसरे को ग्रहण करने का आदेश देना अथवा संकेत करना, और न ग्रहण करने की इच्छा एवं भावना रखना, अस्तेय अथवा अचौर्य-व्रत है।

स्तेय अथवा चौर्य-कर्म वस्तु एवं पदार्थों की छीना-झपटी तक ही सीमित नहीं है, किसी व्यक्ति के अधिकारों को छीनना, किसी व्यक्ति के विचारों को एवं साहित्य तथा कविता को अपने नाम से प्रचारित एवं प्रसारित करना भी चोरी है। और किसी व्यक्ति के उचित अधिकारों को उसे नहीं देना भी चोरी है।

किसी भी मानव के—भले ही वह किसी जाति, वर्ण, धर्म, पंथ एवं देश से सम्बन्धित क्यों न हो, मानवीय अधिकारों का अपहरण करना, हरिजन होने मात्र से उसे धर्म-स्थान में नहीं आने देना, देव-दर्शन एवं सन्तों के चरण-स्पर्श से वंचित रखना, कुएँ और तालाब पर पानी न भरने देना, उसके साथ अमानवीय व्यवहार करना भी चोरी है, और राजनैतिक अपराध ही नहीं, नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन भी है।

चोरी के अनेक कारणों में से एक कारण वस्तु का अभाव भी है। जीवन-यापन के साधन सुलभ न होने पर कुछ प्रामाणिक व्यक्ति भी

विवश हो कर चोरी के लिए प्रयत्न करते देखे जाते हैं। अतः समाज में अभाव की स्थिति को जानते हुए भी उसे समाप्त करने का प्रयत्न नहीं करना, और अपनी शक्ति का सम-विभाग नहीं करना भी चोरी है। पड़ोसी एवं उसका परिवार भूख से तड़प रहा हैं, और इस बात को जानते हुए भी स्वयं ऐशोआराम करते रहना, तथा चटपटे पदार्थ एवं मिठाइयों को उदरस्थ करते रहना भी, समाज की चोरी है, राष्ट्र की चोरी है, और मानव जाति की चोरी है।

अस्तेय व्रत के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति छीना-झपटी एवं जगत में प्रचलित चोरी का त्याग करना सीखे, और अपने उदर को भरने के पहले, दूसरे की बुभुक्षा को शान्त करने के लिए सक्रिय कदम उठाए। ★

ब्रह्मचर्य

•

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्य का संरक्षण करना, तथा स्त्री-पुरुष के संसर्ग एवं संभोग मात्र से बचना ही नहीं है। वह तो ब्रह्मचर्य का केवल व्यवहार पक्ष है। इसे बाह्य अथवा द्रव्य ब्रह्मचर्य कहा जा सकता है। यथार्थ एवं निश्चय दृष्टि से ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म=आत्मा में, चर्य=विचरण करना। आत्मा का आत्म-स्वरूप में, आत्म-भाव में अथवा स्व-स्वभाव में रमण करना, विचरण करना एवं स्थिर होना ही ब्रह्मचर्य है।

वस्तुतः स्व-स्वभाव से हटकर पर–स्वभाव में, पर–पदार्थ में रमण करना एवं परस्वभाव में आसक्त होना अब्रह्मचर्य है। स्व-स्वभाव ब्रह्म है और पर-स्वभाव, जो अपना नहीं है, वह अब्रह्म है, और अब्रह्म में रमण करना ही संसार है।

व्यवहार दृष्टि से स्त्री-पुरुष के संसर्ग, स्पर्श एवं संभोग से बचना तथा वीर्य का किसी नैतिक और अनैतिक अथवा व्यावहारिक एवं अव्यावहारिक तरीके से पतन नहीं होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य माना जाता है। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से एवं यथार्थ दृष्टि से यह ब्रह्मचर्य की स्थूल परिभाषा है, और एक सीमा एवं मर्यादा है।

पूर्ण-ब्रह्मचर्य का वास्तविक एवं सही अर्थ है—भोगेच्छा, भोगासक्ति एवं भोगों के प्रति रही हुई लालसा एवं वासना का परित्याग करना। वासना एवं भोगेच्छा स्त्री-पुरुष तक ही सीमित नही है—भले ही किसी भी पदार्थ के प्रति वासना है, आसक्ति है और उस

पदार्थ को भोगने की तीव्र इच्छा है, तो वह अब्रह्मचर्य ही कहा जाएगा।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए विषय-वासना एवं काम की ज्वाला से तो बचना ही चाहिए। परन्तु उसके लिए स्थान, शया, दृष्टि, कथावार्ता, भोजन, वस्त्र, शृंगार आदि में विवेक रखना भी आवश्यक ही नहीं, अत्यावश्यक है।

स्थान, खाद्य-पदार्थ, वस्त्र आदि को उपभोग में लेना, रूप आदि को देखना, कथा-वार्ता कहना, सुनना एवं करना, पूर्णतया त्याज्य नहीं है। साधक को यह सब कुछ करना पड़ता है। इनको करना मात्र ही अब्रह्मचर्य नहीं है। परन्तु इनमें आसक्त होना, इन पदार्थों में अपनत्व भाव रखना, और भोगोपभोग को ही जीवन का लक्ष्य मानकर इनमें संलग्न रहना, अब्रह्मचर्य है। इसलिए रूप, रस, गंध और स्पर्श-जन्य सुखों में आसक्त होना, इनको प्राप्त करने एवं भोगने की अभिलाषा रखना, अब्रह्मचर्य है, और इनकी आसक्ति एवं भोगेच्छा से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो कर आत्म-भाव में, स्व स्वभाव में रमण करने का प्रयत्न करना ही ब्रह्मचर्य की साधना है।

ब्रह्मचर्य के इस यथार्थ दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर भगवान पार्श्वनाथ ने अपने द्वारा उपदिष्ट चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में समाविष्ट कर लिया था। अपरिग्रह का अर्थ है—पदार्थ के प्रति रहे हुए ममत्व-भाव एवं पदार्थ के प्रति रही हुई आसक्ति का परित्याग करना। और यही अर्थ ब्रह्मचर्य का है। क्यों कि मैथुन सेवन में आसक्ति रहती ही है। जिस व्यक्ति के मन में विषय-भोग एवं भोग-उपभोगजन्य पदार्थों के प्रति ममता और आसक्ति नहीं है, वह कदापि मैथुन की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता।

भगवान महावीर ने अपने युग में साधक के मन की बदलती हुई स्थिति को देखकर और उसे सरलता से ब्रह्मचर्य के महत्व का परि-

बोध कराने के लिए इसे अपरिग्रह से अलग करके महाव्रतों की संख्या चार से पाँच कर दी। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उसके अर्थ में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए युग-युग से यह सत्य-तथ्य दोहराया जाता रहा है और युग-युग तक यह सत्य-तथ्य ही कथ्य बना रहेगा— भोगासक्ति एवं भोगेच्छा का त्याग करो। पर-पदार्थ को छोड़ने के पहले उसकी अभिलाषा एवं ममता को त्यागने का प्रयत्न करो। भोगेच्छा एवं भोग्य वस्तु के प्रति रही हुई ममता का परित्याग करना ही, साधक का खरा त्याग है, और यही साधक की सच्ची साधना है।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए स्थान, शय्या, आसन, भोजन, दृष्टि, कथा-वार्ता आदि के साथ आसन, प्राणायाम, ध्यान, चिन्तन एवं स्वाध्याय भी आवश्यक साधन हैं। और इसके लिए यह भी आवश्यक है, कि शरीर को और उसके साथ मन-मस्तिष्क को भी किसी कार्य में व्यस्त एवं संलग्न रखने का प्रयत्न करें। क्यों कि व्यक्ति आलसी बनकर बिना किसी काम के बैठा रह सकता है, परन्तु मन कभी खाली नहीं रह सकता। यदि व्यक्ति के पास मन के चिन्तन के लिए विचार नहीं हैं, तो उसमें विकारों की तरंगें तरंगित हुए बिना नहीं रह सकतीं। इसलिए मन को भी भरो, और प्रतिक्षण एवं प्रतिपल भरते रहो, पर विकारों से नहीं, विचारों से भरो। ★

अपरिग्रह

●

परिग्रह का सीधा और सरल अर्थ है—भली-भाँति ग्रहण करना। शाब्दिक दृष्टि से जो कुछ ग्रहण किया जाय—वह परिग्रह है। व्यक्ति तीन तरह के पदार्थों को ग्रहण करता है अथवा ग्रहण किए जाने वाले पदार्थों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—कर्म, शरीर और उपधि-पदार्थ।

आत्मा चेतन है, और कर्म जड़ है। कर्म आत्मा के स्वभाव से सर्वथा भिन्न है। अतः आत्मा ने कर्मों को ग्रहण कर रखा है। कर्म दो प्रकार के हैं—शुभ और अशुभ। दोनों ग्रहण किए हुए हैं, और कर्मों के कारण ही शरीर बनता, बिगड़ता और समाप्त होता है, तथा फिर से नया बनता है। इस कर्मजन्य शरीर को भी ग्रहण कर रखा है। और व्यक्ति भले ही वह कितना ही महान् साधक क्यों न हो, कर्म एवं शरीर के अतिरिक्त कुछ न कुछ पदार्थों को ग्रहण करता ही है। यहाँ तक कि वस्त्र का परित्याग करने वाले दिगम्बर मुनि भी कमण्डलु, मोरपिच्छ, घास, तख्त, शास्त्र आदि को ग्रहण करते ही हैं। अतः उक्त तीन प्रकार के परिग्रह से संसार का कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता।

इसलिए परिग्रह का अर्थ केवल पदार्थ को ग्रहण करना इतना ही नहीं है। उस का यथार्थ अर्थ है—पदार्थों के प्रति ममता, मूर्छा एवं आसक्ति भाव रखना। आसक्ति, तृष्णा एवं लालसा ही परिग्रह का मूल है। आसक्ति एवं तृष्णा की परिसमाप्ति ही परिग्रह की समाप्ति है।

पदार्थों पर ही नहीं, यदि शरीर पर भी ममत्व है, आसक्ति है, और शुभ कर्मों पर, अच्छे कार्यों पर एवं विचारों पर भी आसक्ति है, तो वह भी परिग्रह है। संकल्प-विकल्पों को एकत्रित करके रखना भी परिग्रह है।

आत्मा पुद्गलों से, शरीर से और कार्मण वर्गणा के पुद्गलों—कर्म-परमाणुओं से सर्वथा भिन्न है। वह चेतन है, और उसकी आत्म-परिणति चेतनता में ही होती है, जड़त्व में नहीं। वह ज्ञान स्वरूप है, दर्शन स्वरूप है और अपने ज्ञान एवं दर्शन के स्वभाव में ही परिणत होता रहता है। परन्तु यह परिणति दो प्रकार की होती है—स्वाभाविक और वैभाविक। स्वभाव में परिणमन करना शुद्ध कहलाता है, और विभाव में परिणमन करना अशुद्ध अथवा शुभ और अशुभ कहलाता है। शुभ और अशुभ दोनों वैभाविक गुण हैं, और आस्रव एवं बन्ध के कारण हैं अतः ये स्व-स्वभाव नहीं, पर-पदार्थ के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले विभाव हैं। अतः उन विभावों को—भले ही वे शुभ कर्म एवं शुभ तथा सुन्दर विचार भी क्यों न हों, अपना समझना, और उन पर आसक्ति रखना परिग्रह है। क्यों कि स्वभाव से हटकर विभाव में गति करने पर ही कर्म का बन्धन होता है, शरीर की प्राप्ति होती है, और पदार्थों को ग्रहण करना पड़ता है, तथा उन्हें ग्रहण करने की भावना जागृत होती है।

इसलिए परिग्रह का मूल है—विभाव को स्वभाव-सा मानकर उस में आसक्ति भाव रखना तथा उसी को सभी-कुछ मान लेना। यह सत्य है, कि शुभ भाव, शुभ विचार, शुभ उच्चार एवं शुभ आचार अशुभ को समाप्त कर के शुद्ध की ओर ले जाने में सहायक हो सकता है, परन्तु वही सब-कुछ नहीं है। क्यों कि वह भी वन्ध का कारण है।

यह सदा याद रखें—विभाव वन्ध का, संसार का कारण है,

और स्वभाव निर्जरा, संवर एवं मुक्ति का कारण है। विभाव में गतिशील बने रहना आस्रव एवं बन्ध है और स्व-स्वभाव तथा स्व-स्वरूप में स्थिर होना संवर एवं मुक्ति है।

साधक का यह परम कर्तव्य है, 'कि विभाव में सर्व-प्रथम अशुभ विचारों का त्याग कर के शुभ की ओर बढ़े, और धीरे-धीरे शुभ का परित्याग करके शुद्ध स्वभाव में स्थिर होने का प्रयास करे।

सब से भयंकर एवं महान् परिग्रह है–राग-द्वेष, काषायिक भाव, विषय-वासना से अनुरंजित विचार, और मन की अतृप्त तृष्णा, लालसा, आकांक्षा एवं कामना। इन अशुद्ध भावों से युक्त व्यक्ति ही परिग्रही है—भले ही बाह्य पदार्थ एवं धन-वैभव उसके पास अधिक हो, थोड़ा हो अथवा बिल्कुल न हो। ★

कर्म

●

कर्म जड़ है। उसमें न आत्मा को बांधने की शक्ति है, और न वन्धन से मुक्त करने की।

आत्मा के परिणामों में—जो राग और द्वेष की वैभाविक परिणति होती है, उससे कर्मों का वन्ध होता है। शुभ परिणामों से पुण्य का वन्ध होता है और अशुभ परिणामों से पाप कर्म का।

शुभ-अशुभ परिणामों के अनुरूप ही कर्म-वर्गणा के पुद्गलों में अच्छा या बुरा रस तीव्र या मन्द रूप में पड़ता हैं, और उसी के अनुसार वे अपना फल देते हैं।

राग-द्वेष वन्ध का मूल कारण है। साधना में भी जव तक राग-द्वेष रहता है, तव तक साधक कर्म-बन्ध से मुक्त नहीं होता। जव परिणामों में राग-द्वेष का पुट नहीं रहता, तब बन्ध नहीं होता। साधक के भावों में, विचारों में एवं आचरण में जब विशुद्धता आती है, तव कर्मों की निर्जरा होती है।

शुभ योग और अशुभ योग दोनों आस्रव हैं। इन से शुभाशुभ कर्म आते और बन्धते हैं।

शुद्ध योग संवर है। योग के रहते हुए भी उसमें राग-द्वेष की परिणति का नहीं होना, योग की विशुद्धता है। और यही ऐसी स्थिति है, जिसमें वन्ध नहीं होता है। ★

सुख–दुःख

शान्ति, सुख और आनन्द सोने-चाँदी के ढेरों में नहीं, सुख-साधनों को बढ़ाने में नहीं, प्रत्युत आवश्यकताओं को सीमित एवं मर्यादित करने में है।

जीवन जितना सीधा-सादा एवं सहज होगा, और आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी, मानव उतना ही अधिक सुखी होगा।

वस्तु में न सुख है, और न दुःख है। उस पर जो आसक्ति है, ममत्व बुद्धि है, उसमें दुःख है, और ममता के त्याग में सुख है। यही कारण है, कि करोड़ों और अरबों के वैभव से संपन्न व्यक्ति आसक्ति, ममत्व एवं तृष्णा के पाश से आबद्ध होने के कारण सुख की साँस नहीं ले सकता, आनन्द की वंशी नहीं बजा सकता, और शान्ति से सो नहीं सकता। जबकि अनासक्त व्यक्ति भौतिक सम्पत्ति के नाम पर कुछ भी नहीं होने पर अनन्त सुख-शान्ति की अनुभूति करता, सदा-सर्वदा आनन्द में रहता है।

तृष्णा, आसक्ति, कामना, इच्छा, वासना दुःख की जननी हैं। जब तक इनका अस्तित्व रहता है, तब तक मानव दुःख के ताप से बच नहीं सकता।

सन्तोष, अनासक्ति, निष्कामवृत्ति सुख का मूल है। इन गुणों से युक्त व्यक्ति किसी भी स्थिति में वेदना के आँसू नहीं बहाता।

सुख और दुःख पदार्थों में नहीं, मानव मन की कल्पना में निहित हैं, जब व्यक्ति आकांक्षाओं के सुन्दर, सुहावने एवं लुभावने दृश्यों को पकड़ने के लिए उनके पीछे बेतहाशा दौड़ता है, और उन्हें पकड़ने में सर्वथा या कुछ अंश में भी असफल रहता है, तो उसके पल्ले दुःख ही पड़ता है। और जब कल्पना के ऊपर से आकांक्षा के आवरण को हटा लेता है, तो उसे चारों ओर सुख का सागर ठाठें मारता हुआ परिलक्षित होता है। ★
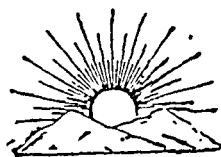
जीवन

●

जीवन की श्रेष्ठता का नाप-तोल धन-वैभव एवं बाह्य सुख-साधनों के पैमाने से नहीं किया जा सकता। क्योंकि श्रेष्ठता भौतिक साधनों में नहीं है। अनेक धन्ना सेठ जीवन-विकास की दृष्टि से देखने पर बिल्कुल दरिद्र मिलते हैं।

जीवन का सच्चा वैभव धन नहीं, धर्म है, मानव के अपने सद्गुण हैं। समता, सेवा, सहिष्णुता एवं कर्तव्यपरायणता आदि ही मानव का वास्तविक ऐश्वर्य है।

जीवन की परिपक्कता वर्षों एवं युगों तक जीने में नहीं, प्रत्युत विवेक एवं जीवन की कला में। विवेक एवं वैराग्य से सम्पन्न बालक भी वृद्ध माना गया है। भले ही, वह वयोवृद्ध नहीं, परन्तु ज्ञानवृद्ध वैराग्य एवं साधनावृद्ध अवश्य है। सुसंस्कारों से संस्कारित जीवन ही, वास्तव में परिपक्व जीवन कहा गया है।

जीवन—अपनी विचारधारा को, चिन्तन धारा को रोक देने में नहीं, गतिशील रखने में है। चिन्तन के प्रवाह को प्रवहमान रखना जीवन है, और उसका अवरुद्ध हो जाने का नाम—मृत्यु। ★

मन

●

मनुष्य के पास मन सब से बड़ी शक्ति है। मन के द्वारा ही वह कर्म के बन्धन में बंधता है, और उसी के द्वारा कर्म-बन्धन को तोड़-कर पूर्णतः मुक्त-उन्मुक्त बनता है।

मन ही मानव के लिए नाग-पाश है, और मन ही नागपाश को तोड़ने का प्रबल साधन है।

स्वर्ग और नरक—भले ही आकाश और पाताल में हों, परन्तु सब से पहले इनकी सृष्टि मानव के मन में होती है। अतः स्वर्ग-नरक और अपवर्ग को प्राप्त करने की कुंजी मानव के अपने हाथ में है।

मनुष्य चाहे तो मन की ताकत से स्वर्ग को नरक, और नरक को स्वर्ग एवं अपवर्ग के रूप में परिवर्तित कर सकता है।

मन का निरोध मन के द्वारा किया जा सकता है। राग और द्वेष-मय शुभ और अशुभ पर्याय को शुद्ध-विशुद्ध रूप में परिवर्तित करने पर मन का निरोध स्वतः हो जाता है।

मन की गति को रोकने की अपेक्षा उसे बदलने का प्रयत्न करें। मन को मारना नहीं, प्रत्युत मन को साधने का नाम ही साधना है।

मन के दो पक्ष हैं - हृदय और मस्तिष्क। हृदय का सम्बन्ध श्रद्धा से है, और मस्तिष्क का तर्क एवं बुद्धि से।

हृदय और मस्तिष्क—श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय—व्यक्ति को विकास के पथ पर अग्रसर करता है, मुक्ति की ओर ले जाता है।

जब व्यक्ति श्रद्धा से हटकर केवल बुद्धि के वशीभूत होकर सोचता-विचारता है, और उसीके आदेश से काम करता है, तो वह अपने पथ से भटक भी जाता है।

श्रद्धा-विहीन बुद्धिवाद व्यक्ति को भौतिकता एवं विलासिता की ओर ले जाता है। उससे विलास एवं विनाश के साधन तैयार करता है। वह जो कुछ सोचता है, वह भौतिक साधनों को बढ़ाने के लिए, और भौतिक शक्ति में अभिवृद्धि करने तथा तीक्ष्णता लाने के लिए है।

बुद्धिवाद के विकास में व्यक्ति सुख-साधनों को प्राप्त करने की दिशा में बेतहाशा दौड़ लगाता है। ज्यों-ज्यों सुख-साधनों का अम्बार लगता जाता है, त्यों-त्यों मानव मन की इच्छा, कामना, अभिलाषा एवं तृष्णा की भूख बढ़ती जाती है; और अथक प्रयत्न करने पर भी यह राक्षसी क्षुधा कभी शान्त नहीं हो पाती। यह समुद्र का बड़वानल कभी बुझन का नाम ही नहीं लेता। यही कारण है, कि मनुष्य को सुख के स्थान में दुःख, और अति दुःख ही प्राप्त होता है। अति सुख की अभिलाषा में दुःख मिलना स्वाभाविक है।

केवल बुद्धिवाद मनुष्य को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा करता है, तो विवेकहीन श्रद्धा मनुष्य को अंध-विश्वास की ओर ढकेलती है, जिससे विकास के द्वार बन्द हो जाते हैं।

विवेक से समन्वित श्रद्धा एवं बुद्धि ही जीवन विकास के द्वार उद्घाटित कर सकती है।

जिस श्रद्धा के साथ सम्यक् विवेक का अभाव है, और जो बुद्धि हृदय-श्रद्धा से संबद्ध नहीं है, वह श्रद्धा और बुद्धि मानव को पतन के गर्त से बचा नहीं सकती।

इसलिए जीवन-पथ पर विवेक की सर्चलाइट लेकर गति करें।★

मनुष्य अपने सम्बन्ध में जैसा चिन्तन-मनन करता है, जिस प्रकार के विचारों में संलग्न रहता है, जिस विषय पर अधिक गहराई से सोचता-विचारता है. क्रमशः वह तद्रूप बन जाता है।

मनन के अनुरूप ही व्यक्ति के कदम उठते हैं। अतः मनन-चिन्तन कर्म की जननी है।

व्यक्ति के विकास जौर पतन का मूल मनन में स्थिति है। सर्व-प्रथम विचारों का उद्भव मन में होता है, और उसके वाद वे ही विचार भाषा और कर्म के रूप में अवतरित होते हैं। अतः सबसे पहले मन को मांजने का, विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करें।

चिन्तन मनन, आग्रह, दुराग्रह एवं हठाग्रह से मुक्त होना चाहिए। व्यक्तिगत, साम्प्रदायिक. सामाजिक, जातीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आग्रह व्यक्ति के स्वस्थ चिन्तन के लिए बाधक चट्टानें हैं। आग्रह के इन पथ अवरोधक रोड़ों को हटाए बिना व्यक्ति न तो सत्य को समझ सकेगा, और न उसे प्राप्त ही कर पाएगा। ★
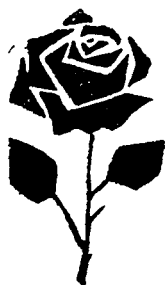
हृदय और मस्तिष्क

•

जीवन में दो शक्तियाँ है—हृदय और मस्तिष्क। हृदयहीन मस्तिष्क वाला व्यक्ति केवल तर्क-वितर्क में उलझा रहता है और कल्पना के आकाश में उड़ानें भरता है। वह सोचता है, विचारता है, कल्पना करता है—केवल अपने स्वार्थ को साधने को, अपना उल्लू सीधा करने को।

श्रद्धा जीवन का नवनीत है। ज्ञान को शुद्ध-विशुद्ध बनाने की शक्ति हृदय-श्रद्धा में निहित है। परन्तु ज्ञान-मस्तिष्क से अनुप्रेरित हृदय व्यक्ति को संसार से ऊपर उठा सकता है। ज्ञान के द्वार बन्द कर केवल हृदय के विश्वास पर चलने वाला व्यक्ति अन्धविश्वासों में भटक जाता है। उससे रुढ़िवाद जन्मता एवं पनपता है।

जीवन में हृदय-श्रद्धा और मस्तिष्क दोनों का महत्व है। दोनों के समन्वय एवं सहयोग से साधना का पथ प्रशस्त बनता है।

श्रद्धा की शुद्धि से ज्ञान में विशुद्धता आती है। ज्ञान से श्रद्धा को परखने की दृष्टि मिलती है, और दोनों की विशुद्धता से साधना सम्यक् एवं निर्दोष बनती है।

जब श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया का, हृदय, मस्तिष्क और पैरों का समन्वय होता है, तब व्यक्ति के लिए मुक्ति के द्वार स्वतः खुल जाते हैं।

मुक्ति के न द्वार हैं, और न वे खुलते या बन्द होते हैं। वे सदा-सर्वदा सब के लिए खुले हैं। द्वार खोलना है, तो अपने घट के

खोलो, अपनी साधना के द्वार उद्घाटित करो। फिर मुक्ति तुम्हारे निकट है।

मुक्ति कहीं बाहर नहो, व्यक्ति के अन्दर ही निहित है। जब आत्मा शुभ योग, और अशुभ योग से ऊपर उठकर शुद्ध योग में परिणत होता है, अपने आत्मभावों में रमण करता है, तो फिर उसे कोई शक्ति वन्धन में रख नहीं सकती। इसलिए मुक्ति के लिए बाहर न भटकें अपने अन्दर झांकें, वैभाविक परिणति से हटकर स्वाभाविक परिणति में आने का प्रयत्न करें।

वस्तुतः विभाव में रमण करना संसार है, और स्वभाव में रमण करना मोक्ष है। ★

युग-पुरुष

युग-पुरुष वह है, जिसके साथ युग का पूरा प्रवाह हो। जिसका चिन्तन सब का चिन्तन हो, जिसकी भाषा में सब अपना स्वर मुखरित करें, और जिसके कदमों पर सब अपने कदम बढ़ाएँ।

जो सब व्यक्तियों के सुख-दुःख के साथ अपने को जोड़ सके, सब के हित को, सुख को, कल्याण को अपने सामने रखकर सर्व-जन-हितार्थ अपने आपको मोड़ सके, और जो जन जन के मन के अज्ञान अंधकार को दूर कर सके, वही युग-पुरुष है, वही युग नेता है।

जो व्यक्ति अपने स्वार्थ को विराट बना लेता है, अपने स्वार्थ का परित्याग करके सब के स्वार्थ एवं हित की सुरक्षा करता है, वही युग-पुरुष बनता है।

पुरुष वह है, जो अपनी शक्ति से आगे बढ़ता है। अपने मार्ग का स्वयं निर्माण करता है। विघ्न-बाधाओं के काँटों और कंकरों को एक ओर हटाकर अपना पथ प्रशस्त बनाता है।

जो व्यक्ति हँसते-मुस्कराते हुए कठिनाइयों को सह नहीं सकता, निराशा के गहन अंधकार को आशा के सुनहरे प्रकाश में बदल नहीं सकता, वह पुरुष पुरुष नहीं है, जो लोह की शृंखलाओं को तोड़-मोड़ कर बन्धन मुक्त न हो सके, वह पुरुष कैसा ?

पुरुष वह है, जो अपने पुरुषार्थ से सब-कुछ साध सके, जिसके लिए असम्भव कुछ न हो।

पुरुष स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। वह चाहे तो अपने भाग्य की धारा को बदल सकता है। अशुभ को शुभ और शुद्ध में परिवर्तित करने की ताकत उसमें निहित है। ★

क्रोध

●

क्रोध एक आग है। वह अग्नि से भी भयंकर है। अग्नि उसी व्यक्ति को जलाती है, जो उसकी लपेट में आ जाता है। परन्तु क्रोध के दावानल में क्रोध करने वाला व्यक्ति तो जलता ही है और साथ में सारा परिवार भी जलन की अनुभूति करता है।

क्रोध के उदित होने पर व्यक्ति आत्म ज्ञान को भूल जाता है। उसके सोचने-समझने की शक्ति कुंठित हो जाती है। उस समय वह न सत्य को देख-परख सकता है, न सच्चाई को समझ सकता है, और न सच्ची बात को कह सकता है। इसलिए मनीषियों एवं महान् विचारकों ने क्रोधी व्यक्ति को अंधा कहा है।

क्रोध एक भयंकर तूफान है। वह जब आता है, तो सर्व प्रथम विवेक का दीप बुझ जाता है। व्यक्ति अज्ञान के अंधकार में भटकने लगता है। वह सच्चाई को समझ नहीं पाता है।

क्रोध मूर्खता से प्रारम्भ होता है, और उसकी परिसमाप्ति के पश्चात् पश्चात्ताप शेष रहता है।

क्रोध से क्रोध की टक्कर होने पर वह उसी प्रकार भभकता है, जिस प्रकार अग्नि में घी डालने पर वह अधिक तेजी से प्रज्वलित होती है। इसलिए क्रोधी व्यक्ति को क्रोध से बचाने का एक ही अमोघ उपाय है—क्रोध का उत्तर क्रोध की भाषा में नहीं, क्षमा एवं शान्ति की भाषा में देना।

क्रोध के जहर को पीकर उसे अमृत के रूप में उगलने वाला व्यक्ति भयंकर विषधर को भी निर्विष बना देता है।

क्रोध का उफान फ्रूट-साल्ट (Fruit-salt) जैसा है। जो आदमी उसे पीकर हजम कर लेता है, वह रोगों से मुक्त हो जाता है।

क्रोध से क्रोध बढ़ता है। दो बाँसों की रगड़ एवं टक्कर से आग पैदा होती है। परन्तु जब क्रोध के अंगारे बरसाने वाले व्यक्ति के सामने क्रोध का वातावरण ही नहीं रहेगा, सामने वाला व्यक्ति शान्त-प्रशान्त बना रहेगा, तो क्रोध की आग को बढ़ने का अवसर ही कहाँ मिलेगा ?

क्रोध पर विजय पाने का एक उपाय है—क्रोध के समय जबान और आँखें बन्द कर लो, एकान्त स्थान पर चले जाओ। अब तुम जो कुछ करना चाहते हो उस पर खूब सोचो-विचारो। आवेश में जितना अधिक रोष हो, उतने ही लम्बे समय तक विचार करो।

क्रोध के समय विलम्ब करना सर्व-श्रेष्ठ है। इससे क्रोध की आग को शान्त होने का अवकाश मिल जाता है।

क्रोध से प्रतिशोध की भावना को बल मिलता है, और उससे व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के जीवन में भयंकर परिणाम आते हैं, कभी-कभी उसका अन्त विनाश में होता है।

क्रोध आन्तरिक विकारों का परिणाम है। इसलिए वह एक बीमारी है। जिसे हम क्षणिक पागलपन भी कह सकते हैं। जिस के दिमाग के पुर्जे ढीले पड़ जाते हैं, वह सही बात सोच नहीं सकता, उसी तरह क्रोध के प्रवाह में प्रवहमान व्यक्ति भी न तो सत्य-तथ्य समझ सकता है, न उस पर सोच सकता, है और न उसका कथ्य भी सत्य से युक्त होता है।

क्रोध शक्ति नहीं, शक्ति-हीनता का, दुर्बलता का प्रतीक है। वह ज्ञान की नहीं, अज्ञान एवं अविवेक की निशानी है।

हम कीड़े-मकोड़ों, सांप-बिच्छुओं एवं अन्य जीव-जन्तुओं पर प्रहार करने की हिम्मत कर सकते हैं, उन्हें मौत के घाट भी उतार

सकते हैं, परन्तु दुःख है कि हम अपने अन्तर में स्थित क्रोध के विषधर को मारने का साहस नहीं कर सकते। यही हमारी कायरता है। व्यक्ति को, प्राणियों को मारने में कोई विशेषता नहीं है। विशेषता है क्रोध को, और क्रोध के उत्पादक विकारों को मारने में। शक्ति का सदुपयोग यही है—क्रोध आदि मनोविकारों पर विजय प्राप्त की जाए।

उबलते हुए पानी में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार क्रोध के समय व्यक्ति को आत्म-स्वरूप दिखाई नहीं देता ☆
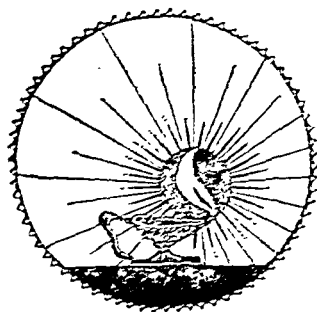
क्रूर व्यक्ति खूंखार भेड़िये एवं राक्षस से भी भयंकर होता है।

क्रूरता इन्सान का नहीं, शैतान का गुण है। वह व्यक्ति को इन्सान से हैवान बना देती है।

क्रूरता के हाथों में खेलने वाला व्यक्ति कोई भी सत्कर्म नहीं कर सकता।

क्रूर व्यक्ति केवल अपने ही स्वार्थ को देखता है उसका हृदय दया, करुणा, क्षमा एवं सहनशीलता से शून्य होता है।

क्रूर एवं अत्याचारी व्यक्ति से अधिक भाग्यहीन व्यक्ति कोई नहीं है। क्योंकि उसके जीवन-आकाश पर जब संकट, विपत्ति एवं दुःख-दर्द के बादल उमड़-घुमड़ कर छाने लगते हैं, तब उसे उस संकट में साथ देने वाला कोई मित्र नहीं मिलता। ★
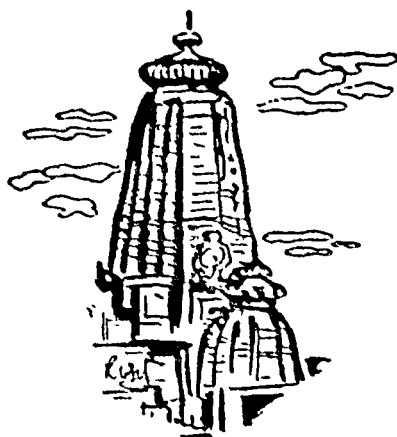
अहंकार

●

अहंकार व्यक्ति की दृष्टि को सीमित और संकुचित बना देता है। वह देखता भी है, और समझता भी है। परन्तु, उसकी देखने समझने की दृष्टि अपने तक ही सीमित रहती है। वह अपने आपको सबसे महान और महत्वपूर्ण व्यक्ति देखता है और अपने को ही सर्व श्रेष्ठ समझता है।

दूसरे की महानता, दूसरे का बड़प्पन, और दूसरे की गुणगरिमा को वह देख नहीं सकता, और न उसे स्वीकार ही कर सकता है। दूसरे के जीवन में रहे हुए हजार-हजार गुणों में कहीं एक छोटा-सा बुराई का धब्बा दिखाई दे जाय, तो अहंकारी व्यक्ति अपनी पैनी दृष्टि से उस नन्हे से धब्बे को पकड़ कर उसे विराट् रूप देकर उसकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाने का प्रयत्न करता है।

अभिमान के नशे में पागल बना व्यक्ति जहां कहीं जाता है, जिस किसी के पास बैठता है, वहाँ अपनी प्रशंसा के पुल बांधना शुरू कर देता है। उस में सबसे बड़ा रोग यह रहता है, कि वह अपनी सुनता रहता है, पर दूसरे की कभी नहीं सुनता।

बड़प्पन, महानता एवं श्रेष्ठता बुरी नहीं है। बुरा है, अपना मूल्यांकन स्वयं करना और स्वयं अपने मुख से अपनी प्रशंसा के गीत गाना। यदि दूसरा व्यक्ति किसी की श्रेष्ठता को समझकर उसका सम्मान करता है, आदर करता है, और उसके यश को फैलाने का प्रयत्न करता है, तो यह उचित ही है। परन्तु जब व्यक्ति स्वयं ही

अपने बड़प्पन का प्रचार करने का प्रयत्न करता है, तो इसे निम्न श्रेणी का कार्य ही कहा जायगा ।

अहंकार जीवन को पतन की ओर ले जाता है। अभिमान के शिखर पर चढ़ने वाला व्यक्ति एक दिन अवश्य गिरता है। रावण जैसे शक्ति-सम्पन्न सम्राट का अभिमान भी उस के, उस के परिवार के एवं राज्य के विनाश का कारण बना। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अहंकार नाश, विनाश एवं सत्यानाश का परिसूचक है। ★

तृष्णा एवं लोभ के वश में रहने वाले मानव का मन कदापि शान्त नहीं रहता। उस के मन-मस्तिष्क में सदा-सर्वदा विकल्पों का ज्वार आता रहता है, और वह रात-दिन अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने की चिन्ता में चिन्तित बना रहता है। न तो वह आराम से सो सकता है, और न शान्ति से रोटी भी खा सकता है। लोभ की तरंगें उस के मन-मस्तिष्क को किसी भी क्षण शान्त नहीं होने देती।

लोभ से स्वार्थ का जन्म होता है। और व्यक्ति, राष्ट्र, समाज एवं परिवार से सिमटते-सिमटते अपनी कारा में ही बन्द हो आता है। वह अपने स्वार्थों को पूरा करने की उधेड़-बुन में लगा रहता है। उसे अपने हित के अतिरिक्त अन्य किसी की कल्पना भी नहीं आती। अपने निकट के स्नेही-साथियों का भी हित करने का एवं उन की भलाई करने की तो वह कभी सोच ही नहीं सकता, प्रत्युत अपना शोषण करने के लिए वह दूसरों का शोषण तो करता ही है, परन्तु अपने परिजनों एवं हित-चिन्तकों का भी शोषण करने में वह संकोच नहीं करता।

भ्रष्टाचार, रिश्वत, अप्रामाणिकता, मिलावट, धोखा, विश्वास-घात, छल-कपट आदि सभी बुराइयों की जड़ लोभ है।

लोभ व्यक्ति को अन्धा बना देता है। आँखे होते हुए भी वह सत्य को देख नहीं पाता, सच्चाई को समझने का प्रयत्न नहीं करता। लोभ अन्तर की आँखों को बन्द कर देता है। ★

●

वह व्यक्ति, जो दूसरों की भूलों को, गलतियों को क्षमा नहीं करता है, उन्हें भूल नहीं जाता है, वह मित्रता के पुल को तोड़ देता है। जिससे उसका अपना विकास पथ अवरुद्ध हो जाता है।

यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है, कि वह दूसरे के दोषों को, अपराधों को एकदम भूल जाए, और उनके गुणों को सदा-सर्वदा स्मृति में बनाए रखे।

महान् और साधारण व्यक्ति में इतना ही अन्तर है, कि प्रथम दूसरे के गुणों को ग्रहण करता है, और दूसरे की दृष्टि दोषों पर रहती है। मधुमक्खी उन्हीं पुष्पों पर बैठती है, जिनमें पराग झर रहा है। वह गन्दगी की ओर कदापि आँख उठाकर नहीं देखती। परन्तु मक्खी गन्दगी पर भिनभिनाने में ही आनन्द की अनुभूति करती है।

क्रोध और क्षमा दोनों शक्तियाँ हैं—एक पाशविक शक्ति और दूसरी ईश्वरी शक्ति है। प्रथम में व्यक्ति अपने आपको एवं अपनी आत्म-शक्ति को भूल कर आवेश के प्रवाह में बह जाता है। उस समय उस की स्वयं की शक्ति कुंठित हो जाती है, और कषायों की पाशविक शक्ति उसपर अपना आधिपत्य जमा लेती है। परन्तु दूसरी में व्यक्ति अपनी शक्ति का विकास करता है, वह आवेश के क्षणों में भी अपने मन-मस्तिष्क का सन्तुलन नहीं खोता। प्रत्येक बात पर, और जो घटना जिस समय घट रही है, उस की यथार्थ

स्थिति पर गहराई से विचार कर के ठण्डे और शान्त दिमाग से निर्णय करता है, और क्षमा एवं शान्ति के द्वारा दूसरे के मन को जीतने का, वदलने का प्रयत्न करता है।

क्रोध में कटुता, जलन, वैर-विरोध और प्रतिशोध की भावना बनी रहती है। परन्तु क्षमा में इनका सर्वथा अभाव बना रहता है। क्षमाशील व्यक्ति के जीवन में सदा-सर्वदा शान्ति, सहिष्णुता, स्नेह, सौजन्य एवं मैत्री भावना का सागर लहर लहर-कर लहराता रहता है।

क्रोध को क्षमा के द्वारा परास्त करना, उपशान्त करना यही मानव की मानवता है, और यही साधना का परम उद्देश्य, और चरम लक्ष्य है।

विनय

विनय एवं नम्रता जीवन विकास का प्रथम सोपान है। विनयशील व्यक्ति ही ऊपर उठ सकता है, और अपने पथ पर आगे बढ़ सकता है। कठोर एवं अभिमानी व्यक्ति परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र में कहीं भी अपना स्थान नहीं बना सकता।

विनय एवं नम्रता धर्म का मूल है। धर्म का अर्थ है—आत्मा का स्वभाव। और आत्मा स्वभाव से कठोर नहीं है, अभिमान युक्त नहीं है। कठोरता एवं अहंकार बाहर से आए हुए वैभाविक गुण हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। आत्मा का स्वभाव है—विनम्र भाव। इसलिए विनयशील व्यक्ति ही अपने जीवन में धर्म को स्वीकार करता है, और उसका विकास कर सकता है। अस्तु, अपने जीवन को परिपूर्ण बनाने के लिए विनय और नम्रता सबसे पहली आवश्यकता है।

कठोर व्यति किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं पा सकता। वह जहाँ जाता है, वहाँ ठोकरें ही खाता है, जब कि विनम्र व्यक्ति अपने विनयशील स्वभाव के कारण प्रत्येक क्षेत्र में अप्रत्याशित सफलता प्राप्त करता है, और यत्र-तत्र-सर्वत्र सन्मान एवं आदर प्राप्त करता है।

अहंकार अत्मा का वैभाविक गुण है। आत्मा का पतन करने वाला है। इसलिए विनय एवं नम्रता को अपनाकर अहंभाव पर विजय प्राप्त करना मानव का महत्वपूर्ण कार्य है, और इसी में मानवता का विकास निहित है।

★

सरलता

●

सरलता, ऋजुता एवं निष्कपटता मानव का महत्वपूर्ण गुण है। सरल व्यक्ति सब क्षेत्रों में अपना विकास कर सकता है। और वह सबका विश्वास-पात्र वना रहता है।

धर्म की ज्योति वहीं प्रज्वलित होती है, जिसका हृदय शुद्ध-विशुद्ध होता है। विकारों एवं कषायों की गन्दगी से भरे-पूरे जीवन में धर्म का उदय नहीं हो सकता।

हृदय की विशुद्धि के लिए सरलता, ऋजुता, निष्कपटता और निश्छलता का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। सरलता के अभाव में हृदय का शुद्धिकरण नहीं हो सकता, और उसके हुए बगैर धर्म का, आध्यात्मिक-साधना का सहस्त्ररश्मि उदित नहीं हो सकता।

सरलता और निष्कपटता साधना की पहली भूमिका है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की परिभाषा यह है—माया, छल एवं वक्रता से युक्त व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है, और माया से रहित, सरल, निष्कपट एवं निश्छल हृदय वाला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है। माया मिथ्यात्व की प्रतीक है, और अमाया अथवा सरलता सम्यक्त्व की प्रतीक है।

माया, छल, कपट एवं वक्रता का परित्याग करना ही सम्यक्त्व की ज्योति को अनावृत करना है। और इसी नींव पर साधना का भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है। बिना सरलता के किसी भी प्रकार की साधना सफल नहीं हो सकती। इसलिए सरलता समस्त गुणों की जननी है। और माया समस्त दुर्गुणों का प्रसव करने वाली है।

★

सन्तोष

●

लोभ एवं तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है। उसके प्रवाह में प्रवहमान व्यक्ति को एक क्षण के लिए भी कहीं शान्ति नहीं मिल सकती है।

इस संसार में शान्ति और सुख का कोई स्थान है, तो वह सन्तोष है। सन्तोष के द्वारा ही व्यक्ति अपरिमित तृष्णा के प्रवाह को रोक सकता है, और उसके रुकने पर ही वह शान्ति की अनुभूति कर सकता है।

तृष्णा व्यक्ति को बाहर में भटकाती है। इसलिए व्यक्ति बाहर में सुख-शान्ति खोजता है। पर उसके हाथ लगता है—दुःख एवं अशान्ति। क्योंकि बाह्य पदार्थों में वही सब-कुछ है।

सन्तोष व्यक्ति को बाहर से हटाकर अन्दर की ओर मोड़ता है। वह अपनी आत्मा पर जमी हुई तहों को उठाकर अपने अन्दर ही शान्ति खोजता है। अतः तृष्णा का त्याग करते ही उसे शान्ति की अनुभूति होने लगती है। ज्यों-ज्यों वह बाहर से हटकर अन्दर की गहराई में उतरता है, त्यों-त्यों उसको अधिक से अधिक शान्ति प्राप्त होती है।

सन्तोष धन का प्रतीक नहीं, शान्ति और सुख का खजाना है। वास्तव में सुख धन में, पदार्थों में, एवं भोगों में नहीं, सन्तोष में है। इसीलिए यह कहावत—"सन्तोषी नर सदा सुखी"—शत-प्रतिशत सत्य है। ★

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज परस्पर संबद्ध हैं। व्यक्ति समाज से अलग रहकर न तो अपना विकास कर सकता है, और न अपना हित ही साध सकता है। क्योंकि बिना किसी के सहयोग के व्यक्ति किसी भी कार्य में सफलता नहीं पा सकता। उसका जीवन सहयोग पर ही आधारित है।

अनेक व्यक्तियों के मिलने पर परिवार बनता है। अनेक परिवारों के सम्मिलित होने पर समाज का निर्माण होता है। अनेक समाजों के संघटित रूप को राष्ट्र कहते हैं। और समस्त राष्ट्रों के समूह को विश्व कहते हैं।

परिवार, समाज, संघ, राष्ट्र एवं विश्व के मूल में व्यक्ति है। अस्तु व्यक्ति के लिए जैसे परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व का महत्व है, वैसे ही परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिए व्यक्ति का व्यक्तित्व भी महान् है।

समाज के गौरव में व्यक्ति का गौरव सुरक्षित है, उतना ही सत्य यह भी है, कि व्यक्ति के विकास में समाज का विकास निहित है। क्योंकि व्यक्ति समाज से भिन्न नहीं है, और समाज भी व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं है। समाज में व्यक्ति है, और व्यक्ति के व्यक्तित्व में समाज का अस्तित्व निहित है।

व्यक्ति का व्यक्तित्व अपने लिए महत्वपूर्ण है। उसका अपना विकास, अपना उत्थान स्वयं अपने हाथ में है। परन्तु उसके लिए समाज, संघ एवं राष्ट्र का सहयोग आवश्यक है।

जिस समाज एवं जिस संघ के सहयोग से व्यक्ति आगे बढ़ता है

और प्रगति के पथ पर कदम बढ़ाता है, उस समाज एवं संघ का आदर एवं सन्मान करना, और उसके महत्व को बढ़ाना व्यक्ति का कर्तव्य ही नहीं, परम धर्म है। इसलिए आगम-साहित्य में संघ-सेवा को सर्व-श्रेष्ठ बताया है।

संघ को, समाज को सुव्यवस्थित करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। क्योंकि संघटन ही शक्ति है, और संघटन में समाज का जीवन सुरक्षित है। वस्तुतः संघटन संघ एवं समाज का प्राण है, और विघटन मृत्यु।

संघ को संघटित करना, सुव्यवस्थित करना धर्म है, और विघटित करना, तथा उसमें संघर्ष एवं तनाव का वातावरण पैदा करना पाप ही नहीं, महापाप है।

आगम में ब्रह्मचर्य महाव्रत का भंग करना पाप का कार्य कहा है। परन्तु संघ में फट डालने के कार्य को महापाप एवं जघन्य अपराध कहा है। साधु के लिए इससे बढ़कर, और अधर्म का कार्य क्या हो सकता है ?

आगम-साहित्य में ब्रह्मचर्य के भंग करने वाले साधु को आठवें प्रायश्चित्त—नव दीक्षा देने का विधान है। परन्तु संघ में छेद भेद और फूट डालने वाले तथा संघर्ष के बीज बोने वाले साधु को दसवां पारंचियप्रायश्चित्त बताया है। उसमें साधु को ६ महीना संघ से अलग रहकर विविध प्रकार की तप-साधना करनी पड़ती है, और उसके बाद वेश परिवर्तन करके उसे पुनः दीक्षा दी जाती है।

विघटन एवं संघर्ष उत्पन्न करने से तथा तनाव का वातावरण तैयार करने से रागद्वेष बढ़ता है। राग-द्वेष से कर्म-बन्ध होता है, संसार बढ़ता है। इसलिए साधक को संघ में, समाज में विघटन का नहीं, संघटन का वातावरण तैयार करना चाहिए। क्योंकि विघटन करना पाप है, और संघटन करना धर्म है। ★

वाणी का विवेक

बोलने में यदि विवेक हो तब ही आदर मिलता है, अन्यथा जूते भी पड़ जाते हैं। यदि विवाह के समय कोई व्यक्ति 'राम-नाम सत्य है' । का उच्चारण करता रहे, तो उसकी पूजा हुए बिना नहीं रहती ।

संपूर्ण शरीर में जीभ ही ऐसा स्थान है, जिसमें हड्डी नहीं है। इसलिए कठोर शब्द बोलना प्रकृति के भी विरूद्ध है ।

सांप का जहर जंत्र-मंत्र से उतारा जा सकता है, तलवार का घाव मरहम-पट्टी से भर सकता है, परन्तु वचन का जहर जिसको चढ़ जाता है, या वाणी का घाव जिसको लग जाता है, वह भव-भवान्तर तक नहीं उतरता, नहीं भरता । इसलिए वाणी सँभल कर बोलनी चाहिए ।

प्रकृति ने दो कान और एक जबान दी है। इसका अर्थ है—सुनो अधिक, और बोलो कम ।

अच्छे-बुरे और छिछले एवं गहरे हृदय को मापने का मापक-यन्त्र जबान ही है।

झांझर या पायल अधिक आवाज करती है, इसलिए उसे पैरों में पहनते हैं, और हार आवाज नहीं करता एवं मुकुट में से ध्वनि नहीं निकलती, इसलिए हार को गले में पहनते हैं, और मुकुट को सिर पर रखते हैं। परिमित एवं विवेक से बोलने वाले व्यक्ति का सब आदर करते हैं।

अमृत देवों की सम्पत्ति है, और मधुर वाणी मनुष्यों की सम्पत्ति है। अमर अमृत पीकर भी अन्त में मरते हैं, परन्तु मधुर-भाषी व्यक्ति का माधुर्य कभी नहीं मरता ।

★

प्रार्थना

१.

वर्तन मिट्टी एवं हाथ आदि के स्पर्श से गन्दा हो जाता है। और मकान में भी हवा, आंधी एवं आवागमन के कारण कचरा आ जाता है। इसलिए वर्तन को मांजकर-धोकर साफ किया जाता है, और मकान को झाड़ू लगाकर उसमें से कूड़े-कर्कट को निकालकर वाहर फेंकते हैं। यदि वर्तन और मकान को प्रति-दिन साफ-स्वच्छ नहीं किया जाए, तो वह खाने-पीने के एवं रहने के योग्य नहीं रहेगा। इसी तरह यदि मन, मस्तिष्क एवं हृदय को प्रार्थना से साफ नहीं किया जाए, तो वह शैतान का घर बन जाएगा।

२.

वांसुरी को बनाने वाला कलाकार उसे पोली कर देता है, तब उसके छिद्रों में मधुर स्वर-लहरी प्रस्फुटित होती है। जब तक बांसुरी के बीच का स्थान रिक्त एवं खाली नहीं होता, तब तक उसमें मधुर स्वर नहीं निकल सकता। यदि रिक्त स्थान में कचरा इकट्ठा हो जाए, तब भी उसमें से मधुर राग नहीं निकल सकेगी। उसके लिए कचरे को साफ करना होगा। इसीप्रकार जबतक मन में क्रोध, मान, माया और लोभ का कचरा भरा होगा, तब तक जीवन में से प्रार्थना का मधुर एवं भक्ति-रस से आप्लावित स्वर नहीं निकल सकेगा।

३.

सितार में तीन तार होते हैं। जब तक तीनों तारों में एक-रूपता, एक-समानता नहीं रहती, तब तक सितार में से झंकार नहीं निकल

सकती। यदि सितार का एक भी तार अति कसा हुआ है, या अति ढीला है, तब भी वह राग का अवरोधक है। उसमें लय पैदा करने के लिए तारों में न अधिक शिथिलता चाहिए और न अधिक कसा हुआ बन्धन। इसी तरह मन, वचन और कर्म के तीनों तारों में एक-रूपता आएगी, तभी प्रार्थना एवं साधना सफल हो सकेगी। इसकेलिए जीवन-सितार में एक-रूपता का होना आवश्यक है।

४.

शेर जंगल का निर्भय, निडर एवं सशक्त प्राणी है। वह जंगल में जहाँ रहता है, वहाँ निडरता के साथ रहता है। जिस गुफा में वह रहता है, वहाँ दूसरे पशु नहीं रहते। यदि पहले रहते हों, तो उसके गुफा में प्रवेश करते ही वे वहाँ से भाग जाते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में प्रभु का निवास होता है, वहाँ राग-द्वेष एवं कषाय आदि विकार नहीं रहते। व्यक्ति के जीवन में आत्म-भाव एवं परमात्म-भाव के आते ही, विकार-भाव नष्ट हो जाते हैं।

५.

पानी अपने आप में शीतल एवं ठण्डा है। परन्तु आग का संयोग पाकर गर्म हो जाता है। जब तक पानी के वर्तन के नीचे अग्नि रहेगी, कोयले जलते रहेंगे, तब तक उस पानी में चाहे जितनी बर्फ डाल दो, फिर भी वह शीतल नहीं बन सकेगा। बर्फ एवं पंखे की हवा उसे ठण्डा नहीं कर सकेगी। उसी तरह जिसके मन में कषायों का दावानल सुलग रहा है, उसे तब तक शान्ति नहीं मिल सकती, जब तक वह कषायों की आग को निकाल कर नहीं फेंक देगा।

६.

घास-फूस का बहुत बड़ा ढेर लगा है। कई टन घास का पहाड़-सा खड़ा है। परन्तु इतने बड़े ढेर को समाप्त करने के लिए, जला-

कर भस्म करने के लिए, छोटी-सी चिनगारी पर्याप्त है। यदि कोयलों का ढेर भी खड़ा कर दिया जाए, तो वह घास के ढेर को तो क्या, एक तिनके को भी जला नहीं सकता। परन्तु जलती हुई चिनगारी थोड़ी-सी भी क्यों न हो, वह उसके लिए पर्याप्त है। इसी तरह ज्ञान एवं विवेक के तेज से, आत्म-ज्योति से प्रज्वलित प्रार्थना लाखों-करोड़ों भवों के पाप को नष्ट करने में समर्थ है।

७.

पारस-मणी में यह शक्ति है, कि वह लोहे को छूकर सोना बना देती है। पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण के रूप में बदल जाता है। परन्तु पारस में यह क्षमता नहीं है, कि वह लोहे को पारस बना दे, अपने जैसा बना दे। पर, प्रार्थना में, साधना में यह शक्ति है, कि इन्सान को भगवान बना देती है।

८.

विद्युत के दो तार होते हैं—एक नेगेटिव और दूसरा पोजेटिव। यदि दोनों तार अलग-अलग रखकर बल्ब के साथ जोड़े जाएँ, तो बल्ब में प्रकाश नहीं आएगा। जब दोनों तारों को एक साथ मिलाकर बल्ब के साथ उनको जोड़ा जाएगा, तब बल्ब ज्योति से जगमगा उठेगा। उसी तरह ज्ञान और क्रिया का समन्वय होने पर ही जीवन ज्योतिर्मय बन सकेगा।

९.

जब मेघ उमड़-घुमड़ कर आते हैं, और हजारों-हजार धाराओं से बरसने लगते हैं, तब पृथ्वी का ताप, उष्णता एवं शुष्कता नष्ट हो जाती है और धरा का सारा वातावरण हरा-भरा एवं सुहावना हो जाता है। ठीक उसी तरह जब जीवन में प्रार्थना के बादल बरसते हैं, तो पाप का ताप नष्ट हो जाता है और जीवन के कण-कण में शान्ति का सागर लहर-लहर कर लहराने लगता है।

१०.

तिजोरी में सब-कुछ है, और उसकी चावी भी है, परन्तु जब तक ताले में चावी नहीं लगाओगे, तब तक तिजोरी में से कुछ भी निकलने वाला एवं मिलने वाला नहीं है। उसी प्रकार सब-कुछ—सुख-शान्ति, आनन्द एवं आत्म-निधि तुम्हारे अपने अन्दर है। जब प्रार्थना एवं आत्म-साधना की चावी लगाओगे, तब सब-कुछ अपने अन्दर ही पाजाओगे।

११.

सूर्य के उदय होते ही, रजत-रश्मियों के फैलते ही, अंधेरा उजेले में बदल जाता है। धरा पर कहीं भी अंधकार का नामोनिशान नहीं मिलता। इसी प्रकार अध्यात्म-ज्ञान, आत्म-ज्योति का, परमात्म-स्वरूप का सूर्य उदित होते ही अज्ञान का एवं काम-क्रोध का अंधकार कितना ही सघन क्यों न हो, नष्ट हो जाता है।

१२.

वीर-योद्धा महाराणा प्रताप का भाला एवं तलवार आज भी संग्रहालय में रखे हैं। वे वीरता का प्रदर्शन अवश्य करते हैं, परन्तु वीरत्व की शक्ति को प्रकट नहीं करते। क्योंकि उन्हें चलाने वाला शक्तिशाली एवं ताकतवर योद्धा नहीं रहा। इसी तरह भगवान की प्रार्थना तो है शक्रेन्द्र ने जो स्तुति की वह भी विद्यमान है। परन्तु जब तक वे भाव हृदय में उद्बुद्ध नहीं होते, तब तक राग-द्वेष रूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल सकती।

१३.

लड्डू खाने में मीठा होता है। उसके लिए कोई समय निश्चित नहीं है। चाहे जब खाओ और चाहे जो खाये—चाहे बालक, बुड्ढा, जवान, स्त्री, पुरुष, शूद्र, पण्डित कोई खाये, वह सदा-सर्वदा एवं

सत्संग

●

१.

लट सतरह दिन तक भ्रमरी के साथ रहती है, उसकी मधुर गुंजार सुनती है और उसके स्वभाव को अपने रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न करती है, तो वह लट से भ्रमर बन जाती है। इसी तरह सत्संग से व्यक्ति स्व-स्वरूप को पहचानकर उस ओर कदम उठाता है, तो नर से नारायण बन जाता है।

२.

पारस लोहे को स्वर्ण बना देता है। परन्तु यदि पारस कागज के या अन्य पदार्थ के आवरण से आवृत्त हो, अथवा लोहे पर जंग लगा हुआ हो तो वह स्वर्ण नहीं बनता। लोहा भी जंग से रहित हो और पारस भी अनावृत्त हो, तब लोहे से पारस का स्पर्श होते ही वह सोना बन जाता है। इसी तरह सत्संग के समय यदि मन संसार एवं कषायों में लगा रहता है या उस पर वासना का जंग चढ़ा हुआ है, तो सत्संग का उस पर असर नहीं होता। इसके लिए वासना एवं कषायों के संग का त्याग करना आवश्यक है।

३.

पत्थर की चट्टान यात्रियों के पैरों तले कुचली जाती है, सरिता का प्रवाह उसके ऊपर तीव्र प्रहार करके उसको तोड़ता रहता है, परन्तु जब वह कुशल एवं योग्य कलाकार के हाथ में पहुँच जाती है, तब वह भगवान की प्रतिमा बन जाती है और जन-जन के मन का

आदर-सम्मान पाती है, इसी तरह सत्संग को पाकर, संत जनों की कृपा को पाकर, व्यक्ति भगवान बन जाता है।

४.

चन्दन का वृक्ष भी छाया देता है और कोंच का पेड़ भी। परन्तु चन्दन के नीचे बैठोगे तो तुम्हारा तन-मस्तिष्क सुवास, सुगन्ध से भर जाएगा, तरोताजा बन जाएगा और कोंच के नीचे बैठ गए तो उसके पत्तों का स्पर्श पाते ही शरीर में खुजली चलने लगेगी। इसी तरह सत्संग में बैठोगे तो शान्ति एवं आनन्द की सुवास मिलेगी और कुसंग में बैठे तो दुःखों की गन्दगी लेकर जाओगे।

५.

संखिया, पारा, सोमलखार आदि पदार्थ विष कहे गए हैं। इनको खाते ही व्यक्ति मर जाता है। परन्तु योग्य वैद्य रसायन के द्वारा इन्हें अमृतमय बना देता है, संजीवनी बूटी के रूप में परिवर्तित कर देता है। उसी प्रकार सन्त पापी एवं दुष्ट व्यक्ति को भी अपनी संगत में आने पर धर्मात्मा बना देते हैं।

६.

खाली बाल्टी को कुएं में डालने में जोर नहीं लगता। रस्सी को ढीली छोड़ते जाओ वह सहज ही गिरती जाएगी। परन्तु पानी से भरने के बाद उसे निकालने में जोर लगाना पड़ता है। इसी तरह पतन के महागर्त में गिरने में कोई जोर नहीं लगता है। जोर लगता है, गड्ढे में से ऊपर आने में, महानता की ओर बढ़ने में।

७.

नीम की लकड़ी या सागवान की लकड़ी चन्दन के साथ रख दी जाए, तो वह भी चन्दन—जैसी सुगन्धित बन जाती है। उसी प्रकार महापुरुषों की संगत पाकर साधारण व्यक्ति भी महान् बन जाता है।

हैं। फिटकरी के घुलते ही कचरा नीचे बैठ जाता है, और पानी साफ एवं निर्मल बन जाता है। उसी तरह आत्म-प्रदेशों पर आवृत्त कर्म-मल को दूर करने के लिए आत्म-ज्ञान एवं अध्यात्म-साधना की फिटकरी फिराना आवश्यक है। आत्म-स्वरूप को जाने बिना, आत्म-स्वरूप पर विश्वास किए बिना, और आत्म-स्वरूप में स्थिर हुए बिना व्यक्ति कर्म-मल को समाप्त नहीं कर सकता।

७.

पक्षी अनाज के दानों के लोभ में आकर जाल में फँस जाते हैं। उसी तरह आत्मा पुद्गलों में आसक्त होकर कर्म-बन्धन के जाल में फँस जाता है। ★

कर्म

●

१.

खंदक ने एक काचरे के (फल) के छिलके उतारे। छिलके को तोड़े विना पूरा का पूरा उतार लिया। अपनी इस कुशलता पर वहुत प्रसन्न हुए, फूले नहीं समाए और अपनी तारीफ के पुल वांधने लगे। परिणाम यह हुआ, कि साढ़े वारह करोड़ भव के वाद उस समय वांधे हुए कर्म उदय में आए, और उनके शरीर की चमड़ी उतार ली गई।

२.

जलती हुई आग में हाथ डालो तो वह जलेगा ही। हथेली पर अंगार रखोगे तो छाला अवश्य पड़ेगा। इसमें आग का क्या दोष है। वह तो अपना कार्य करेगी ही। जैसा कर्म किया है या कर रहे हो, उसका उसी रूप में फल मिलेगा ही।

३.

हलवाई की दुकान से मिष्टान्न एवं अन्य पदार्थ लाकर प्रतिदिन खाते समय मजा आता है, स्वाद आता है एवं आनन्द आता है। परन्तु वर्ष पूरा होते ही जव उसका विल सामने आता है, तव नानी याद आने लगती है, चिन्ता से मुंह पीला पड़ जाता है। कर्म करते समय व्यक्ति चिन्ता नहीं करता, पर जव उसका फल भोगना पड़ता है, उस समय रोता है। यही अज्ञान है और यही संसार का कारण है।

४.

भंग पीने वाला व्यक्ति भंग के नशे में बेभान होकर अंट-संट बकने लगता है। भंग पीने पर उसका नशा आता ही है। इसी तरह कर्म करने पर उसका फल भी समय पर मिलता ही है।

५.

तलाव में पानी शान्त एवं स्थिर रहता है। परन्तु हवा के झोंकों से प्रेरित होकर उसमें तरंगें तरंगित होती रहती हैं। आत्मा स्वभाव से स्थिर है। स्व-स्वभाव में रहने पर वह स्थिर ही रहेगी। परन्तु पर-भाव एवं कषाय-भाव में आसक्त होने के कारण उसमें वैभाविक तरंगें तरंगित होती रहती हैं।

★
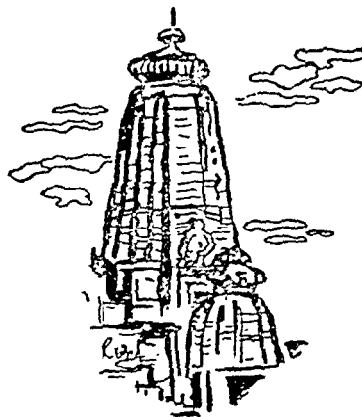
१.

हवा एवं तूफान के कारण सागर में लहरें लहर-लहर कर उछलती हैं, नाचती हैं और अन्त में सागर के किनारे से टकरा कर नष्ट हो जाती हैं। इसी तरह राग-द्वेष एवं कषायों के वेग के कारण मानस सागर में तरंगें उठती हैं और नष्ट होती हैं। राग-द्वेष एवं कषाय-भाव रहता है, तब तक मन में तरंगे तरंगित होती ही रहती हैं, संकल्प और विकल्प की लहरें उठती ही रहती हैं।

२.

संसार में जितने प्रकार के रोग हैं, उन का मूल कारण पेट का विकार है। इसी प्रकार संसार के समस्त दुःखों की जड़ मन का विकार है। गुजराती में एक कहावत है—"जेनुं मन वगडे, तेनुं जीवन वगडे।" अर्थात् जिसका मन बिगड़ जाता है, विकारों से भर जाता है, उसका जीवन भी बिगड़ जाता है।

३.

शरीर क्रिया करता है। उससे कर्म आ सकते हैं, परन्तु उससे न तो पुण्य का बन्ध होता है, और न पाप का। पाप और पुण्य न तो शरीर में हैं, न इन्द्रियों में हैं और न पुद्गलों में हैं। परन्तु इन्द्रिय एवं शारीरिक क्रिया के साथ जब मन का योग, और परिणाम—

शुभ या अशुभ का संयोग होता है, तब पाप-पुण्य बंधता है। मन में संसार—कषाय-भाव है, तो पाप-पुण्य बंधेगा। मन में से संसार को निकाल दें. फिर न पुण्य बंधेगा और न पाप।

४.

बर्तन को रोज मांजकर साफ करते हो। शरीर को भी साबुन से धोकर साफ रखते हो। परन्तु जब तक मन पर जमी हुई कषायों की गंदगी को मांजकर मन को साफ नहीं करोगे, तब तक संसार से मुक्त नहीं बन सकते।

तप-साधना

●

१.

अग्नि जलाने का काम भी करती है, और पकाने का भी कार्य करती है। घास-फूस आदि जो भी आग में डालो उसे वह जलाकर समाप्त कर देती है और भोजन को पकाकर खाने योग्य बनाती है। तप भी आन्तरिक अग्नि है। वह कर्म मैल को जलाकर भस्म कर देती है। इस आग में शारीरिक एवं मानसिक विकार जल कर नष्ट हो जाते हैं। और हृदय शुद्ध, पवित्र एवं मधुर बन जाता है।

२.

ताले को व्यक्ति बन्द भी करता है और आवश्यकता पड़ने पर खोलता भी। परन्तु उसके लिए चावी, कुंजी (Key) एक ही होती है। जिस चावी से ताला बन्द किया जाता है, उसी से खुलता है। ऐसा कभी नहीं होता, कि बन्द करने की चावी अलग होती है, और खोलने की अलग। उसी तरह कर्म बन्ध और कर्म की निर्जरा, दोनों परिणामों की धारा पर निर्भर है। कषाय एवं राग-द्वेष युक्त परिणामों से कर्म-बन्ध होता है, और तप के भावों से निर्जरा होती है। परिणामों में राग-द्वेष के ताप को निकाल देना ही निर्जरा का कारण है।

३.

कुंभकार मिट्टी के कच्चे घड़े को आग में तपाता है, तो वह परिपक्व हो जाता है। उसी प्रकार तप की आग में तपकर मन भी कर्म-बन्धन को तोड़ने में अशक्त हो जाता है।

शुभ या अशुभ का संयोग होता है, तब पाप-पुण्य बंधता है। मन में संसार—कषाय-भाव है, तो पाप-पुण्य बंधेगा। मन में से संसार को निकाल दें. फिर न पुण्य बंधेगा और न पाप।

४.

बर्तन को रोज मांजकर साफ करते हो। शरीर को भी साबुन से धोकर साफ रखते हो। परन्तु जब तक मन पर जमी हुई कषायों की गंदगी को मांजकर मन को साफ नहीं करोगे, तब तक संसार से मुक्त नहीं बन सकते।

तप-साधना

●

१.

अग्नि जलाने का काम भी करती है, और पकाने का भी कार्य करती है। घास-फूस आदि जो भी आग में डालो उसे वह जलाकर समाप्त कर देती है और भोजन को पकाकर खाने योग्य बनाती है। तप भी आन्तरिक अग्नि है। वह कर्म मैल को जलाकर भस्म कर देती है। इस आग में शारीरिक एवं मानसिक विकार जल कर नष्ट हो जाते हैं। और हृदय शुद्ध, पवित्र एवं मधुर बन जाता है।

२.

ताले को व्यक्ति बन्द भी करता है और आवश्यकता पड़ने पर खोलता भी। परन्तु उसके लिए चाबी, कुंजी (Key) एक ही होती है। जिस चाबी से ताला बन्द किया जाता है, उसी से खुलता है। ऐसा कभी नहीं होता, कि बन्द करने की चाबी अलग होती है, और खोलने की अलग। उसी तरह कर्म बन्ध और कर्म की निर्जरा, दोनों परिणामों की धारा पर निर्भर है। कषाय एवं राग-द्वेष युक्त परिणामों से कर्म-बन्ध होता है, और तप के भावों से निर्जरा होती है। परिणामों में राग-द्वेष के ताप को निकाल देना ही निर्जरा का कारण है।

३.

कुंभकार मिट्टी के कच्चे घड़े को आग में तपाता है, तो वह परिपक्व हो जाता है। उसी प्रकार तप की आग में तपकर मन भी कर्म-बन्धन को तोड़ने में अशक्त हो जाता है।

४.

गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम स्थान को पवित्र तीर्थ मानते हैं। उसमें स्नान करने से तन का मैल और ताप दूर हो जाता है, शरीर में ताजगी एवं स्फूर्ति आ जाती है। परन्तु आध्यात्मिक-क्षेत्र में अहिंसा, संयम और तप के संगम को पाप के ताप को नष्ट करने वाला पावन-पवित्र तीर्थ कहा है। अहिंसा, संयम एवं तप की आध्यात्मिक-त्रिवेणी में गोता लगाने वाला साधक संसार के समस्त तापों से मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

५.

दियासलाई की काडी पर लगे मसाले के एक-एक कण में, एक-एक परमाणु में आग रही हुई है। परन्तु जब तक दियासलाई से रगड़ नहीं लगेगी, तब तक आग प्रज्वलित नहीं होगी। उसी तरह आत्म-साधना के साथ तप की रगड़ नहीं लगेगी, तब तक आत्म-ज्योति अनावृत्त नहीं होगी। उसे प्रकट करने के लिए तप-साधना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

६.

मक्खन को तपाकर घी बनाते हैं। मक्खन को आग पर रखने के बाद आग के ताप से मक्खन में घी के साथ रही हुई छाछ जल जाती है, तब उसे हम घी कहते हैं। इसी तरह आत्मा के साथ आबद्ध कर्म रूपी छाछ को जलाने के लिए तप की आग आवश्यक है।

७.

वैज्ञानिकों ने ऐसी मशीन का आविष्कार कर लिया है, जिससे दूध में जितना पानी का अंश है, उसे जलाकर दूध का पाउडर बना लेते हैं। उसमें दूध का सत्व एवं गुण सुरक्षित रहते हैं; दूध की शक्ति समाप्त नहीं होती। उसी प्रकार तप के कर्म एवं कर्म-जन्य साधनों

दान

●

१.

कूड़े और कचरे का ढेर एक स्थान पर पड़ा रहे, तो वह सड़ने लगता है, उसमें से दुर्गन्ध आने लगती है, और आस-पास के वातावरण को गन्दा बना देता है एवं रोगों को फैलाता है। यदि उसको वहाँ से उठा कर खेत में डाल दिया जाए, तो फसल का उत्पादन बढ़ता है। इसी तरह धन में आसक्त होकर उसका संग्रह ही किया जाता रहे तो उसमें से अहंकार की दुर्गन्ध आने लगती है और ईर्ष्या एवं द्वेष के कीड़े पड़ जाते हैं, जो समाज एवं राष्ट्र के जीवन को खोखला बना देता है। यदि शत—सैकड़ों हाथों से बटोरे हुए, धन को सहस्र-हजारों हाथों से दान के द्वारा जिन लोगों को आवश्यकता है, उनमें बिखेर दिया जाए, तो अहंकार भी नहीं बढ़ेगा और ईर्ष्या द्वेष एवं वैर-विरोध की सड़ान भी नहीं फैलेगी, तथा उससे पुण्य-खेती लहलहा उठेगी।

२.

नदी और समुद्र दोनों में पानी है। नदी की अपेक्षा समुद्र में पानी अधिक है, समुद्र नदी से अधिक विशाल और विराट् है परन्तु नदी का पानी मीठा और मधुर है, जब कि समुद्र का पानी खारा और नमकीन है। इस अन्तर का एक ही कारण है—सरिता प्रति-क्षण, प्रति-दिन एवं प्रति-समय दान करती रहती है, वह सागर से लेती नहीं, उसको देती है। और समुद्र दान नहीं करता, सदा-सर्वदा

दान

●

१.

कूड़े और कचरे का ढेर एक स्थान पर पड़ा रहे, तो वह सड़ने लगता है, उसमें से दुर्गन्ध आने लगती है, और आस-पास के वातावरण को गन्दा बना देता है एवं रोगों को फैलाता है। यदि उसको वहाँ से उठा कर खेत में डाल दिया जाए, तो फसल का उत्पादन बढ़ता है। इसी तरह धन में आसक्त होकर उसका संग्रह ही किया जाता रहे तो उसमें से अहंकार की दुर्गन्ध आने लगती है और ईर्ष्या एवं द्वेष के कीड़े पड़ जाते हैं, जो समाज एवं राष्ट्र के जीवन को खोखला बना देता है। यदि शत—सैकड़ों हाथों से बटोरे हुए, धन को सहस्र-हजारों हाथों से दान के द्वारा जिन लोगों को आवश्यकता है, उनमें बिखेर दिया जाए, तो अहंकार भी नहीं बढ़ेगा और ईर्ष्या द्वेष एवं वैर-विरोध की सड़ान भी नहीं फैलेगी, तथा उससे पुण्य-खेती लहलहा उठेगी।

२.

नदी और समुद्र दोनों में पानी है। नदी की अपेक्षा समुद्र में पानी अधिक है, समुद्र नदी से अधिक विशाल और विराट् है परन्तु नदी का पानी मीठा और मधुर है, जब कि समुद्र का पानी खारा और नमकीन है। इस अन्तर का एक ही कारण है—सरिता प्रति-क्षण, प्रति-दिन एवं प्रति-समय दान करती रहती है, वह सागर से लेती नहीं, उसको देती है। और समुद्र दान नहीं करता, सदा-सर्वदा

संग्रह ही करता है। केवल संग्रह करते रहने से, बटोरते रहने से कड़वाहट आजाती है और धन के प्रवाह को बहाते रहने से जीवन में मधुरता बनी रहती है।

२.

वृक्ष की छाया में शीतलता है। वह सूर्य के ताप से संतप्त व्यक्ति के ताप को शान्त कर देती है। क्योंकि वह वृक्ष अपनी छाया में आने वाले हर पथिक को बिना किसी स्वार्थ के फल, पुष्प, पत्र एवं छाया आदि उसके पास जो कुछ है, वह देता ही रहता है। जो देता है, उसी में शीतलता रहती है।
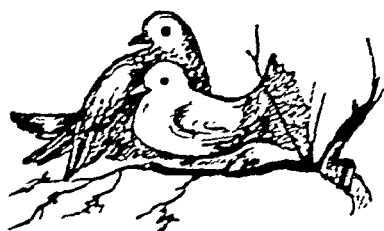
निवृत्ति-प्रवृत्ति

गाड़ी स्टेशन पर आ चुकी थी। ड्राइवर ने ब्रेक लगाकर रेल-गाड़ी को रोका, और मशीन बन्द करके इंजिन से नीचे उतर कर घूमने लगा। उसी समय उसका एक आठ वर्ष का लड़का इंजन पर चढ़ गया। और बाल्य चपलता के अनुसार वह मशीनों के पुर्जों को घुमाने लगा। अचानक उसका हाथ गाड़ी को चलाने वाले पुर्जे पर पड़ गया, और स्टार्ट करने के यंत्र को घुमाते ही इंजिन धड़-धड़ करता हुआ रेल की पटरी पर भागने लगा। ड्राइवर ने गाड़ी को गति पकड़ते देखा तो घबरा गया, उसके समझ में नहीं आया, कि क्या बात है? उसने दौड़ कर देखा तो घबराया हुआ लड़का हैंडल पकड़े खड़ा है। उसने कर्कश स्वर में कहा—गाड़ी को जल्दी रोक नहीं, तो मर जाएगा। उसने भय की मुद्रा में कहा—रोकने का, ब्रेक लगाने का यंत्र कौन-सा है, यह मैं नहीं जानता। इसलिए गाड़ी को कैसे रोकूं।

इसी तरह जीवन की गाड़ी में प्रवृत्ति भी आवश्यक है, और निवृत्ति भी। सद्-कर्मों में, शुभ कामों में जीवन को गति देना, और अशुभ एवं बुरे कामों की ओर गतिशील जीवन को निवृत्ति का ब्रेक लगा कर रोक लेना ही, साधना है। जिस व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं है, कि गति कब और कहां देना, तथा ब्रेक किस समय और किस जगह लगाना, वह सही-सलामत अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता।

पर ही सुन्दर चित्र चित्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार विकारों से रहित हृदय पर ही प्रवचनों का असर होता है।

४.

दूध बर्तन में रखा जाता है। परन्तु जिस बर्तन में छिद्र नहीं होता, उसी में दूध ठहरता है। यदि कोई व्यक्ति छलनी में दूध भर ले, तो उसमें एक बूंद भी दूध नहीं ठहरेगा, सब बाहर निकल कर बह जाएगा। उसी तरह जिस व्यक्ति के जीवन में विकारों के, काम-क्रोध के, मताग्रह के छिद्र हैं, उसके हृदय में प्रवचन ठहर नहीं सकता।

संस्मरण

विघ्न, विघटन और विग्रह की व्यथा से पीड़ित मानव को मुक्ति तप, त्याग और संयम की त्रिवेणी में अवगाहन करने से ही हो सकेगी। आत्म-संशोधन के अनेकान्त-मार्ग पर चलकर ही मानव स्व-पर कल्याणकारी सृष्टि के निर्माण कार्य में सफल हो सकता है।

इस दृष्टि से जैन-साधु का जीवन तप, त्याग और संयम के लोकोपकारी मार्ग को प्रशस्त करने के लिए समर्पित जीवन है। ऐसे जीवन का पारायण, अध्ययन, मनन और अनुसरण सर्वथा वांछनीय है।

मुझे यह कहते प्रसन्नता और गौरव का अनुभव होता है, कि मालवकेशरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज का जीवन ऐसा ही समर्पित जीवन है। उनके जीवन चरित्र के प्रकाशन के प्रसंग को मैं एक पावन-प्रसंग मानता हूँ। मुझे कहना चाहिए, कि इस सुअवसर पर यह पंक्तियाँ लिखते हुए मेरा हृदय कृतार्थता का अनुभव कर रहा है।

उनके साथ मेरा परिचय, सम्पर्क एवम् सभागम सर्व प्रथम महाराष्ट्र के येवला नामक स्थान पर आज से लगभग २५-३० वर्ष पूर्व हुआ। तब से यह सम्पर्क बराबर कायम है, बल्कि उत्तरोत्तर दृढ़ और गहन होता गया है। उन दिनों हमारे स्थानकवासी समाज में श्रमण-वर्ग विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त था। येवला कोपरगांव आदि स्थानों पर मालव केशरी जी महाराज से हुए सम्पर्क में ही हमारी परस्पर आत्मिक निकटता, सौजन्यता एवं सहयोग की ऐसी सुन्दर और सुदृढ़ नींव पड़ी, कि संवत् २००६ में जिन पाँच सम्प्रदायों का एकीकरण हुआ, उनमें मालवकेशरी जी महाराज का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस समय इस एकीकरण के [illegible] में

महाराज ने दी, आज भी मेरा हृदय उस त्याग भावना और औदार्य का स्मरण कर प्रेरणा ग्रहण करता है। आज जो श्रमण-संघ का एक विशाल एवं अखिल भारतीय स्वरूप हमारे सामने उभर कर आया है, उसके रचनाकार-शिल्पियों में मालवकेशरी जी महाराज का नाम सदैव उल्लेखनीय रहेगा।

दीक्षा काल की दृष्टि से मालव केशरीजी महाराज मुझसे बड़े हैं, परन्तु मैंने उनके साथ के अपने प्रत्यक्ष सम्पर्क से देखा है, कि बड़प्पन की ऐसी कोई भावना उनको स्पर्श तक नहीं करती। उनके व्यक्तित्व में विनीतभाव, सौजन्यता एवं निस्पृहता का दर्शन मैंने किया है। संवत २०२० में हमारा चातुर्मास शाजापुर में था। शाजापुर की ओर विहार करते हुए मार्ग में इन्दौर में मालव केशरी जी महाराज से यथेच्छ सम्पर्क हुआ। उसके बाद अजमेर सम्मेलन तक, हमारा भ्रमण लगभग साथ-साथ रहा। तब मालव केशरीजी महाराज की प्रतिभा, वक्तृत्व-शक्ति, धर्म सेवा की लगन, अपने नाम और यश के प्रति उनके चित्त की उदासीनता आदि गुणों के विशेष दर्शन हुए। कितनी उनकी लोकप्रियता! और जगह-जगह कैसा भव्य-स्वागत! और कितना प्रेम जैन-अजैन सबकी तरफ से मिला! मालव केशरीजी महाराज के व्यक्तित्व की यह एक अपनी विशेषता है, कि जैन-समाज के साथ बहुत बड़ी संख्या में अजैन समुदाय भी आप से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है।

मालव केशरीजी महाराज की शुभ प्रेरणा से मध्य प्रदेश में अनेक धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाएँ बनी हैं, और कार्य कर रही हैं।

आज यह पंक्तियाँ अंकित करते समय स्मृति-पटल पर ऐसे अनेक प्रसंग उभर आए हैं, जिनमें मालव केशरीजी महाराज की असाधारण धीरज, निष्पक्षता और न्याय-बुद्धि प्रकट हुई है।

मालवकेशरी जी महाराज का, हमारे श्रमण समुदाय में अपना एक विशेष स्थान है। वे प्रगति तो चाहते हैं, परन्तु समन्वयवादी पद्धति में भी उतनी ही आस्था रखते हैं।

उनके जीवन चरित्र के प्रकाशन के इस अवसर पर यद्यपि मैं इस शरीर देह-द्वारा उपस्थित नहीं हूँ, तथापि इस शब्द-देह द्वारा उपस्थित होकर अपनी तरफ से उनका हार्दिक अभिवादन करता हुआ उनके दीर्घ जीवन एवं आरोग्य की कामना करता हूँ।

दिल्ली : २७ अगस्त ६६
रक्षा-बन्धन.
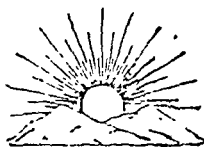
मन और कर्म का मधुर मिलन

—उपाध्याय श्री अमर मुनि

मैंने ऐसे कुछ व्यक्ति देखे हैं जिनका हृदय वहुत सरल, मधुर और निश्छल प्रतीत हुआ, किन्तु हृदय की वह मधुरता वाणी में नहीं छलक सकी, मन का माधुर्य कर्म में नहीं उतर सका, अंतःकरण की सरलता वाणी में व्यक्त नहीं हो सकी ! और ऐसे तो वहुत व्यक्ति देखे हैं जिनकी वाणी मिसरी-का टुकड़ा लगी, वड़ी मधुर, सरस ! ऐसी कि वस मधु का मिठास भी फीका लगे ! किन्तु उनके हृदय को जव देखा तो कटुता, विद्वेष, वैमनस्य का जहर वहां छलछला रहा था !

सौभाग्य से तीसरी कोटि के व्यक्ति भी मैने देखे हैं—जिनकी वाणी मधुर ! मन उससे भी मधुर ! वाणी सरल, सरस, और हृदय उससे भी सरल, सरल ! पवित्र ! मालवकेशरी सौभाग्यमल जी महाराज से जव जव मेरा मिलन हुआ तो मैंने उनके व्यक्तित्व को इसी कोटि में पाया—आगम की वाणी में—

हिययमपावमकलुसं जीहा वि य महुर भासिणी णिच्चं ॥

हृदय अकलुप, निप्पाप : और वाणी में मधुर-आलाप ! —इसे ही आगमकार ने 'महुकुंभे महु पिहाणे' कहा है ।

मालव केशरीजी से मिलन हुए इधर में काफी समय हो गया, किन्तु आज भी जव उनका प्रसंग आता है तो उनके साथ श्रमण सम्मेलनों की वे स्मृतियां मन मस्तिप्क में उभर आती हैं । कितना निष्ठावान् व्यक्तित्व है यह ! किस प्रकार विनय, प्रेम एवं स्नेह से,

जोड़ रहे थे, सम्प्रदायों की दीवारों में विभक्त हृदयों को! भले ही वे हृदय ईमानदारी से नहीं जुड़े हों, पर झुके अवश्य! मालव केशरी-जी के स्नेह एवं प्रेम ने उनको विवश अवश्य कर दिया। वस्तुतः उनकी वाणी एवं व्यवहार ही ऐसा है कि जो उनके सम्पर्क में आ गया, वह उनका बन गया। मैं तो उनके इस जादू को मानता हूँ कि उनमें व्यक्ति को परखने-पकड़ने की अद्भुत कला है। अपनी इसी कला के बल पर समाज में अनेक नये संगठन, और नई संस्थाएं उन्होंने खड़े किये हैं, प्रेरित किए हैं, और अनेकों संस्थाओं की पुरानी जिन्दगी में नई जान फूंकी है।

बुजुर्ग होते हुए भी मालवकेशरी जी की विचार चेतना नवीन चिंतन को स्वीकार करके चलती है, उनके विचारों में गति है, ग्रहणशीलता है। जब कभी विचारों के आदान-प्रदान का अवसर आया तो मैंने देखा, परम्परा के नाम पर उनमें कोई अंधाग्रह एवं प्रतिबद्धता नहीं है। उनका मन-मस्तिष्क चेतनाशील है। और यही कारण है कि आज की समाज के बुजुर्गवर्ग में जितनी उनकी प्रतिष्ठा है, श्रद्धा है, नवयुवक वर्ग में भी कुछ कम नहीं है।

स्थानकवासी समाज में संभवतः सर्वप्रथम दक्षिण अंचल के सुदूर प्रांत—मद्रास-मैसूर में उन्होंने ही चातुर्मास किए होंगे!

इस यात्रा में उनको सर्वत्र जो सम्मान, श्रद्धा और ख्याति मिली वह जब-जब मैं सुना करता था तो प्रसन्नता के साथ आश्चर्य होता था! साधारण श्रद्धालु वर्ग में धार्मिक जागृति के साथ ही उनके प्रवचनों का प्रभाव तत्कालीन राजा-महाराजाओं आदि पर भी बहुत अच्छा रहा! राजस्थान एवं मध्यभारत के ही नरेशों पर नहीं, बल्कि गुजरात एवं दक्षिण भारत के विशिष्ट अधिकारियों पर भी उनका अच्छा प्रभाव रहा। गांधी जी से भी उनका काफी संम्पर्क रहा है और अन्य

महाराष्ट्र-विभूषण : श्री सौभाग्यमल जी महाराज

—प्रवर्त्तक विनय ऋषि

आप स्थानकवासी जैन-समाज के एक वयोवृद्ध पुराने अनुभवी संत हैं।

आपने भारत के प्रायः सब क्षेत्रों में विचरण करके जैन-जैनेतर समाज में धार्मिक संस्कार के बीजारोपण करके अनेक भव्य आत्माओं को धर्माभिमुख किए हैं।

आपकी वाणी में मिठास, कंठ में माधुर्य, वक्तृत्वकला में अद्भुत शक्ति है, और ज्ञान के भंडार हैं।

आपने प्रथम अंग श्री आचारांग सूत्र मूल, अर्थ, भावार्थ और टीका सहित प्रकाशित करके, आगम साहित्य को समृद्ध किया है।

आप सौम्य प्रकृति के सेवाभावी, समाज उन्नति के सूत्रधार और श्रमण संघ के आधारस्तंभ संत हैं।

आपकी वाणी में अद्भुत जादू भरा हुआ है, जिसको सुनकर श्रोताजन मंत्रमुग्ध हो जाते हैं।

आप वय, ज्ञान और दीक्षा स्थविर होते हुए भी छोटे बड़े संतों के साथ एक रूप हो जाते हैं यह आपकी नम्रता का प्रत्यक्ष नमूना है।

आप आरोग्य प्राप्त करें, दीर्घायु बनें, जैन शासन की चिरकाल तक सेवा करके, स्व-पर कल्याण की साधना करें यही शासन देव से नम्र प्रार्थना है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

मालवकेशरी जी : आकर्षक व्यक्तित्व

—मुनि संतबाल

जैन-समाज में, उसमें भी क्रान्ति-प्रिय स्थानकवासी समाज में उत्तराध्ययन-सूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। यह भगवान महावीर की अन्तिम-देशना के रूप में माना जाता है और महावीर के निर्वाण तथा गणधर गौतम के केवल-ज्ञान के समय में अर्थात् गौतम-प्रतिपदा (कार्तिक शुक्ला १) को इस सूत्र का मूल पाठ सुनाने एवं सुनने तथा स्वाध्याय करने की परम्परा रही है। उत्तराध्ययन के २६ वें अध्ययन में एक प्रश्न पूछा गया है—

"सहाय-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?'

सहायक का त्याग करने से अथवा शिष्य का त्याग करने से व्यक्ति को क्या लाभ होता है ?

इसके उत्तर में भगवान ने कहा है—इससे साधक का बोझ हल्का होता है, उसे एकत्व भाव का लाभ प्राप्त होता है। जिससे कलह-कषाय एवं झंझट अल्प हो जाते हैं और संयम, संवर एवं समाधि की अभिवृद्धि होती है।

इसके आगे उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन की ५ वीं गाथा में कहा है—"यदि साधक को अपने से अधिक गुण से युक्त या अपने समान गुण वाला साधक न मिले, तो साधक को पापों का परित्याग करके एक की विचारणा करनी चाहिए, परन्तु गुणों से रहित व्यक्ति के साथ नहीं रहना चाहिए—

इस पर विचार करते समय यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, कि यदि साधु शिष्य बनाने का त्याग कर ले, तो साधु-साध्वी समाज में कहाँ से आएँगे ? इसका समाधान यह है कि जिस व्यक्ति के हृदय में साधुता की ज्योति प्रज्वलित होगी, वह तो स्वयं अपना गुरु खोज

लेगा और साधना-पथ पर चल पड़ेगा। ऐसे विराग-भाव युक्त व्यक्तियों को शिष्य बनाने का निषेध नहीं किया है परन्तु जिनमें वैराग्य एवं विवेक नहीं और जिनकी उम्र अभी वैराग्य एवं साधना के स्वरूप को समझ सकने के योग्य नहीं है, उनके लिए कहा गया है। मेरे पूज्य-गुरुदेव कविवर्य नानचन्द्र जी महाराज ने अजमेर सम्मेलन के समय कहा था—"वास्तव में योग्य एवं परिपक्व अवस्था के पूर्व दीक्षा नहीं देनी चाहिए। और अमुक वर्षों तक एक मर्यादा बना लेनी चाहिए, कि साधु-साध्वी नवी दीक्षा न दे और जो साधु-साध्वी हैं, उन्हें रूढ़ि-चुस्त वर्ग से अलग रखकर उन्हें तत्त्व-ज्ञान एवं आध्यात्मिक साधना का ठोस अध्ययन कराना चाहिए।" जब तक साधु वर्ग का अध्ययन व्यापक, विशाल एवं ठोस नहीं होगा, तब तक उसमें चमक नहीं आ सकेगी।

मूल बात :

पूज्य सौभाग्यमल जी महाराज का 'जीवन और विचार' पुस्तक छप रही है। मेरे व्यापक सन्त जीवन में यह प्रसंग आनन्द-दायक है, और इस अवसर पर मैं अपने विचार रख रहा हूँ।

सन् १९८२ को स्व-पूज्य-गुरुदेव नानचन्द्र जी महाराज का चातुर्मास घाटकोपर में जगजीवन दयाल की वाड़ी में था। वहाँ जाकर मैं महान् सत्संग का लाभ लेता रहा। फिर सन् १९८३ में स्व० ताराचन्दजी म. किशनलालजी म. एवं सौभाग्यमल जी म. का वर्षावास चिचपोकली में हुआ। उसके पूर्व पूज्य-गुरुदेव घाटकोपर का चातुर्मास समाप्त करके सौराष्ट्र में पधारे, तब मेरा परिचय सौभाग्यमल जी म. से हुआ और उधर साथ रहने के कारण प्रगाढ़ हो गया। और मैं सौभाग्यमल जी म. के साथ आ गया, अध्ययन करता रहा। फिर १९८३ के चातुर्मास में मैं दीक्षा की आज्ञा लेने

गया, तब पूज्य-गुरुदेव नानचन्द्र जी म. लिंबड़ी में विराज रहे थे, उनके पास नवदीक्षित चुन्नीलाल जी थे। हम दोनों समान वय के थे, इसलिए मेरी इच्छा वहाँ रहकर अध्ययन करने की हो गई। परन्तु मैं मालव-केशरी जी को यह वचन देकर आया था, कि आपके पास दीक्षा लूंगा। मैं सोचने लगा, यदि उन्होंने प्रसन्नता से इधर दीक्षा लेने की आज्ञा नहीं दी, तो क्या होगा, मैंने थर-थर कांपते हुए अपनी बात मालव केशरी जी के सामने रखी। मुझे यह लिखते हुए हर्ष होता है, कि आपने मुझे परम प्रसन्नता से पूज्य-गुरुदेव नानचन्द्र जी म. के पास दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान की।

मालव-केशरीजी :

पूज्य मालव-केशरी, प्रसिद्ध-वक्ता सौभाग्यमलजी महाराज प्रखर-वक्ता, विद्वान और मधुर वाणी के प्रभुत्व से युक्त प्रतिभा-सम्पन्न सन्त हैं। वे अपने सम्प्रदाय में ही नहीं, स्थानकवासी समाज में एवं जैन समाज में ख्याति-प्राप्त लोकप्रिय साधु हैं। उनका व्यक्तित्व विराट एवं व्यापक है। उनमें कार्य करने की शक्ति एवं जन-जन को समझाने की कला भी अनुपम है। यह मैंने देखा है, कि उनमें आकर्षण शक्ति बहुत अधिक है। आपके व्यक्तित्व ने मुझे भी आकर्षित किया था। इसलिए मेरे मन एवं विचारों में यह आया, कि भले ही साधुओं की संख्या बढ़े या न बढ़े, परन्तु उनमें ज्ञान की, अध्ययन की, सेवा की, विनय की शक्ति बढ़नी ही चाहिए और उनके जीवन में तेजस्विता आनी चाहिए। मालव-केशरी जी म० एवं विजय मुनि जी जैसे उदार विचारक सन्त इस दिशा में कदम उठाएँगे और विचार-क्रान्ति की ज्योति प्रज्वलित करेंगे, तो समाज अवश्य ही चमकेगा।

☆

मालवकेशरी जी : मेरी दृष्टि में

—पुष्कर मुनि

जब कभी भी मुझे किसी भी सन्त पुरुष के सम्बन्ध में लिखने को कहा जाता है तब मैं बड़े ही असमंजस में पड़ जाता हूँ। वस्तुतः किसी सन्त के सम्बन्ध में लिखना बड़ा ही कठिन कार्य है, क्योंकि उनका व्यक्तित्व हिमालय की तरह महान् होता है, और कृतित्व अनन्त सागर की तरह विराट् होता है। उनके विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व को शब्दों की सीमा में आबद्ध करना क्या सरल कार्य है? मैं समझता हूँ इससे बढ़कर अन्य कठिन कार्य नहीं हो सकता।

मालव केसरी प्रसिद्ध वक्ता सौभाग्य मल जी म० श्रमण संघ के एक विशिष्ट सन्त हैं, उनके सबसे प्रथम दर्शन मुझे प्रथम अजमेर सम्मेलन के अवसर पर हुए थे। उन्हें देखकर मुझे कर्मयोगी श्री कृष्ण की स्मृति हो आयी थी। छह फीट का विशाल शरीर, शिर पर काले-कजरारे लहलहाते हुए केश, उन्नत ललाट, नुकीली ऊँची नाक, उन्नत वक्ष, प्रबल मांसल भुजाएँ, तेजपूर्ण श्याम मुख मण्डल उनके आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकट कर रहा था। मैं उनकी मनमोहक छवि को निहार कर मन में विचार कर रहा था कि इसीलिए लोग श्याम को सुन्दर कहते हैं, और कन्हैया को लाल कहते हैं। सम्मेलन के भीड़भाड़ के वातावरण में कोई गहरा परिचय न हो सका। उसके पश्चात् इन्दौर, नासिक, इगतपुरी, बम्बई, सादड़ी, सोजत प्रभृति अनेक स्थलों पर लम्बे समय तक साथ में रहने का अवसर मिला, मैंने उनके जीवन में अनेक विशेषताएं देखी हैं।

गुरु भक्ति :

मालव केशरी जी म० के सद्गुरु देव का नाम किसनलाल जी म० था! वे भी जाति से ब्राह्मण थे और मैं भी, अतः उनकी मेरे

वक्ता थे। मालवकेशरी जी महाराज भी एक सफल वक्ता हैं। उनकी वाणी में गजब का मिठास है, कहने की उनकी अपनी शैली है। बात वही पुरानी कहते हैं किन्तु इस ढंग से कहते हैं कि सुनने वाले को नई मालूम होती है। श्रोता को हंसाना, रुलाना, उनमें अभिनव चेतना जागृत करना आपके बायें हाथ का खेल है। लोक कथाएं और लोकोक्तियों के माध्यम से गंभीरतम विषय को भी सरल व सरस बना देते हैं।

संगठन प्रेमी :

एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है "सगठन जीवन है और विगठन मृत्यु है।" कलियुग में जितनी संगठन की आवश्यकता रही है संभवतः उतनी सतयुग में न रही हो, क्यों कि उस युग में उतना विगठन नहीं था। जैन धर्म की अवनति का मूल कारण भी विगठन रहा है। विगठन की भावना ने ही हमें एक के अनेक बना दिये। मालव केसरी जी महाराज ने समय-समय पर संगठन पर अधिक बल दिया है। श्रमण-सम्मेलनों में लम्बे-लम्बे विहार कर पहुँचे ही नहीं, अपितु वहाँ पर भी जी-जान से यही प्रयास किया कि हमारी उन्नति कैसे हो, हमारा संगठन किस प्रकार सुदृढ़ हो और हमारी गौरव-गाथा दिग्दिगन्त में किस प्रकार गूंजे।

अभी नासिक आदि में खुल कर उनसे वार्तालाप हुआ, मैंने पूछा—आपकी अन्तिम इच्छा क्या है ?

उत्तर में मालव केसरी जी ने कहा—मैंने जीवन में अनेक कार्य किये हैं, उनमें सफलता भी मिली, मेरी एक ही हार्दिक इच्छा है कि श्रमण संघ का एक सम्मेलन हो, उसमें जो श्रमण संघ में आज तक नहीं मिले हैं वे भी पधारें और जो तनिक मतभेदों के कारण श्रमण संघ से पृथक् हो चुके हैं वे भी पधारें और स्थानकवासी समाज को

एक बना दिया जाय। जो विचार भेद हैं, उलझी हुई समस्याएं हैं उनको सुलझा कर हम भाई-भाई की तरह गले मिलें पर न जाने मेरी यह भावना कब मूर्त रूप लेगी!

करुणा मूर्ति :

करुणा जीवन का अमृत है। सहृदय व्यक्ति के अन्तर्मानस में ही करुणा का पौधा पनपता है। किसी को कष्ट से कराहते हुए देखकर के भी जिसका मन व्यथित नहीं होता, वह इन्सान नहीं हैवान है, मानव नहीं दानव है।

मालव केसरी जी म० का हृदय कोमल है। मन मधुर है, किसी की किञ्चित् भी पीड़ा सुनते हैं तो उनका मन-म्लान हो जाता है, वे आकुल-व्याकुल हो जाते हैं, उनका कष्ट व्यक्तिगत न होकर समष्टि-गत रहता है यही तो महामानव का लक्षण है। उनके व्यक्तित्व पर अनेकों प्रहार हुए पर वे कभी भी विचलित नहीं हुए। स्वर्ण को गलाकर किसी भी सांचे में ढाला जा सकता है किन्तु हीरे को नहीं। हीरे को तोड़ा जा सकता है, गलाया नहीं जा सकता, अपनी इच्छा-नुसार गला कर उसका आभूषण नहीं बनाया जा सकता, उसका हर कण, हर खण्ड अपना मूल्य रखता है। मालवकेसरी जी का जीवन भी किसी की इच्छा के अनुसार गला नहीं, ढला नहीं, परन्तु सबके लिए सदा मूल्यवान् रहा! जहां वे अपने लिए वज्र से भी अधिक कठोर रहे हैं वहां वे दूसरों के लिए कुसुम से अधिक कोमल भी रहे हैं।

मालवकेसरी जी के जीवन में अनेकों विशेषताएं हैं, अगणित गुण हैं। मैंने उनके जीवन को अत्यन्त निकट से देखा है। मेरी यही हार्दिक कामना और शुभ भावना है कि मालव केसरी जी महाराज दीर्घ काल तक संयम साधना कर जैन धर्म की विजय वैजयन्ती फहराते रहें।

★

भारत के महान् संत प्रसिद्ध वक्ता

मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज

—मुनि सुशीलकुमार 'भास्कर'
(प्रेरक : विश्व धर्म सम्मेलन)

आपका जन्म मालवा प्रान्त के अन्तर्गत नीमच शहर के पास सरवाणीये ग्राम में हुआ है। ११ वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री नन्दलालजी महाराज के शिष्य प्रातःस्मरणीय मंत्री मुनि श्री कृष्णलालजी महाराज के पास सं० १९६७ वैसाख वदी ३ को खाचरोद में भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। जाति से आप ओसवाल और गोत्र से फांफरिया हैं।

जैन श्रमण की त्याग साधना के आप अमर कलाकार रहे हैं। वर्ण से श्याम, ललाट से उन्नत और नेत्रों से विशाल तथा गौरवमय और तेजस्वी आनन के नीलाभ की तरह आप सदा चमकते रहे हैं।

वाणी का माधुर्य, वक्तृत्व का ओज, सत्य का सौन्दर्य तथा संयम की निष्ठा आपके व्यक्तित्व के अपूर्व गुण रहे हैं।

मालवा से उठ कर दक्षिणी समुद्री तटों तक अहिंसा के गायक की तरह आप गूंजते रहे हैं और देहली, उत्तरी भारत और मध्यभारत पर तो आप अनेकान्त शासन की पताका के सजग प्रहरी रहे हैं।

राजस्थान और सौराष्ट्र पर आपके आत्मानुशासन की धाक रही है, यही कारण था कि महात्मा गाँधी स्वयं अनेकों बार आपसे मिलते थे और सामाजिक समस्याओं को विचार-विमर्श द्वारा सुलझाया करते थे।

आपकी दृढ़ निष्ठा, संगठन शक्ति, रचनात्मक कार्य को सफल बना देने की अपूर्व सूझ बूझ और सत्य को जनता के गले उतार देने का वाग्वैदग्ध्य सचमुच अभी तक अप्रतिहत रहा है।

भारत के महामहिम राजगोपालाचार्य, प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू आपके उदार, किन्तु युगीन विचारों के प्रशंसक रहे हैं।

मैसूर के महाराजा से लेकर मालवा और राजस्थान के शासक आपके सम्पर्क से आत्म-चिन्तन की ओर उन्मुख हुए हैं।

साहित्य के क्षेत्र में आचारांग सूत्र पर आपका हिन्दी भाष्य तथा वक्तृत्व में सौभाग्यसुधा ये दोनों ग्रंथ आज हिंदी साहित्य के शृंगार हैं। जैन साहित्य समिति और थांदला जैन गुरुकुल आदि सैकड़ों पारमार्थिक संस्थाएं आपकी प्रेरणा से धर्म की सेवा में तत्पर हुई हैं। धर्म, राजनीति और समन्वय का योग आपके धार्मिक विचारों में अधिक उज्जवल रूप से उत्स्फूर्त हुआ है।

आज आप भारतीय सर्वधर्म सम्मेलन के लिये अपनी पूरी आध्यात्मिक शक्ति को लगा कर अशांत विश्व को सर्वधर्म सहिष्णु भाव का संदेश दे रहे हैं। आप चाहते हैं—

"संसार में राज्य, धर्म से हीन होकर कभी भी सुखावह नहीं बन सकता, उसे तो सार्वभौम धर्म से अनुप्रेरणा लेनी ही होगी।" इसीलिये आप मेरे नारे का बलपूर्वक समर्थन कर रहे हैं, कि पहले सार्वभौम राज्य की नहीं, अपितु सार्वभौम धर्म की आवश्यकता है।

सार्वभौम धर्म की खोज बिना अनेकान्त पद्धति, समन्वयवाद तथा उदारता के नहीं हो सकती। अतः यह अभीष्ट है कि संसार के समस्त धार्मिक मिलकर धर्म के मूल तत्व का निष्पक्ष मंथन करें और सार्वभौम धर्म की ठोस आधार शिला का अन्वेषण करें। इसके लिये सर्वधर्म सम्मेलन के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

★

सन्त-पुरुष को वन्दन !

—पुष्फ भिक्खू

अनुभव-अनुमान और सहवास संगति से परिचय मिला कि आप वैसे मात्र लिंगी होना ठीक नहीं समझते, चरित्र के गुण को आप मुख्य समझते हैं आपका विचार है, कि कोई दीक्षा लेने मात्र से गार्हस्थ्य कपड़े उतार कर फेंकने से मुनि नहीं होता। क्योंकि साँप भी वर्ष भर में कांचली छोड़ देता है, परन्तु वह निर्विष नहीं होता। अतः आप दीक्षा (तप) का मूल तो सम्यग्दर्शन का क्षायिक विकास, क्षमा इन्द्रिय जय, सत्य, सम्यक् चरित्र ही मानते हैं। ऐसे व्रती का हम आदर सन्मान करते हैं—

सत्कार—विनय करने योग्य व्रती का विनय—

सम्मान—यथायोग्य सेवा करते हैं।

कृतिकर्म—वन्दना करते हैं।

अभ्युत्थान—आदरणीय व्यक्ति को देखकर अभेद से आसन छोड़ कर सभ्यता पूर्वक खड़े होते हैं।

अंजलिकरण—दोनों हाथ जोड़ते हैं।

आसनाभिग्रह—बैठने के लिये आसन बिछाते हैं।

आसानानुप्रदान—आदरणीय को सभ्यता पूर्वक आसन बिछाते हैं।

सन्मुख जाना—आदरणीय को आते देख पेशवाई में सामने जाते हैं।

सेवा करना—बैठने पर उनकी अधिकाधिक सेवा करते हैं।

छोड़ने जाना—वे आदरणीय उठकर कहीं जाने लगें तो थोड़ी दूर तक पहुँचाने जाना चाहिये।

भदन्त ! आपका आदर, विशेष आदर मान करते हैं।

किमधिकं विज्ञेषु !

★

अध्यात्मिक संत !

—मुनि मिश्रीमल (मरुधर-केशरी)

व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रकाश में जब आता है, तब अपना जीवन आदर्श के सांचे में ढाल देता है। वह सिद्धांत का पक्का, धुन का धनी, विचारों के अथाह सागर में हिलोरे लेने वाला बन जाता है, तब उसे यह ध्यान भी नहीं रहता कि मुझे सुख है या दुःख, मुझे मान मिलता है, या अपमान, मेरी स्तुति हो रही है या निंदा।

क्योंकि वह तो कार्य की सिद्धि में अपनी मस्तानी चाल से चलता ही चलता रहता है। उसके मन में लग्न है, सत्य के प्रचार की, अहिंसा के प्रचार की। जिसके मन के कण-कण में प्रेम है, सहिष्णुता है, सेवा और सादगी से जिसका वास्ता है, खम, सम और दम से प्रेम है। और आत्मीयता जिसका अलंकार है, मर्यादा जिसका मोहक वस्त्रपरिधान है। वह जप और तप, क्रिया एवं अनुष्ठान का एक सफल व्योपारी है। परोपकारिता जिसका है व्यसन, गुण ग्राहकता जिसका है नित्य भोज, उसका प्रभाव जन-जन के मन-मन पर अंकित हो जाता है। वह श्रद्धा, आचार एवं सद्व्यवहार की जनता पर अमिट छाप जमा जाता है। वह इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणमूर्ती है। ऐसे स्नेह के सागर, महामहिम, स्वामीजी वृद्धभ्राता (दादा भाई) सुयश पुंज मालवकेशरी श्री सौभाग्यचन्द्र जी महाराज हैं। जिनका सहवास मुझे प्रत्येक सम्मेलन में मिला है। आपकी सौम्याकृती, मन्द मुस्कान, तार्किकता, वक्तृता मेरे हृदय पटल पर अंकित हो चुकी है, वह कभी विस्मृति के गहन अंधकार में फेंकी नहीं जा सकती। ऐसे अहिंसा धर्म के प्रबल प्रचारक, महान् यशस्वी, सद्गुणी महापुरुष चिरायु हों, जिससे जैन शासन की दिन-दूनी और रात-चौगुणी कीर्ती केतु लहलहाते रहें, यही शासनेश से प्रार्थना है।

★

महामान्य मालवकेसरी या उदारता के प्रतिनिधि

—ज्ञान मुनि

विश्व-वन्द्य, मङ्गलमूर्ति, चौवीसवें तीर्थंकर, सत्य अहिंसा के अमर सन्देश-वाहक, भगवान महावीर उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन में फरमाते हैं—

धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही,
धम्माराम-रए दन्ते, बंभचेर-समाहिए ॥१५॥

ब्रह्मचर्य में समाहित, धैर्य-शील, धर्म-सारथि, धर्म में अनुराग रखने वाला और दान्त-इन्द्रियों को दमन करने वाला भिक्षु धर्म के आराम-वागीचे में विचरे। जिस प्रकार आराम-वाग में वैठने वाला सन्तप्रहृदय व्यक्ति शान्ति को उपलब्ध करता है, ठीक उसी प्रकार दुष्कर्मों की ज्वालाओं से सन्तप्त आत्माएं धर्माराधन से शान्ति प्राप्त करती हैं। भाव यह है कि धर्माराम में विचरने वाले साधक परम-शान्ति का अनुभव किया करते हैं।

महामान्य, मालवकेसरी, शास्त्र विशारद, वाणी-भूषण, प्रसिद्ध वक्ता श्रद्धेय श्री स्वामी सौभाग्यमलजी म० के पवित्र जीवन का जव हम निकट से परिशीलन करते हैं, तो विना किसी झिझक के यह कह सकते हैं कि भगवान महावीर की उक्त वाणी श्रद्धेय मालवकेसरीजी म० के जीवन में व्यवहार का रूप धारण कर रही दिखाई देती है। हमारे महाराज श्री एक धीर, वीर संयमी महापुरुष हैं, धैर्य और गाम्भीर्य की साक्षात् मूर्ति हैं, धर्म-रथ के एक सिद्धहस्त सारथि हैं, धर्म भ्रष्ट जन-मन को धर्म का अमृत पिलाकर उसे सत्पथ का पथिक

श्राविकाओं के आगमन से यह सम्मेलन भगवान महावीर के समवसरण की एक झांकी-सी प्रस्तुत कर रहा था ।

जिस मकान में हम लोग ठहरे हुए थे, इसके बिल्कुल पास ही मालवकेसरी श्रद्धेय श्री सौभाग्यमलजी म० अपनी शिष्यमण्डली के साथ विराजमान थे । पार्श्ववर्ती होने से श्रद्धेय महाराज जी के साथ अपेक्षाकृत काफी सम्पर्क सधता रहा । यह सत्य है कि महाराजश्रीजी मेरे लिए नए थे और इनके लिए मेरा पहला परिचय था, किन्तु मुझे कहीं नूतनता नजर नहीं आई, इनके व्यवहार से मुझे ऐसा लगा कि मैं इनका बहुत पुराना कृपा-पात्र हूँ, कोई संकोच नहीं, कोई परत्व नहीं, कोई सजावट या बनावट नहीं, ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों वर्षों से मैं इनके पास रह रहा हूँ । पिता जैसे पुत्र से प्यार करता है, उसे छाती से लगाता है, उसके सुख साधनों की सब व्यवस्था करता है, तथा स्नेहाधिक्य से उसकी पीठ थपथपाता है, वैसा ही प्यार मृदुल स्नेह इनके चरणों में मुझे उपलब्ध होता । सन्त-सम्मिलन के हर्ष में श्रद्धेय महाराज श्री ने प्रेम-रस-सने जो रसगुल्ले खिलाए थे वर्षों व्यतीत होने पर भी उनका विस्मरण नहीं हो पाता, उनकी स्मृति से आज भी मेरी रसना जलार्द्र हो उठती है । कहाँ पंजाब, कहाँ मालवा दोनों का बड़ा अन्तर है, रहन-सहन एक नहीं है खान-पान भी भिन्न है, इस पर भी एक-दूसरे के स्वभाव से सर्वथा अपरिचित, तथापि आपस में हम ऐसे मिले जैसे एक ही परिवार में और एक ही वातावरण में वर्षों से साथ-साथ रहते चले आ रहे हों । अधिक क्या, उदारचेता, स्नेह और प्रेम की प्रतिमूर्ति श्रद्धेय महाराजजी के व्यवहार से मेरा मन इतना प्रभावित एवं आकर्षित हुआ कि मैं इसे अक्षरों की सीमित रेखाओं में अङ्कित नहीं कर सकता ।

प्रसिद्ध वक्ता श्रीसौभाग्यमलजी म० एक वयोवृद्ध मुनिराज हैं,

सहर्ष स्वीकृति प्रदान की और श्रमणसंघ का आचार्य पद जैन धर्म दिवाकर पूज्य श्री आत्मारामजी म० को दिया गया। पंजाव और मालवे का महान अन्तर होने पर भी एक पंजावी मुनिराज को अपना अधिशास्ता चुनना, यह महाराज श्री की गुण-पूजा-दृष्टि का ही मधुर फल है। सम्प्रदायवाद की गलियों से वहुत दूर विहरण करने वाले इस महापुरुष ने अपनी पैनी दृष्टि से व्यक्ति को न देखकर व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही देखा और उसे ही सम्मानित करके अपनी गुण-ग्राहकता, गुणपूजावुद्धि तथा उदारता का आदर्श परिचय दिया।

सन्त हृदय श्रद्धेय श्रीसौभाग्यमलजी म० के जीवन की एक और वहुत वड़ी विशेषता है—निरभिमानता। हमारे महाराजजी अस्मिता को निकट नहीं आने देते। वहुत वड़े सम्मानित एवं आदरास्पद व्यक्तित्व के स्वामी होने पर भी अहंभाव से सर्वथा दूर रहना, कोई खालाजी का वाड़ा नहीं है। श्रमणसंघ के मूर्धन्य मुनिराजों में इनका एक विशिष्ट स्थान है, जाने-माने प्रभावशाली व्याख्याता हैं, प्रसिद्धवक्ता हैं, त्याग-वैराग्य, आचार-विचार की दृष्टि से सर्वत्र प्रतिष्ठित एवं प्रख्यात हैं, लोकप्रिय-मनोनीतविचारों का अमृत पिलाकर विश्वकल्याण में अपना मृदुल सहयोग देने के कारण महान यशस्वी हैं, तथापि इनमें ढूंढ़ने पर भी अभिमान नहीं मिलता, सहोदर की भाँति ये सवसे स्नेहपूर्वक मिलते हैं। वृद्धों में वृद्ध हैं, युवकों में युवक। सवके साथ इतना मधुर, सरस और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हैं कि वरवस हृदय में श्रद्धा जाग उठती है। अधिक क्या निवेदन करूँ, श्रद्धेय महाराजजी का हंसमुख चेहरा, मिलनसार स्वभाव, आचार-विचार की समुच्चता से परिपूर्ण व्यक्तित्व, शास्त्रीय रहस्यों तथा गुन्थियों को खोलता हुआ कलापूर्ण वक्तृत्व हम सव के लिए गौरव का स्थान वन रहा है। आपके ज्ञान की गरिमा तथा अनुभवों की महिमा दोनों पर ही हमें गौरवानुभूति हो रही है। ★

संघ की शोभा : मालवकेशरी जी

—प्रवर्तक मुनि हीरालाल

सेवा-भावना :

श्रद्धेय मालव-केशरी जी महाराज के दर्शनों एवं उनकी सेवा में रहने का मुझे अनेक बार सौभाग्य मिला। मैंने इन्दौर में महावीर-भवन एवं राजमोहल्ला के स्थानक में आप श्री को अपने पूज्य-गुरुदेव शान्त-स्वभावी श्री किशनलाल जी महाराज की सेवा-भक्ति में संलग्न देखा। आप जैसी गुरु-भक्ति एवं सेवा-भावना मुझे अन्यत्र कम देखने को मिली। सेवा के समय आप सेवा-कार्य में इतने तन्मय हो जाते, कि अपना सब-कुछ भूल जाते। मैंने देखा है, कि आपने अपना सब कुछ अपने गुरुदेव के चरणों में सहर्ष अर्पण कर दिया था।

संघ-सेवा

सादड़ी-सम्मेलन में श्रमण-संघ के निर्माण में आपने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसके बाद सोजत, भीनासर एवं अजमेर के सम्मेलनों में जब—जब गुत्थियें उलझी, तब-तब आपने सबको प्रेम-स्नेह से समझाकर संघठन को स्थायी बनाने के लिए उलझनों को सुलझाने का कार्य किया है। आप संघ की शान हैं, शोभा हैं। युग-युग तक संघ एवं समाज को प्रकाश देते रहे, यही मंगल कामना है।
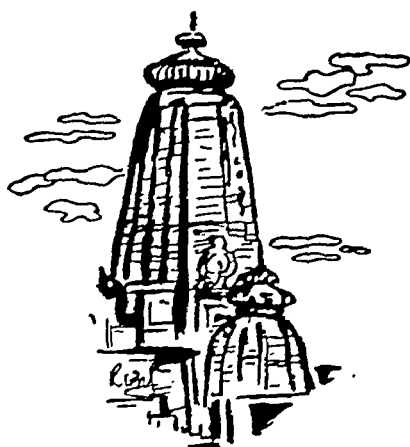
विहार में लाठी, दामनगर, आदि गाँवों में साथ रहने का प्रसंग आया और बहुत आनन्दप्रद वातावरण रहा। फिर बम्बई में— कांदावाड़ी, माटुंगा, घाटकोपर, कांदीवली, चिंचपोकली आदि में आपके साथ रहा और धर्म-चर्चा में आपसे बहुत-कुछ मिला। आप उम्र में वृद्ध हो गए, परन्तु उत्साह, साहस एवं विचारों में नव-युवक ही हैं। आप आज समाज को सही दिशा में ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अतः यही कामना है—आप दीर्घायु हों एवं समाज को कल्याण का मार्ग दिखाते रहें!

मालव केसरी जी के कुछ स्मृति-चित्र

—देवेन्द्र मुनि, शास्त्री साहित्यरत्न

मालव केसरी प्रसिद्ध वक्ता, स्नेह-सौजन्यमूर्ति श्री सौभाग्यमल जी महाराज के सम्बन्ध में लिखने का आदेश व सन्देश मिला। कार्याधिक्य के कारण अत्यधिक समयाभाव होने पर भी क्या प्रेम भरे आग्रह को टाला जा सकता है ? कदापि नहीं, आज जब उनके सम्बन्ध में लिखने बैठा हूं तो चलचित्र की भाँति एक-एक कर अनेक संस्मरण स्मृति पटल पर उभरने लगे हैं। जीवन की वे मधुर स्मृतियां उद्‌बुद्ध होने लगी हैं। वे सभी स्मृतियाँ और अनुभूतियाँ शब्दों के माध्यम से आज अभिव्यक्त होना चाहती हैं। पर मेरे सामने एक ही गंभीर समस्या है कि शब्द ससीम है और अनुभूतियाँ असीम है, असीम को ससीम शब्दों में व्यक्त भी कैसे किया जा सकता है ?

मालव केसरी जी का प्रथम-परिचय सन् १९४६ में मालव प्रान्त के मुख्य नगर इन्दौर में हुआ था। उस समय स्थानकवासी जैन समाज विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त था, श्रमण संघ का निर्माण नहीं हुआ था। मालव प्रान्त में अनेक सम्प्रदायें थीं। एक सम्प्रदाय वाले दूसरी ,सम्प्रदायवाले के साथ उसी प्रकार व्यवहार करते थे। जिस प्रकार आज हिन्दुस्तानियों के साथ पाकिस्तानी व्यवहार करते हैं। श्रद्धेय सद्‌गुरुदेव मारवाड़ से मालव प्रान्त में गये थे, सम्प्रदाय-वादियों के अनेक कटु अनुभव उस समय देखने को मिले, मन में अनेक प्रश्न उठते कि सम्प्रदायवाद के रंगीन चश्मे ने हमारी दृष्टि कितनी विकृत कर दी है। एक ही परम्परा के अनुयायी होने पर भी हम कितने अधिक विभक्त हो गये हैं,। हमारी मानवता-धार्मिकता कहां

जैन समाज कब एक बनेगा। कब हमारी उन्नति होगी। भेद-भाव की दीवारें कब समाप्त होंगी। अपने उस समय गुरुदेव से निवेदन किया—स्थानकवासी समाज की हरेक सम्प्रदाय के साथ स्नेह सम्बन्ध रखने में एतराज नहीं होना चाहिए।

सन् १६४८ में पुनः इगतपुरी में मिलन सम्मिलन हुआ। वह प्रेम का पौधा अधिकाधिक विकसित हो रहा था। स्नेही सन्त जनों के साथ मिलने का आनन्द भी वस्तुतः अपूर्व होता है।

सन् १६५२ में सादड़ी के प्राङ्गण में सन्त सम्मेलन का आयोजन था। दूर-दूर से सन्त भगवन्त पधारे, एकता की मंगलमय भावना को लेकर, दृश्य बड़ा सुहावना था। मैंने देखा मालव केसरी जी महाराज को कर्मयोगी श्री कृष्ण का पार्ट अदा करते हुए। वे संधिदूत बनकर एक संत के पास से निकलकर दूसरे सन्त के पास जा रहे हैं, सभी को संगठन का महत्त्व बताते हुए कह रहे हैं जो भी आपकी समस्या है मुझे कहिए, मैं उसके समाधान का प्रयास करूंगा, हमें यहाँ एक होकर रहना है। विश्व को दिखा देना है कि स्थानकवासी समाज कितना क्रान्तिकारी समाज है। मैंने देखा इनके मन में गजब का जोश है, संगठन करने की तीव्र भावना है। वही भावना पुनः सोजत मंत्रि मण्डल की बैठक में तथा अजमेर शिखर सम्मेलन में देखने को मिली।

सन् १६६७ का हमारा वर्षावास बम्बई बालकेश्वर मलवार हिल पर था, और आपका फोर्ट में था, अनेकबार वर्षावास में दर्शन का अवसर मिला, पर स्थान की दूरी होने से जितना चाहिए उतना मिलने का आनन्द प्राप्त न हो सका।

सन् १६६८ का घोड़नदी का वर्षावास समाप्त कर पूज्य गुरुदेव श्री नासिक पधार रहे थे। उस समय आप श्री नासिक से सिन्नर पधारे थे। सिन्नर में दोनों ही महापुरुषों का मधुर मिलन हुआ। आपश्री

नासिक आऊँगा सम्मेलन करवाने के लिए, हम सभी मिलकर श्रद्धालु श्रावकों में अभिनव चेतना जागृत कर देंगे।

"युग की अब यह हुई पुकार
सम्मेलन का करो विचार"

नासिक के ऐतिहासिक क्षेत्र में राजस्थानकेसरी और मालव-केसरी दोनों का अपने-अपने शिष्य समुदाय सहित पदार्पण हुआ। संगठन की महत्ता पर जो उन्होंने भाषण दिये वे बड़े ही गजब के थे। उन भाषणों में उनकी वाणी ही नहीं, हृदय बोल रहा था। श्रमण संघ की उन्नति हो, संगठन सुदृढ़ हो, एक विचार हो, एक आचार और एक प्ररूपणा हो यही उनके अन्तर्हृदय की आवाज थी।

मालव केसरी जी म० की प्रेरणा से दि० २-२-१९६७ को नासिक में महाराष्ट्र प्रान्तीय प्रतिनिधि श्रावक संघ का शानदार सम्मेलन हुआ। महाराष्ट्र प्रान्त के उत्साही कार्यकर्ता उपस्थित हुए। मैंने देखा मालवकेसरी जी म० सर्व प्रथम एक-एक मुख्य कार्यकर्ता को बुलाकर एकान्त में समझा रहे हैं, उनको भावी रूप रेखा बता रहे हैं, उसके पश्चात् सामूहिक रूप से सभी को तैयार कर रहे हैं। जो विरोधी हैं उनके कान में भी ऐसा मंत्र फूंक रहे हैं कि वह विरोध को भूलकर कार्य करने के लिए तैयार हैं। जो कंजूस और मक्खीचूस हैं वे भी खुले हाथों दान देने के लिए तत्पर हैं। जो निरुत्साही हैं उनमें भी उत्साह का ज्वार आ रहा है। मालवकेसरी जी की वाणी में एक जादू है, उनकी वाणी मिश्री से भी अधिक मीठी है, जब बोलते हैं तो चारों ओर हंसी के फव्वारे छूट जाते हैं। मैंने अनुभव किया—जिस किसी को सामाजिक कार्य करने की कला सीखनी है वह मालव केसरी जी म० से सीख सकता है। वे इस कला के मास्टर है।

व्यक्ति का व्यक्तित्व

—जीवन मुनि, 'प्रेमी'

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है, कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक व्यक्तित्व होता है। समाज पर व्यक्ति का नहीं उसके व्यक्तित्व का ही प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जितना तेजस्वी होता है, उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति पर उतने ही मधुर एवं प्रभावक संस्कारों की छाप पड़ती है, मुख पर प्रसन्नता हो, वाणी में मधुरता हो और मानस में उदारता हो, तो वह व्यक्तित्व अवश्य ही समाज का सहज में नेता बन जाता है।

मैंने देखा है और अनुभव किया है कि पूज्य मालवकेशरी, महाराष्ट्रविभूषण प्र० व० स्थविर पदभूषित श्री सौभाग्यमल जी म० सा० के जादू भरे व्यक्तित्व का प्रभाव सर्वत्र एक जैसा ही पड़ता है, उनके व्यक्तित्व की सीमा विशाल एवं व्यापक है। उसमें सभी अपने हैं, उसमें परायापन और अन्यत्व है ही नहीं। नगर हो अथवा ग्राम हो—सभी उनकी वाणी के जादू से प्रभावित हैं।

उनके मुखमण्डल की प्रसन्नता की रेखाओं ने और उनकी वाणी के माधुर्य ने सबको अपना बना लिया है।

मैं कामना करता हूं, कि यह तेजस्वी व्यक्ति शतवर्षी होकर समाज का पथ-दर्शन करता रहे। ★

पास भी कर दिया। अन्ततः आचार्य पद का सुन्दर मुकुट श्रद्धेय श्री आत्मारामजी म० के तेजस्वी ललाट पर सुशोभित किया गया। इसका श्रेय आप श्री को ही है।

गाम्भीर्य गुण की साक्षात् प्रतिमूर्ति :

आप श्री की हृदयस्थ गहराई का माप लेना कठिन है। आप श्री ने कभी अधूरे विचार से तो वात तथा काम करना सीखा ही नहीं। "पहले तोलना, फिर वोलना" यह आप श्री का मूल सिद्धान्त रहा है। शास्त्रीय विधि से भाषा समिति में आप श्री सदैव उपयोग-शील रहते हैं।

वचस्वी मुनिवर :

आप श्री की वाणी में अद्भुत शक्ति है। वोलते हैं तो मानो एक प्रकार की पीयूषवर्षा-सी होने लगती है, गंगा के निर्मल और शीतल जल के प्रवाह की भाँति जब आपश्री अपनी माधुर्य रस से परिपूर्ण ओजस्वी वाणी के प्रवाह में उपदेश देते हैं, तो श्रोताओं के नीरस शुष्क और निष्ठुर हृदय सरसब्ज हो जाते हैं। आप श्री के सिंहनाद को सुनकर जनता वाह-वाह कर उठती है। आप श्री सचमुच एक सफल और निर्भीक वक्ता हैं, सत्य पक्ष पर आप अडिग और अडोल रहते हैं। "सत्यं नास्ति भयं क्वचित्" लोगों के मिथ्या आक्षेपों अथवा किंवदन्तियों से क्षुभित होना आप श्री का स्वभाव ही नहीं है।

लेखनकला के धनी :

आप श्री की लेखनी में भी अनोखा चमत्कार है, "आचारांग सूत्र" प्रथम श्रुत स्कन्ध लिखकर आप श्री ने शास्त्र स्वाध्याय के प्रेमी अध्ययनशील जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को शान्त कर दिया है, यानी सरल और सारगर्भित प्रत्येक विषय को सुगम रीति से

दयालु-हृदय :

"समो य सव्वभूएसु' इस पाठ को आप श्री ठीक-ठीक चरितार्थ कर रहे हैं। आप श्री के कोमल हृदय से सदैव दया का झरना झरता रहता है। कभी किसी से कठोर वर्ताव करना तो आप श्री को आता ही नहीं। दुखी मन को सान्त्वना देकर उसके मन को हल्का कर देने की आप श्री के पास अचूक औषधि है। आप श्री के सान्निध्य में जनमानस अपूर्व शांति का अनुभव करता है। एक बहुत बड़ी आप श्री की विशेषता यह है, कि न तो किसी से एक दम प्रभावित होते हैं और न किसी को अनुचित रूप से प्रभावित करते हैं। जैन समाज के आप श्री ज्योतिर्धर मुनिराज हैं, श्रेष्ठ कर्णधार हैं, डूबतों की पतवार हैं, पापांधकार में फंसे व्यक्तियों के लिए "सर्चलाइट" का काम कर रहे हैं। जैन जाति को आप श्री पर गौरव है। आप धर्म की मीनार और कौम के शृंगार हैं। शासन प्रणाली आप श्री जी की अत्युत्तम और श्लाघनीय है। धर्मानुकूल उचित रीति से सच्चे प्रेरक के रूप में पथभ्रष्टों को सन्मार्ग दर्शन कराने की आप श्री में पूरी क्षमता है।

जितेन्द्रिय महर्षि :

आप श्री की धीरता, वीरता, गंभीरता, नम्रता शान्तिप्रियता, सहिष्णुता, निर्भीकता, निष्पक्षता, दयालुता, सेवा भावना, दूरदर्शिता वाक्पटुता, व्यवहार कुशलता, संयम—साधना एवं ज्ञानाराधना इत्यादि गुणों की ज्योत्सना भूमण्डल में जगमगा रही है। ऐसे महान् सन्त के लिए शत-शत वन्दन के साथ मेरी यही हार्दिक मंगल कामना है—"चत्वारि तव वर्धन्ताम् आयुर्विद्यायशोबलम्"

☆

स्नेह्-संस्मरण

—मुनि प्रतापमल

वर्तमान युग में आपका संयम-स्थान अति-उत्तम है ! इस समय आप वयस्थविर, दीक्षास्थविर, और शास्त्र-स्थविर हैं। आप जहाँ भी पधारते हैं, विचरण करते हैं, वहाँ शांति और आनन्द का झरणा प्रवाहमान कर देते हैं। इन्हीं कारणों से जिन-जिन साधु-सम्मेलनों में आप पधारे हैं—वे सब के सब पूर्ण रूप में सफल रहे हैं। अब आगे भी हमारी यही आशा है, शुभ-कामना है, कि भविष्य में भी होने वाला साधु-सम्मेलन आपकी ही उपस्थिति में फले-फूले, तथा समाज को नयी चेतना, नयी प्राण शक्ति प्रदान करे।

आपकी प्रकृति, आपका स्वभाव—मधुर है, सरस है, परम सरल है और प्रभावोत्पादक है। यही कारण है, कि आपने अपने शिष्य-शिष्याओं के अतिरिक्त भारतवर्ष के समग्र मुनि-महासतियाँ जी के हृदय में अपना स्थान स्थित कर लिया है।

वि. सं. २०२१ इन्दौर-चातुर्मास के अवसर पर हमें आपके चरण-कमलों में सेवा का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। उसकी शुभ-स्मृति, आपकी महती कृपा तथा ज्ञान-दान हमें हर समय आपकी महानता का स्मरण करा देता है। इतना ही नहीं भविष्य में भी आपकी वह कृपा अमिट व अमर बनी रहेगी।

अन्त में मेरी यही आन्तरिक अभिलाषा है, कि आप चिरायु बनें और आपके शुभ-सद्प्रयासों से धर्म जागृति करते रहें।

१५ अगस्त १६६६
जामुवाला स्थानक
मन्दसौर नगर (म. प्र.)

☆

मालवकेशरी जी महाराज के कतिपय संस्मरण

शान्तिमुनि "जैन सिद्धान्ताचार्य"

विनय-गुण संपन्न

जैन-शास्त्रों में धर्म का मूल 'विनय' कहा गया है, और यह विनय गुण मालवकेशरी जी म. के जीवन में कूट-कूट कर भरा हुआ है। बात है, विक्रम सं २००६ की, श्री मालवकेशरी जी म. मालवे की तरफ से ब्यावर सम्मेलन हेतु जब पधार रहे थे उस समय मेरे श्रद्धेय गुरुदेव, मेवाड़ भूषण, आचार्य प्रवर श्री मोतीलाल जी म. मावली विराजमान थे। म. श्री ने गुरुदेव श्री को संदेश दिया कि मुझे आपके दर्शन करते हुए आगे बढ़ना है। अतः आप मावली ही विराजें। मार्ग में आने वाले समीप के क्षेत्रों में पधारने का कष्ट भी नहीं करें। क्योंकि मुझे तो ज्येष्ट गुरुओं का विनय करना है। दोनों मुनि पुंगवों का समागम मावली में हुआ, और वहाँ प्रत्यक्ष देखा, कि इस उच्चात्मा के किसी व्यवहार में अहंभाव की झलक कहीं भी नहीं है—शिष्य और गुरु की तरह परस्पर व्यवहार साधा गया। यहाँ तक कि पाँव भी दबाने लग गये। ऐसे अवसर पर श्री भारमल जी म., श्री अंबालाल जी म. (वर्तमान में आप प्रवर्तक हैं) कहते, कि आप विद्वान हैं, बड़े हैं, प्रसिद्ध हैं। यह आराधना तो हम जैसे छोटे मुनियों की है, तो आपका विनय गुण से परिपूर्ण उत्तर था कि "विनय करने में नुकसान है? यदि नहीं है, तो मैं इस लाभ से वंचित कदापि नहीं रह सकता।" यह है प्रखरवक्ता महाराज श्री की विनयशीलता। अन्त में पूज्य श्री भी मालवकेशरी जी म. को ससम्मान विदाई देने के लिए मावली से सनवाड़ तक साथ-साथ पधारे।

ज्ञान-सागर :

मोक्ष-मार्ग में क्रिया के साथ-साथ ज्ञान की भी परमावश्यकता रहती है। प्रसिद्धवक्ता श्री जी में यह ज्ञान साधना इतनी गहनतम है, कि उसका छोर पाना कठिनतम ही नहीं, किन्तु असंभव ही है। कुछ वर्षों में यदा-कदा महाराज श्री के व्याख्यान श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उसी का यह निचोड़ है। महाराज श्री व्याख्यान में जो विषय प्रारंभ किया करते हैं, अंत तक वही विषय धारा प्रवाह रूप में, अबाध गति से चलाते रहते हैं। और वह भी इतनी सरसता के साथ में, कि श्रोतृ समुदाय को कभी अन्यमनस्क होने नहीं देते—भले फिर व्याख्यान का समय स्वल्प हो या अधिक प्रत्येक परिस्थिति में विषय का कोई अंग छूट नहीं सकता।

कभी-कभी एक ही विषय पर अनेक बार बोलने का भी प्रसंग सुना, तो मन में एक अकथनीय आल्हाद आता रहा। क्योंकि प्रत्येक बार में युक्तियां भिन्न-भिन्न होतीं, उदाहरण भिन्न-भिन्न रहते, और पूर्व के व्याख्यान की अपेक्षा उत्तर का व्याख्यान और भी अत्यधिक सरसता से सना हुआ रहता।

विषय प्रतिपादन में स्वमत शास्त्रोद्धरणों के साथ पर मत शास्त्रों के उद्धरणों के प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में सुनने को मिलते। और वे भी केवल भाव रूप में नहीं; किन्तु यथावत् गद्य-पद्य रूप में ही। इसके अतिरिक्त दोहा, छन्द, कविता, श्लोक, सवैया और चौपाई आदि का प्रयोग भी करते रहते।

हिन्दी, गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, उर्दू आदि भाषा में भी आप अमन्थर गति से बोल लेते हैं। अतः यह कहा जा सकता है, कि महाराज श्री की ज्ञान-साधना भी असीम है।

वाणी के भूषण :

मालवकेशरी जी म. को वाणी के भूषण कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। क्यों कि आपकी वाणी अस्पष्ट, संदिग्ध, पुनरुक्ति, क्लिष्ट आदि दोषों से रहित है। वाग्विलासी महाराज श्री प्रायः जनता के अनुरूप ही वाणी का प्रयोग किया करते हैं—विद्वद् सभा में विद्वद् योग्य भाषा का, और साधारण सभा में साधारण भाषा का।

स्याद्वाद, कर्मवाद, नय-निक्षेप वाद जैसे कठिन विषयों को भी वे साधारण सभा में इस शैली से उपस्थित करते हैं, कि बाल-वृद्ध, नर-नारियों को समझने में किसी तरह की कठिनता का अनुभव नहीं होता।

महाराज श्री व्याख्यान के समय श्रोताओं पर पूर्ण रूप से छाये हुए रहते हैं। वाणी में इतना ओज एवं मधुरता रहती है, कि व्याख्यान का समय कव पूर्ण हुआ श्रोताजन यह जान भी नहीं पाते।

व्याख्यान के समय श्रोताओं की एक टकटकी दृष्टि, श्रोताओं में अकोलाहल, व्याख्यान समाप्ति के बाद श्रोताओं का समय को खोसना, अगले दिन व्याख्यान के समय पहले से ही श्रोतृ समुदाय की अधिक उपस्थिति आदि वातें यह प्रकट रूप से वताती हैं, कि मालवकेशरी जी म. वाणी के भूषण हैं और इसी कारण आप प्रसिद्ध वक्ता या प्रखर वक्ता की उपाधि से समलंकृत हैं।

आपकी वाणी की याद भी जलरेखा के समान नहीं होकर, श्रोताओं में लंबे समय तक स्थान बनाए रखती है। प्रसंग है, भीनासर सम्मेलन का। एक व्याख्यान में प्रसंगवश आपने केर-सांगरी की वात (उस प्रदेश में इनकी बहुलता है) कह डाली तो सम्मेलन की समाप्ति के पश्चात् भी जनता मालवकेशरी, प्रसिद्ध वक्ता नाम के साथ-साथ 'केर-सांगरी' वाले महाराज नाम का प्रयोग भी करती रही।

मिलनसार :

मालवकेशरी जी म. के जीवन में मिलनसारिता का गुण एक अनूठेरूप में उद्‌भासित हुआ है, और इसी सद्‌गुण के कारण संघैक्य में आपने सक्रिय सहयोग प्रदान किया। आप जब भी किन्हीं संतों से मिलते हैं, तो केवल ऊपर से दिखावे मात्र को नहीं, किन्तु बड़ी आत्मीयता से मिलते हैं। एक बार आपने मुझे और मेरे साथी सन्त श्री इन्द्र मुनि जी म. को २०२१ में उज्जैन चातुर्मास समाप्त होते ही इन्दौर बुलाया, और हम इन्दौर पहुँचे, तो आप श्री ने एवं पंडित प्रवर श्री प्रताप मल जी महाराज ने संभावना से भी अधिक आत्मीयता दिखाई और हम मन ही मन श्रद्धावान बन गए।

आप श्री ने हम दोनों संतों को भी २०२२ के कांदावाड़ी (बंबई) चातुर्मास के लिए साथ में रख लिया और इस सहवास में आपकी मिलनसारिता की अमिट छाप हमारे हृदय पर अंकित हो गई।

आजकल कुछ वर्षों से तो प्रायः आप अपने पास किसी न किसी सिंघाड़े के सन्तों को चातुर्मास के लिए रख ही लेते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है, कि महाराज श्री मिलनसार प्रकृति के सन्त हैं।

सेवा-निष्ठ :

मालवकेशरी जी म. के जीवन में सेवा का महत्व भी कुछ कम नहीं है। छोटे हों या बड़े, प्रसिद्ध हों या अप्रसिद्ध, आप सभी सन्तों की सेवा तन्मयता से किया करते हैं। और अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। प्रसंग है, कांदावाड़ी चातुर्मास का ही, जब मैं स्वयं बवासीर की पीड़ा से पीड़ित था। तो मेरी परिचर्या में महाराज श्री छोटे संत की तरह जुट गए। जैन क्लिनिंग की पाँचवीं मंजिल तक आप मेरे पास पधारते, और समय-समय पर सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे। आपकी इस सेवा-साधना को देखकर मैं

मन ही मन दंग रह गया, कि इतने वड़े मूर्धन्य संत ने सेवा का महत्व केवल शब्दों में नहीं, किन्तु जीवन में भी उतार लिया है। प्रसंग वश यह वात भी कह देता हूँ, कि मेरे साथी श्री इन्द्र मुनि जी म. जो अभी तक मेरीं परिचर्या में वरावर संलग्न हैं, श्री हुकम मुनि जी म. श्री महेन्द्र मुनि जी म. श्री जीवन मुनि जी म. की सेवा भी कोई कम सराहनीय नहीं रही।

३।। महीने उपचार कराने के वाद भी रुग्णावस्था में जव विहार किया गया तो मालवकेशरी जी म. ने श्री हुकम मुनि जी म. श्री महेन्द्र मुनि जी म. युगल शिष्यों को भी मेरे साथ सेवा में रहने की आज्ञाप्रदान कर की और दोनों सेवाशील मुनिवरों ने वंवई से सेंधवा पर्यंत जो सेवा की, वह सेवा मेरे जीवन में अविस्मरणीय रहेगी।

अपनी आवश्यकता में कमी करके संतों को सेवा में भेज देना, यह व्यवहार मालवकेशरी जी म. के जीवन में सेवा का महत्व क्या है ? इस वात को स्पष्ट आलोकित कर रहा है।

साहस के धनी :

केशरी में जैसा साहस होता है, वैसा ही साहस मालव केशरीजी म० में आज वृद्धावस्था में भी पाया जाता है। मालीच से अमलनेर पहुँचना था, वैशाख की गर्मी में। मार्ग इतना विकट कि विना व्यथा एक फर्लांग भी नहीं चला जा सकता। रेल की पटरी पर चलो तो तीखे-तीखे कंकर कोयलों की अणियाँ चुभे और कच्चे रस्ते चलो तो कांटों की अणियाँ।

चलते-चलते जव मेरा साहस टूटने लगा, तो मुझे कहा, कि वस इतने से ही घवरा रहे हो। लो चलो, वढ़ो, मार्ग की कमी चलने से ही होगी। यों फरमाते हुए जव आप मुझसे से भी आगे वढ़ चले, तो मेरा

साहस सहसा बढ़ गया, और सारा क्लान्त वातावरण उमंग में बदल गया। मैंने अनुभव किया, कि ये वृद्ध साहसी किसी दिन महानतम साहसी, या साहस के बड़े धनी रहे हुए हैं।

निष्कर्ष यह है, कि मालव केशरी जी म० का जीवन सब तरह से विकसित जीवन है, और है उस इन्द्रधनुष की तरह, जिसमें बहुत से रंग एक साथ दिखाई देते हैं। महाराज श्री के एक जीवन में अनेक सद्‌गुण विद्यमान हैं। ऐसे परममूर्धन्य सद्‌गुण सागर सन्त महन्त को शतशः वन्दन।

यह जैन जगत का सुधांशु अपने सौम्य, शान्तादि दिव्य गुणों से सदैव चमकता रहे, इसी शुभ कामना के साथ संस्मरणांश से विश्राम!

मधुर सान्निध्य

—अशोक मुनि

प्रथम दर्शन :

मेरे संयमी जीवन के दूसरे वर्ष में श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज के सान्निध्यता में रतलाम में मैंने मधुरमना पण्डित श्री सौभाग्यमलजी म० के दर्शन किए। उस समय मध्यप्रदेश, मेवाड़, मारवाड़ में स्थानकवासी समाज के कई बड़े शहर साम्प्रदायिकता केन्द्र बने हुए थे, जिनमें रतलाम का भी प्रमुख स्थान था। रतलाम में तीन सम्प्रदायों का बाहुल्य था और उस समय एक सम्प्रदाय के मुनि का अन्य सम्प्रदाय के मुनि के साथ वार्तालाप भी चकित और शंकित दृष्टि से देखा जाता था। ऐसे समय में समाज के भविष्य द्रष्टा संघैक्य के अग्रदूत श्रद्धेय गुरुदेव दिवाकर जी महाराज एवं समाज की धड़कनों के ज्ञाता पण्डित श्री सौभाग्यमल जी म. का रतलाम में मिलन हुआ। दिवाकर जी महाराज मन्दसौर से पधारे थे एवं स्व. ताराचन्द जी म०, शास्त्रज्ञ श्री किसनलाल जी म., एवं प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमल जी म. सुदूर दक्षिण प्रान्त से विचरण करते हुए वहाँ के अनुभव लेकर पधारे थे। पश्चिम एवं दक्षिण के अनुभवों का संगम हो रहा था, और दोनों महापुरुषों का रतलाम के चाँदनी चौक में सम्मिलित व्याख्यान रखा गया। उस समय के वातावरण में सम्मिलित व्याख्यान साम्प्रदायिक भावनावालों को आश्चर्य में डालने वाला था। उस समय की व्याख्यान की उपस्थिति एवं दोनों वक्ता महापुरुषों का व्याख्यान, दोनों अपूर्व थे!

उसके पश्चात् तो मालव में, सौराष्ट्र में, मरुधर में, महाराष्ट्र में, आदि कई स्थानों पर मुझे दर्शन एवं सेवा का अवसर मिला है। और जब-जब भी दर्शनों का सौभाग्य मिला, मैंने आप श्री में नयी विलक्षणता देखी है।

वय में वृद्ध, स्वभाव से शिशु :

प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमल जी म. को शिशु हृदय कहूँ, तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। वयोवृद्ध एवं युवक तो उन्हें घेरे रहते ही हैं, किन्तु उनके हृदय की शिशु जैसी सरलता उनमें और भी आकर्षण पैदा कर देती है। सोजत मीटिंग में पहुंचने के लिए बम्बई से केवल हम दोनों ने ही विहार किया था। किन्तु मार्ग में मुझे कभी यह अनुभव नहीं होने दिया, कि मैं तुमसे बड़ा हूँ। कार्य में तत्परता, विहार में त्वरा, स्वभाव में सामंजस्यता सभी कुछ समानता। बम्बई से विहार कर महाराष्ट्र जैसे विशाल प्रदेश को पार करके, मालवा, मेवाड़ होते हुए मरुधरा क्षेत्र जैसे सुदीर्घ प्रदेश में पहुँचने के लिए इतना बड़ा साहस आपने ही किया था।

साहसी सैनिक :

भगवान महावीर के आप साहसी सैनिक हैं। संघ ऐक्य के लिए तथा श्रमण संघठन के लिए आपकी सेवाएँ अमूल्य हैं। सादड़ी, सोजत एवं भीनासर सम्मेलन में जिन्होंने आपका कार्य देखा है वे ही जानते हैं। कुशल राजनयिक की भांति दो मनों को निकट लाने में आप सदा तत्पर रहते थे। अपने मधुर स्वभाव से आपने कई बार उलझी कड़ियों को सुलझाया है। इतना करके भी आप ने पद का मोह तो दूर, किन्तु कभी सम्मान के लिए आगे आने का भी प्रयत्न नहीं किया।

मधुर वक्ता :

वक्तृत्व शक्ति आप में स्वाभाविक है ! अपनी मधुरवाणी से ऐसी बात कह जाते हैं, कि आदमी के हृदय पर सीधा असर करते हुए भी व्यक्ति को कटु नहीं लगती। कुछ वर्ष पूर्व अजमेर प्रतिनिधि सम्मेलन में पधारते हुए आचार्य श्री के नेतृत्व में हमारा समुदाय आगे बढ़ रहा था। मदंसौर का प्रसंग है, वहाँ एक मूर्तिपूजक जैनाचार्य की स्मृति में कोई सभा रखी गयी थी, सभास्थान पर अनेक राजकर्मचारी और वक्ताओं की उपस्थिति थी। आचार्य श्री ने आपको ही वक्ता के रूप में भेजा। आपके पूर्व कई वक्ता अपना प्रभाव दिखा चुके थे। किन्तु ज्योंही आपने अपनी मधुर वाणी में हास्य का पुट दिया कि समां बंध गया, जनता चित्रवत् हो गयी। आपने अपना व्याख्यान पूरा किया और दूसरों का नम्बर आया। परन्तु दूसरे वक्ता ने खड़े होते ही अपनी पराजय स्वीकार कर ली, और कह दिया—"चाँद के आगे हम तारे टिम-टिमा कर रह गए।"

मुझे आपकी सानिध्यता में रहने का अनेक बार सौभाग्य मिला है, और प्रत्येक बार विछुड़ने पर हृदय में एक अतृप्ति, प्यास शेष सी शेप रही है। ऐसा है आपका मधुर सान्निध्य।

रावर्टसनपेठ के. जी. एफ.

१५ अगस्त १९६९

महाराष्ट्र विभूषण : एक महान् व्यक्तित्व

—भानु ऋषि "जैन सिद्धान्त आचार्य"

पं० रत्न, प्रसिद्धवक्ता, मृदुभाषी, मानवकेसरी परमश्रद्धेय श्री सौभाग्यमलजी म० जैन जगत के एक अद्वितीय विद्वान् हैं। जैन जगत में ही नहीं, बल्कि सारे भारत में उनका नाम प्रसिद्ध है। अपने समय के विद्वद् वर्ग में सम्मानित हैं। संस्कृत में कहा है—"विद्वान् सर्वत्र पूज्यते"।

वास्तव में आपकी प्रतिभा बेजोड़ है। आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की अजस्रधारा प्रवाहित हुई है। आपको साहित्य, व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, संस्कृत, प्राकृत आदि का बहुत ही अच्छा ज्ञान है। और कई भाषाओं पर आपका आधिपत्य है। महाराष्ट्र विभूषण जी का अध्ययन बड़ा ही विशाल है। जैन धर्म के चारों अनुयोगों के साथ उनका आगमों का भी अच्छा अध्ययन है।

उनकी प्रतिभा के असंख्य चमत्कार उनकी शैली में ही साकार हुए हैं। इन विशेषताओं के साथ स्वर्ण में सौरभ के योग की तरह उनकी एक सबसे बड़ी विशेषता है, विद्वत्ता के साथ उनकी अन्तर्दृष्टि तथा उनका सरल सात्विक मन एवं जीवन में मिठास, बोली में मृदुता, विशुद्ध जीवन। अन्तर्दृष्टि से अनुशासित विशुद्ध परिमार्जित जीवन में साहित्य का सर्जन किया है। आप श्री जी ने काफी साहित्य का प्रकाशन करके समाज उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

सर्वतोमुखी प्रतिभा, निष्पक्ष आलोचन, स्पष्टवादिता अद्भुत साहस, विशद ज्ञानकोष, अपराजित अन्तर्बल और आगम तुला-

सम्मत निर्भय निशंक वाणी असाधारण व्यक्तित्व में एक ही साथ समन्वित है।

विचित्र बुद्धि एवं मान्यता वाले लोग—यथा धार्मिक अन्ध-विश्वास से जिनकी विचार शक्ति क्षुब्ध हो जाती है। जो पंथ के मोह से आक्रांत है, मिथ्याभिनिवेश में धर्म का भार ढोते हैं। वैराग्य के वियोग में जिनका ज्ञान शुष्क हो गया है, या जो एकदम धर्म निरपेक्ष एवं नास्तिक हैं—सभी के लिए महाराष्ट्र विभूषण एक सजीव समाधान हैं। सभी को आपके समीप से अपने-अपने योग्य प्रचुर सामग्री मिलेगी।

संस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थों की दुरुहता और हमारी मतिमंदता के कारण आप जैसे सन्त और आपकी पावन वाणी के प्रति जो हमारी आस्था है वह आपकी ही प्रेरणा है।

आप समाज के उद्धारक हैं, नैया पार लगाने वाले हैं, वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्राण है। आप अनेकानेक गुणों से विभूपित हैं। इन्हीं गुणों से महाराष्ट्र आर्कषित हुआ और आप श्री जी को (इतिहासिक प्राचीन शहर जो वैष्णव लोगों का तीर्थ धाम माना जाता है। जहाँ पर द्वादश वर्ष पश्चात् कुम्भ मेला भरता रहता है, सुन्दरता से युक्त रमणीय, गोदावरी सरिता के तट पर स्थित ऐसे सुप्रसिद्ध नाशिक शहर में) "महाराष्ट्र विभूषण" की पदवी प्रदान की गई।

आपका विहार क्षेत्र भी काफी लम्बा-चौड़ा रहा है। दक्षिण भारत में आपका भी पधारना हुआ। दक्षिण भारत में सर्वप्रथम जैनाचार्य शांति सम्राट परमश्रद्धेय, पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी म० पधारे और प्रथम चातुर्मास बेंगलोर में आचार्य श्री जी का हुआ और दक्षिण भारत के क्षेत्र खोले। तत्पश्चात् आप श्री जी

अपने गुरुदेव मालव-मंत्री श्री किसनलाल जी म० तथा प्रमुख संत सरलात्मा सेवाभावी श्री ताराचन्द जी म० के साथ पधारे थे। १४ संतों के नाम से आप दक्षिण प्रान्त में प्रसिद्ध हुए। और बेंगलोर शहर के सूले बाजार में चातुर्मास हुआ था। चातुर्मास कराने में बेंगलोर निवासी दानवीर सेठ श्री छगनमल जी मुथा ने सक्रिय भाग लिया था। खूब ही शानदार ढंग से चातुर्मास दिपाया था। मद्रास में भी चातुर्मास किया, वहाँ भी अच्छा रहा है। दक्षिण में काफी धर्म का प्रचार किया।

आप श्री ने अपने जीवन में महाराष्ट्र की राजधानी बम्बई को राजगृही जैसी उपमा दायक बना दी, क्योंकि अधिकतर चातुर्मास बम्बई में हुए। और बम्बई की जनता का धर्म प्रेम आपके प्रति काफी रहा है।

आप श्री जी के दर्शन एवं सेवा का मौका तो इस लेखक को वैराग्यावस्था में, और दीक्षित होने के बाद कई बार मिला। आपके प्रेम भरे व्यवहार ने मेरे जीवन में काफी प्रभाव डाला। जब आप श्री जी इन्दौर शहर में आपके गुरुदेव की सेवा में विराजते थे तब सम्पर्क में रहने का सुअवसर मिला था। आपकी सेवावृत्ति, निरभिमानता, प्रेमालु व्यवहार ने दिल को आकर्षित कर लिया था।

मालवकेसरी जी के किस लेखनी से गुणगान करूँ। अनेकानेक गुणों से विभूषित परम श्रद्धेय महाराष्ट्र विभूषण, मालवकेशरी जी की युग-युगान्तर तक यशः कीर्ति शुक्लपक्षीय चन्द्रवत् वृद्धिगत हो इसी शुभ कामना के साथ लेख समाप्त करता हूँ।

जैन-स्थानक
चिकपेठ, बेंगलोर
जुलाई २९, १९६९,

मालवकेशरी जी : एक परिचय

—श्री रंगमुनि

परिचय-रेखा :

लम्बा कद, श्यामवर्ण, शरीर पर शुद्ध श्वेत परिधान, श्वेत बालों से युक्त शोभायमान मस्तक, उपनेत्र में चमकते हुए सुन्दर दो नैन, हाथ में श्या वर्ण की यष्टिका - इन वाह्य उपकरणों से सुशोभित होने वाले महामानव का विख्यात नाम है मालवकेशरी प्रसिद्धवक्ता पं० रत्न मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज।

संयम :

क्षण भंगुर जीवन की गतिशीलता को देखकर भव्यात्मायें प्रवुद्ध हो उठती हैं। गुरु का निमित्त मिलते ही वे अपने उपादान शुद्धि के कारण अन्तःकरण की शुद्धि में संलग्न हो जाते हैं। श्रद्धेय मालव-केशरी जी को भी स्वर्गीय महाराष्ट्र मंत्री कवि एवं प्रवक्ता श्री किशन लाल जी म. सा. का शुभ संयोग प्राप्त हुआ तथा उनके तप एवं आदर्श जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर सभी सांसारिक प्रवृत्तियों का परि-त्याग कर आत्म साधना के राजमार्ग पर आरूढ़ हो गये।

श्रेष्ठ गुणों के धनी :

महापुरुषों का जीवन सेवा संयम तथा सादगी से युक्त विलक्षण होता है। वे सुरभित कुसुम के समान अपनी त्याग एवं तप की महक के कारण जगत प्रसिद्ध हो जाते हैं। अभिमान का लवलेश भी अंश नहीं होता है। श्रद्धेय मालवकेशरी जी के जीवन की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यही है कि वे चाहे छोटा साधक हो या वड़ा सभी के साथ

प्रेम, वात्सल्य एवं विनम्रता का व्यवहार करते हैं। गुरु सेवा का प्रमुख उदाहरण उनके जीवन से प्रकट होता है। स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव सहस्रमल जी म. समय-समय प्रवचनान्तर फरमाया करते थे कि जैसी गुरु सेवा वर्तमान में किशनलाल जी म. सा. की सौभाग्यमल जी म. अग्लानि पने कर रहे हैं वैसी आभ्यन्तर एवं वाह्य सेवा करने वाला साधक मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।" स्वयं मालवकेशरी जी रुग्ण होते हुए भी अपने ही हाथों से सेवा करते थे। गुरु भक्ति में तत्पर होने के साथ हो साथ उनके आदर सूचक शब्द "ईश्वर" आज भी मेरे मन-मस्तिष्क में बार-बार स्मरण हो रहा है।

शान्ति के अग्रदूत :

महापुरुषों का जीवन सागर के समान गम्भीर होता है। वे सुख-दुःख, संयोग, वियोग या अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मेरुपर्वत के समान अड़ोल रहकर सभी झंझावतों को सहन करते रहते हैं। सादड़ी सम्मेलन के शुभावसर पर एक तेजस्वी, प्रतिभावान क्रान्तदर्शी मुनिराज किसी प्रसंग को लेकर नाराज हो उठे तथा सम्मेलन की कार्यवाही छोड़कर अन्यत्र चले गये। उस समय आप जैसे क्षमामूर्ति तटस्थ विचारक श्रमण ने ही मधुर वचनों के द्वारा पुनः सम्मेलन में उन मुनिराज को लाने का चिरस्मरणीय कार्य किया था। उसी समय श्रमण संघ के पदाधिकारी मुनिवरों ने सहसा मुक्त कण्ठ से सराहना करते हुए "शान्ति के अग्रदूत" उपाधि से आपको सुशोभित किया।

प्रसिद्ध वक्ता :

आपकी व्याख्यान शैली विलक्षण एवं मधुर है। आप प्रवचनों में कभी भी कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करते हैं। सभा का मनोरंजन करना तथा प्रेरणादायी प्रवचनों से जनता को त्याग एवं

तप की ओर प्रेरित करना आपका सहज गुण है। हिन्दी गुजराती एवं संस्कृत भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। विशेषकर गुजराती भाषा पर आपका चमत्कार पूर्ण अधिकार है। बम्बई निवासियों के हृदय में तो पूर्ण श्रद्धा के केन्द्र आप ही है। बम्बई निवासी आपको व आपके प्रवचनों का लाभ छोड़ना नहीं चाहते।

दीर्घायु हों :

श्रमण संघ के प्राण, मेरी आस्था के मोती, जनजीवन के उत्थान में सहायक, तप-संयम की अटल विभूति, भूले भटके अज्ञानी जनों के पथ प्रदर्शक, श्रद्धेय मालवकेशरीजी दीर्घायु बनकर जैन समाज में भास्कर के समान प्रकाशित होकर जिनशासन की अविरल सेवा करते रहें यही मंगलमय शुभ कामना है। ★

पूज्य-गुरुदेव को : शत-शत वन्दन

—महेन्द्र मुनि

मेरे परम तारक, संसार समुद्रसे उद्धारक, आत्मज्ञान के प्रकाशक, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के प्रेरक, श्री श्री १००८ श्री पूज्य, गुरुदेव मालव-केशरी, प्रसिद्ध वक्ता, पंडित रत्न, महाराष्ट्र विभूषण श्री सौभाग्य मल जी महाराज स्वभाव के सरल व गम्भीर है। इसीलिए आप शान्ति-निकेतन कहलाते हैं। आपकी वाणी ओजस्वी है, मधुर है जनता पर जादू सा असर करती है। आपने श्रमण संघ की उन्नति के लिए तन-मन का भोग दिया, शरीर में तकलीफ होते हुए भी, अपनी तकलीफ को भी तकलीफ नहीं समझा। मैंने गुजरात-सौराष्ट्र में देखा है कि इधर की जनता आज भी पूज्य गुरुदेव को याद करती है, जिस बात को पच्चीस-पच्चीस वर्ष हो गये हैं। कहते है, कि पूज्य गुरुदेव सौभाग्यमल जी महाराज इधर पधारे और जो धर्म का प्रचार किया, कई राजा, महाराजाओं (जैसे राजकोट, जामनगर, मोरबी, भावनगर, जसदन, सानंद, विरमगांव, वढ़वाण, लिमडी आदि) को उपदेश से प्रभावित किया और धर्म की श्रद्धा बढ़ाई, स्थानीक जनता को विधर्म में जाते हुए को रोका, इस प्रकार मैं जहां भी विचरा वहां सब जगह आपकी यश गौरव गाथा सुनने में आई।

कई दूर-दूर देश का लम्बा विहार कर गुरुदेव ने जैन धर्म का बहुत ही प्रचार किया है। आप श्री का जीवन बड़ा ही उच्च कोटि का है, आप श्री स्थानकवासी—समाज में महान प्रभावशाली है। गुरुदेव की कहां तक तारीफ करूं, गुरुदेव की तो एक जीभ से तो क्या, परन्तु हजार जीभ से भी तारीफ लिखूं, तो कम है! जिस में तो मेरे पर गुरुदेव का अत्यन्त उपकार है। मैं तो कभी भी भूल नहीं सकता।

★

प्यार के देवता

—रमेश मुनि, सिद्धान्ताचार्य

संवत् २०२१ इन्दौर का वर्षावास आप (मा० के० श्री सौभाग्य मल जी म० सा०) के अत्यधिक आग्रह से आप की ही स्नेह-छाया में गुरु प्रवर श्री प्रतापमल जी म०, आदि हम पांचों मुनियों को रहने का सौभाग्य उपलब्ध हुआ था। उस चातुर्मासिक काल में मेरी नन्ही-सी आँखों ने अत्यधिक सन्निकटता से आपके बाह्य एवं भीतरी जीवन सम्बन्धित नाना विशेषताओं के दर्शन किये थे। उन्हीं चंद विशेषताओं का यहाँ उल्लेख किया है।

जिनकी स्मित मुख मुद्रा पर आठों पहर शांति अठखेलियाँ करती है, जिनकी वाक्शक्ति में अद्वितीय भक्ति-सुधा का सागर लहराता है। जो विनोदी को तो क्या, परन्तु विरोधी को भी आकृष्ट किये बिना नहीं रहता। जिनकी व्याख्यानशैली जहाँ भव्य-मनस्थली को वैराग्य से प्लावित करती है, तो दूसरी ओर जीवन को उद्वेलित करने वाली वही जोशीली फटकार और ललकार! जहां हास्य एवं वीर रस से श्रोताओं का मन-मुख युगपद् बाग-बाग हो जाते हैं, तो दूसरी ओर करुणारस से परिपूर्ण आपकी वाणी, सुनने वालों के नयनों में सावण-भादवा की झड़ी भी ले आती है। इस प्रकार मुख्य रूपेण "आत्म धर्म" विषय के अन्तर्गत ही उपरोक्त रंग-बिरंगे निर्झर आपके मुख हिमाचल से निकलते रहते हैं। थोड़े में कहूँ, तो सचमुच ही आप एक अनोखे जादू के अवतार है, जो रुष्ट-दुष्ट एवं योगी-भोगी आदि सभी को अपना अनुगामी बना ही लेते हैं।

एक महान् विभूति

—भगवती मुनि 'निर्मल'

शस्या-श्यामला मालव भूमि अनेक महापुरुषों की प्रसव भूमि रही है। अनेक नग-मणियों ने संसार को चमत्कृत किया है। भारत का शेक्सपियर कालिदास मालवभूमि की ही तो देन है। विद्वद्‌शिरोमणि राजमुकुट भोजराज भी इसी मालव भूमि की देन है।

जन मन के श्रद्धा केन्द्र, अहिंसा धर्म के महान् प्रचारक श्री जैन दिवाकर प्र० व० श्री चौथमलजी म० भी इसी मालव भूमि की देन हैं। उसी मालव भूमि के एक कोने पर स्थित सरवाणिया ग्राम में एक पुष्प उदित हुआ व खाचरोद में विकसित हुआ। वहीं से सारे संसार को अपनी वाणी से, अपने कृतित्व से, त्याग से चमत्कृत किया। मैंने सहस्राधिक जनमेदिनी के सामने आपको मेघ गर्जना करते हुए देखा है तो ग्रामों की साधारण जनता में भी उसी प्रकार से आपको वाणी की वर्षा करते हुए देखा है।

यशोगाथा बहुत दिनों से सुन रहा था, किन्तु प्रत्यक्ष दर्शन करने का समय मिला खाचरोद में। शतशः लोगों के मुँह से यशोगाथा सुनकर दर्शन की उत्कट भावना हो रही थी। किन्तु अनेक कारणों से दर्शनों का सौभाग्य नहीं मिल पा रहा था। जैसा नाम सुना था, वैसा ही पाया। मन में यह झिझक थी, कि मुझ जैसे छोटे साधु से बोलेंगे या नहीं, किन्तु प्रथम दर्शन में ही यह भ्रम निकल गया। फिर तो अनेक स्थानों पर दर्शन हुए, साथ-साथ विहार भी किया। किन्तु वही प्रेम, वही स्नेह। भीनासर सम्मेलन होने जा रहा था, चित्तौड़गढ़ से सर्व धर्म सम्मेलन के प्रेरक श्री सुशील कुमारजी म० गंगापुर (मेवाड़) आ रहे थे। आचार्य तुलसी ५०-६० साधुओं के

मालव केशरीजी : वाणी के जादूगर

—श्री शान्ति ऋषि

मालव-केशरी जी का जीवन एक ऐसा वगीचा है, जिस में हर समय वहार रहती है।

आप की छत्र छाया में जो भी आता है वह आत्मविभोर हो जाता है।

आप के चरण वन्दन का अवसर सादड़ी-सम्मेलन एवं सोजत मंत्रिमंडल की वैठक के समय में मिला था उसके वाद अजमेर सम्मेलन में आते समय खाचरोद से अजमेर तक आपश्री जी की सेवा का अवसर मिला।

आप श्री जी की जो विशेषता मुझे देखने को मिली वह यह कि आपके चरणों में जो भी व्यक्ति आता था, वह कितना ही अशान्त एवं आवेश से भरा क्यों न हो एकदम शान्त हो जाता था। जव आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी म. रतलाम में पधार रहे थे तव वहाँ काफी संघर्ष था, परन्तु आपने सारा वातावरण शान्त कर दिया।

आप श्री के वचनों में अमृत भरा हुआ है, जिसे मंगलमय वचन सुना देते, वह स्वस्थ हो जाता, रोग-शोक उससे किनारा कर लेता। आपकी वाणी में मधुरता इतनी है, कि अपरिचित व्यक्ति को भी आप मधुर भाषा के वल पर अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। सचमुच आप वाणी के जादूगर हैं। ★

यह ज्योतिर्मय-रत्न सदा जगमगाता रहे :

—चन्दन मुनि

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि हीरे की चमकती और दमकती हुई उज्ज्वलता कोयले की कालिमा को धोकर ही प्रकट हुई है। भूमि के गहरे अन्तराल में रासायनिक प्रक्रिया से—जो पृथ्वी के अन्दर स्वाभाविक रूप से होती रहती है, तप कर, जल कर काला कोयला अपने रूप-रंग को निखार कर इतना चमक उठता है, कि दुनिया उस को हीरा कहकर पुकारती है। उसी प्रकार जब व्यक्ति साधना एवं तप की वेदी पर अपने अरमानों, आकांक्षाओं एवं वासनाओं तथा कषायों के कालुष्य का बलिदान करके तथा तप, जप एवं साधना की ज्वाला में जलाकर आगे बढ़ता है, तो वह सामान्य से महान् बन जाता है।

कौन जानता था, कि छोटे से गाँव में जन्म लेने वाला बालक इतना बड़ा सन्त एवं महापुरुष बनेगा? परन्तु जीवन के महान् कलाकार आचार्य श्री नन्दलालजी म० के हाथों में अपना जीवन सौंप दिया और शान्तमूर्ति किशनलाल जी म० को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। उसी गुरु-सेवा एवं गुरु-भक्ति तथा साधना का ही यह प्रतिफल है, कि आप जन-जन की आँखों के तारे बनकर समाज में चमक उठे। श्रद्धेय मालवकेशरी जी का व्यक्तित्व विराट् और व्यापक है। उनकी वाणी में जादू भरा है। उनके जीवन में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है, कि वे विरोधी के जीवन में जो विरोध की भावना है, उसे मिटाकर उस पर विजय पाने एवं उसे भी अपना बना लेने की कला में वे सिद्धहस्त हैं।

मुझे आप की सेवा करने का अनेक वार सौभाग्य मिला है। मेरे ऊपर आपकी पूज्य-गुरुदेव से भी अधिक कृपा रही है। पूज्य-गुरुदेव 'नाथूलालजी म० कला-केन्द्र' नीमच की स्थापना का श्रेय मालव-केशरी जी को ही है। कोट (वंबई) के चातुर्मास में मैं आपकी सेवा में था, तो आप से ही मुझे यह प्रेरणा मिली, और आपके सहयोग से ही वह कार्य रूप में परिणत हुआ। मेरे और श्री वरदीचन्दजी म० पर आपकी वहुत कृपा रही है और आगे भी रहेगी। यह समाज का ज्योतिर्मय रत्न सदा जगमगाता रहे।
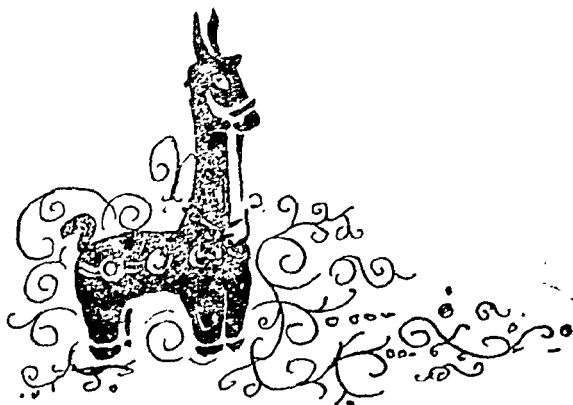
संस्मरणों के तार

—मुनि धनचन्द्र

दिवस बीते, पक्ष बीते, मास बीते, वर्ष बीते वैसे ही युग भी बीत गया, और वह भी एक नहीं कई युग बीत गए, किन्तु आभास तो यही होता है कि अभी कल का ही तो प्रसंग था।

वह मिलन सचमुच ही केवल मिलन न होकर, हृदय में अंकित होने वाला एक अमिट स्नेह प्रसंग था। जब कि, प्रवर्तक पद बिभूपित श्री ताराचन्द जी महाराज के आज्ञानुवर्ती जन-मन-वल्लभ, मालव केशरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज आदि मुनिवृन्द के साथ शाहपुरा पधारे। श्री अचलदासजी महाराज, श्री मन्नालाल जी महाराज, श्री मोतीलाल जी महाराज, व श्री धनचन्द्र जी महाराज आदि संत चतुष्टय के साथ ऐतिहासिक सम्मिलन हुआ। स्नेह की पावन पुनीत धारा वह चली। पारस्परिक स्नेह में वृद्धि हुई और स्नेह में वृद्धि होती भी क्यों नहीं? जबकि सभी संत एक ही मूल की अलग-अलग डालियाँ जो ठहरीं, किन्तु वृक्ष तो एक ही है न। उसी प्रकार से पूर्व में श्रीमद्धर्मदास जी महाराज की ही सम्प्रदाय के तो ये सभी मुनि हैं ही, तब फिर आपस में दुई का कोई भेद ही न था। एक ही परिवार, एक ही घर. सब कुछ एक ही तो है, अस्तु, सभी संत आपस में अति ही स्नेह से मिले और ज्ञान का अथाह सागर लहराने लगा। धार्मिक चर्चाएँ होने लगीं। वार्तालाप का दौर बढ़ा। मालवकेशरी जी महाराज का उस समय प्रमुख विषय था—संगठन का। उन्होंने श्रमण-संगठन का कार्य करने का संकल्प किया हुआ था। मालव

केशरी जी महाराज से श्री धनचन्द्र जी महाराज का श्रमण-संगठन विषय पर अति ही मृदु एवं सरस वार्तालाप हुआ। प्रथम वार्तालाप में ही इस विभूति ने श्री धनचन्द्र जी म० के मानस पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। क्यों कि मालव केशरी जी महाराज की वाणी में कुछ मृदुता ही इस प्रकार की निहित है, कि सामनेवाला कठोर व्यक्ति भी क्यों न हो, वाणी की मृदुता से प्रभावित हो कर आपका उपासक बन जाता है। वाणी की मृदुता के साथ-साथ व्यवहार की सरसता भी आपका प्रमुख गुण है। मुख पर सदा ही प्रसन्नता छाई रहती है। इन्हीं गुणों के कारण आपको जन-मन-वल्लभ की पदवी भी प्राप्त हुई है।

इस भावभीने संगमोपरान्त प्रथम अजमेर श्रमण संघ के सम्मेलन में पुनः मालवकेशरी जी महाराज का श्री मोतीलाल जी महाराज व श्री धनचन्द्र जी महाराज से मिलना हुआ। संगठन सम्बन्धी वार्तालाप हुआ। उस समय मालवकेशरी जी महाराज के बुद्धि बल का भी परिचय हुआ। आपका तर्कसंगत आगम विषयक ज्ञान भी अगाध है, किन्तु आपको अपने ज्ञान का गर्व नहीं है।

आप तो सच्चे हृदय से श्रमण-संगठन चाहते हैं तथा छोटे-बड़े का भेद भुलाकर सेवा प्रवृत्ति में भी आपकी विशेष रुचि है। यह सब बातें अजमेर श्रमण-संघ के सम्मेलन में आपमें देखने को मिलीं। और वहीं पर नहीं, अभी तक भी ये बातें आपमें निहित हैं।

अजमेर सम्मेलन के पश्चात् सभी सन्तों के विहार की विभिन्न दिशाएँ हुईं। मालवकेशरी जी महाराज का रतलाम पधारना हुआ। उधर शतावधानी श्री नानचन्द्र जी महाराज भी रतलाम पधारे, तथा श्री मन्नालाल जी महाराज, श्री मोतीलाल जी महाराज, श्री धनचन्द्र जी महाराज का रतलाम पधारना हुआ, श्री धर्मदास जैन मित्र मंडल में पुन त्रिवेणी संत संगम हुआ

जहाँ त्रिवेणी संत संगम हो जाए, तो वहाँ की छटा का कहना ही क्या ? दर्शनार्थ जनता का समूह उमड़ने लगा। धार्मिक प्रवचनों में अपार जन समूह आने लगा तथा संतों के आपसी स्नेह-पूर्ण मिलन की प्रशंसा करने लगा। उस समय धर्म के अति ही सूक्ष्म विषयों पर संतों में आपस में चर्चाएँ होती थीं। मालवकेशरी जी महाराज की अनेकों तर्कपूर्ण नवीन गोष्ठियों को सुनने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। मालवकेशरी जी महाराज की वाणी से जो अमृत झरता है, यह उसी का प्रताप है कि श्रमण-संगठन अभी तक चल रहा है। समाज पर आपकी वाणी का चमत्कारिक प्रभाव होता है और मालव-केशरी जी महाराज अपने निश्चय को सफल करने में कामयाब हो जाते हैं।

इसके अनन्तर मालव केशरी जी महाराज से श्री मोतीलाल जी महाराज का मिलन इन्दौर में भी हुआ तथा बम्बई में भी मिलन हुआ। अन्तिम मिलन दाहोद के शासकीय औषधालय में हुआ। स्वास्थ्य की अस्वस्थता के बावजूद भी मालव केशरी जी महाराज के मुख पर प्रसन्नता की मधुर मुस्कान परिलक्षित हो रही थी। और अब जब भी मालवकेशरी जी महाराज का स्मरण हो आता है, तो श्री धनचन्द्र जी महाराज का मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।★

प्रेषक : योगेन्द्रसिंह जैन

११-८-६६
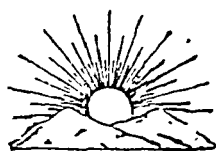
मेरे श्रद्धा-केन्द्र : पूज्य गुरुदेव :

—सागर मुनि

प्रातः स्मरणीय, परम आदरणीय श्रमण संघ के प्राण, जैन शासन प्रभावक, मालवकेशरी, महाराष्ट्र विभूषण, प्रसिद्धवक्ता पं० रत्न पूज्य गुरुदेव श्री सौभाग्यमल जी म. का एक प्रतिभा संपन्न संत हैं।

आप श्री के दिव्य शरीर की प्रतिभा, मुख की सौम्यता, युगल-नैनामृत प्रेम सरिता रसभरी गंभीर ओजस्वी, अनेक धर्म शास्त्रानुगामिनी वाणी की मधुरता, जनता के हृदय को प्रभावित करती है। मुझे विदित है, कि जब हम पूज्य गुरुदेव श्री के साथ मद्रास गए तो चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य (भारत के भूतपूर्व गवर्नर जनरल) आप श्री के दर्शनार्थ आए, प्रवचन सुना और बहुत प्रभावित हुए। और आप श्री के तत्व-ज्ञान से युक्त प्रवचन की भूरि-भूरि प्रशंसा कर के जैनधर्म के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की। जब मैसूर के दीवान मीर खांहुसेन के आमंत्रण को मान देकर मैसूर में पधारे। मैसूर महाराजा ने भी आपका प्रवचन सुना और परम प्रसन्न हुए। हैद्राबाद के दीवान किशनप्रसाद बहादुर आपके प्रवचन सुनकर तथा आपका तप-त्याग, देखकर प्रसन्न हुए। भुसावल में राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी जी भी देश के अनेक नेताओं के साथ जैन स्थानक में दर्शनार्थ आए। वर्तमान जीवन को स्पर्श करने वाले विषयों पर विचार-विनिमय कर आपके प्रति बहुमानपूर्वक श्रद्धा प्रकट की। वह रम्य दृश्य भी आप श्री की गुण गरिमा को प्रकट करता था। अनेक गांवों के छोटे-छोटे राजाओं ने अहिंसा पर प्रवचन सुनकर मांस-मदिरा

आदि दुर्व्यसनों का त्याग किया और देवी-देवताओं के नाम पर पशुओं की वली चढ़ाना वंद किया। आप जिस शहर और गांव में पधारते तो वहां के हिन्दू-मुस्लिम आदि अनेक कौमों के लोग बड़ी संख्या में धर्मोपदेश सुनने एकत्रित हो जाते।

साहित्य के क्षेत्र में भी आपने काफी काम किया है, आचारांग सूत्र पर विवेचन लिखा तथा सौभाग्य सुधा आपके व्याख्यानों की पुस्तक भी प्रकाशित हुई है। वर्तमान में साधु सम्मेलन फिर से हो, इसके लिए भी सतत प्रयत्न कर रहे हैं। मेरे जीवन में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के आप प्रेरक रहे हैं। और मेरे प्रति आप श्री का यह महान् उपकार है। ऐसे परम प्रतापी पूज्य गुरुदेव के चरण कमलों में नत-मस्तक होकर कोटि-कोटि वन्दन।
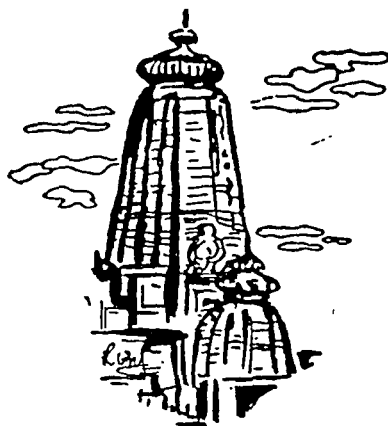
साधना पथ के प्रेरणा प्रदीप

—गिरीश मुनि

परम श्रद्धेय पूज्य सौभाग्यमल जी म. ! आप सचमुच ही वन-केसरी की तरह गर्जना करते हुए जन-समूह को वीर वाणी का अमृत पान करा रहे हैं। आपका सुमधुर कंठ वैषिली विलासिता का वमन करा कर विरक्ति की ओर अभिरुचि पैदा करता है। आपके पूर्व पुण्य की प्रवल राशि ने जैन शासन की अनुपम सेवा का दान दिया है। आप मुलायम मालवे के रत्न होते हुए भी सुदूर प्रान्तीय उपासकों के हृदय मंदिर में श्रद्धा के गुरुपद पर प्रतिष्ठित हैं।

आपका अल्प सत्संग हमें आज तक प्रेरणा दे रहा है। आपके मंगल आशीर्वचन से मैं इस साधना पथ का पथिक वना हूँ। आप युग-युगों तक कृपा का दान देते रहें और हम पात्र वने रहें।

गांधी जयन्ति

राजकोट (सौराष्ट्र)

दिनांक-अक्टूवर, २, १९६९
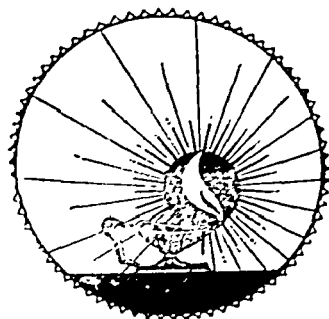
श्रमण-श्रेष्ठ : मालवकेशरी जी

—रतन मुनि

एक श्रमणयोगी पूरा जिसका कद्दावर आकार है, वर्ण श्याम है। एक वार आपने पाद विहार करते हुए भक्त गणों के साथ मनो-रंजन करते हुए एक ग्राम में पदार्पण किया। जय नारों से गगन गूँज उठा। भक्त लोग पंडित रत्न का विशेषण लगाकर जय वोलते जाते थे, इस वोच में उस योगी ने मुझसे कहा, कि आप पंडित हैं और आपका नाम रत्न है। पहले आपकी जय, वाद में मेरी जय वोली जा रही है। ये वाक्य हास्य भरे व्यंग में कहे थे। उस वक्त मेरे मन में प्रसन्नता की गुदगुदी पैदा हो गई। प्रथम परिचय यहाँ से शुरू हुआ। धीरे-धीरे स्नेह गाढ़ और प्रगाढ़ होता गया और आत्मीयता वढ़ती गई अव देखने में दो थे। अर्थात् अलग-अलग, परन्तु अन्दर में निकटता वढ़ती गई, द्वैतता अद्वैतता में वदल गई, अनेकता एकता में परिणत हो गई। इस सम्वन्ध को जोड़ने एवं प्रगाढ़ वनाने में सवसे अधिक सहयोग मेरे परम स्नेही गुरु भ्राता जीवन मुनिजी महाराज का रहा। मैं उनके इस ऋण से उऋण नहीं हो सकता।

इस महान् योगी की उदारता का परिचय एक शव्द में यही है—सवके काथ मधुर व्यवहार रखना। यह भी एक सवसे वड़ा गुण हैं। यह मैंने स्वयं अनुभव किया- इस योगी की कृपा सव पर समान रहती है—छोटा वालक हो, युवा हो, या वृद्ध हो। वालक के साथ वालक जैसा व्यवहार करके वालक का हृदय जीत लेना—यह कला भी आप में अनुपम है। जो भी व्यक्ति, स्त्री हो या पुरुष, सव को

यही शब्द कहते हैं—आप पुण्यवान हैं, तथा वहुत सेवा का लाभ लेते हैं। इससे उनके मन पर अच्छा असर होता है। प्राय: आप शास्त्र की स्वाध्याय भी करते रहते हैं। वाचन, लेखन में ही आपका समय विशेष रूप से लगता है। आप में कषाय भाव कम दिखाई देता है। शरीर से वृद्ध होते हुए भी आप में अदम्य साहस है और मनोवल भी अकथनीय है। शरीर अस्वस्थ होने पर भी आप प्रत्येक काम अपने हाथ से करने में आनन्द की अनुभूति करते हैं। आपका जीवन रंग विरंगे गुलदस्ते की तरह अनेक गुणों की सुवास से महक रहा है। ★

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

साध्वी श्री धर्मशीला, साहित्यरत्न

हमारी गौरवशालीनी मातृभूमि संतों की तपोभूमि रही है। संत ही भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। सन्तों की साधना से ही यह संस्कृति अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित हुई है, सच पूछिये तो सन्तजनों की दिनचर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का इतिहास है। सन्तो ने जन-जीवन के विविध अंगों को परिमार्जन करने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

भारत में ऋषियों की परम्परा न होती तो भारतीयों के पास अध्यात्म विद्या भी नहीं होती, और फिर भारतीय अन्य देशों की तुलना में किस बात से महान कहलाते ? भारत के पास न भौतिक विद्या है, न विज्ञान है न वैभव हैं सिर्फ अपनी अध्यात्मविद्या के कारण ही वह गरीब होने के बावजूद भी महान देशों में गिना जाता है।

भारत पर कुदरत की महती कृपा है कि भारत के एक सिरे से लगाकर दूसरे सिरे तक प्रत्येक स्थान पर सन्तपुरुष पैदा होते रहते हैं।

सन्त का जीवन व्यवहार और उपदेश मानव जाति को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है। पवित्रता, सादगी और उच्चता भारतीय संस्कृति का मूल है। हमारे सन्तों ने हमारी संस्कृति के उन मूल्यवान् तत्वों को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है। संसार ऐसे सन्तों का सदा ऋणी रहा है।

इसी महान संस्कृति के प्रतीक हैं—"मालवकेशरी, महाराष्ट्र भूषण, सौम्यमूर्ति, मधुरता के साकार स्वरूप मुनि श्री सौभाग्यमल

जी महाराज साहेब" आप श्री के प्रत्यक्ष दर्शन पाने का सौभाग्य तो नहीं मिला, परन्तु मेरी वड़ी गुरुवहन मधुरस्वभावी, प्रखरवक्ता, विदुषि महासती जी श्री प्रमोदसुधाजी से आपके वारे में वहुत सुना है, इसीसे यह श्रद्धा सुमन सर्मपित करने के लिये मन उत्सुक हो रहा है।

सचमुच आप इस महान संस्कृति के उपासक हैं जो त्याग, वैराग्य और तपप्रधान है। जिसके मूल में भोग नहीं योग है, राग नहीं त्याग है, ममता नहीं समता है, वासना नहीं साधना है।

आपके जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में प्रेम भरा हुआ है। वाल, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, ज्ञानी, मूर्ख, श्रीमंत, गरीव सभी के प्रति आपका प्रेम का झरना समान रूप से वहता रहता है।

जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध, दुग्ध में धवलता, अग्नि में उष्मा और चन्द्र में शीतलता समाई हुई है उसी प्रकार आपके रोम-रोम में प्रेम अभिव्याप्त है। आपका मन शान्त सरोवर के समान परिशान्त और विशाल है।

सन्तों के संकीर्तन, स्तवन, गुणगान उनकी आराधना एवं उपासना से जीवन का मैल गलता-धुलता है। जीवन में उदात्त एवं उज्ज्वल भावना का आविर्भाव होता है।

पूज्य मुनिजी का जीवन गंगा-सा निर्मल, मेरु-सा उच्च, समुद्र-सा गंभीर, चन्द्र-सा शीतल और सूर्य-सा तेजस्वी है। उनके सद्‌गुणों से परिपूर्ण जीवन के लिए तो मेरे मुख से कवि की ये पंक्तियाँ वरवस ही प्रस्फुटित होती हैं—

"फूल वनकर महक तुझको जमाना जाने।
तेरी भीनि खुशवू को सारा संसार जाने।।"

जैन स्थानक अहमद नगर,
२, नवम्वर १९६९

उदार-मानस : मालवकेशरी जी

—साध्वी ज्ञान प्रभा, साहित्यरत्न

विश्व विभिन्न संस्कृतियों की क्रीडास्थली है। उसकी पृष्ठभूमि संत संस्कृति की प्राण-प्रतिष्ठा पर स्थिर है। हर संस्कृति को उज्ज्वल समुज्ज्वल बनाने का परम श्रेय सन्तों का ही मिला है। संसार में प्रचलित धर्मों को जीवनी, प्राणदायिनी शक्ति सन्तों के द्वारा ही मिली है। आज भौतिक उन्नति एवं बौद्धिक दक्षता का चरम विकास हो जाने पर भी विश्वशान्ति की पल्लवित कुन्दलतिका कुम्हला रही है, इसका मात्र कारण जीवन के कलाकार सन्तों के प्रति उदासीनता है। सन्त जीवन की गौरव गाथा को एक कवि ने अपने श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से संगुंफित किया है:—

"शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णः स्वयं भीमभवार्णवं जनान्
अहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥"

आपके चेतनामय वचन मुर्झाए हुए मानव फूलों को नवचेतना और नवस्फुरण प्रदान करते हैं। सचमुच आपकी वाणी में एक अलौकिक प्रकार का जादू है जो सुनने वालों के समग्र जीवन को आलोकित कर देता है।

सचमुच आप इस युग के युगपुरुष हैं। युगपुरुष के चिंतन में युग का चिंतन चलता है उसकी वाणी में युग की वाणी मुखरित होती है और उसके कर्म में युग का कर्म प्रारम्भ होता है। युग पुरुष का जीवन जन-जन के जीवन में प्रेरणा, स्फूर्ति और चेतना भर देता है। आप विचार में गंभीर, आचार में प्रखर और वाणी में मधुर दिखाई देते हैं। आपका मंगलमय पवित्र पावन जीवन विचार और आचार का सुन्दर संगमस्थल है।

आपका जीवन आदर्श और पवित्र है, आपके दर्शन और सेवा मानव को शुभाचरण की प्रेरणा देते है। आपका प्रत्यक्षदर्शन जितना पावन है उतना आपका स्मरण भी पावन है।

आप में शिशु-सा सारल्य, माता का कारुण्य, योगी की असम्पृक्तता ओतप्रोत है। हृदय नवनीत-सा मृदु, वाणी में सुधा की मधुरता अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला जादू है।

दयालुता, वचनदृढ़ता और निर्ममत्व आपके स्वाभाविक गुण हैं।

इन विशेषताओं के कारण ही आप जन-जन के मन में बस गये, जन-जन की जिह्वा पर बस गये। और जन-जन के मन के कण-कण में यह अन्तरध्वनि गूंज रही है।

. इस संत पुरुष के चरणों में हो मेरा युग युग तक अभिवादन !

जैन-स्थानक, अहमदनगर,

२, नवम्बर १९६९

★

उदार-मानस : मालवकेशरी जी

—साध्वी ज्ञान प्रभा, साहित्यरत्न

विश्व विभिन्न संस्कृतियों की क्रीडास्थली है। उसको पृष्ठभूमि संत संस्कृति की प्राण-प्रतिष्ठा पर स्थिर है। हर संस्कृति को उज्ज्वल समुज्ज्वल बनाने का परम श्रेय सन्तों को ही मिला है। संसार में प्रचलित धर्मों को जीवनी, प्राणदायिनी शक्ति सन्तों के द्वारा ही मिली है। आज भौतिक उन्नति एवं बौद्धिक दक्षता का चरम विकास हो जाने पर भी विश्वशान्ति की पल्लवित कुन्दलतिका कुम्हला रही है, इसका मात्र कारण जीवन के कलाकार सन्तों के प्रति उदासीनता है। सन्त जीवन की गौरव गाथा को एक कवि ने अपने श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से संगुंफित किया है:—

"शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णः स्वयं भीमभवार्णवं जनान्
अहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥"

शान्त एवं उदार मानस वाले सन्त वसंत ऋतु की तरह विश्व-कल्याण के भावों से समन्वित होकर संचरण विचरण करते हैं। स्वयं इस भीम भवाब्धि को पार कर जाते हैं और अन्य को भी निस्वार्थ भाव से निरपेक्ष वृत्ति से महार्णव पार करने में सहारा देते हैं।

परम प्रेरक, सत्यदर्शी, परमश्रद्धेय मालवकेशरी जी पूज्य श्री सौभाग्यमल जी महाराज साहेब भी उसी पुण्यमयी सन्त परम्परा के

अद्वितोय सन्त हैं । उनके पुनीत जीवन से कौन परिचित नहीं होगा ? पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल की, उनकी प्रथम पुस्तक प्रस्तावना में लिखी हुई युक्ति मुझे याद आ रही है—

What is well-known is not necessarily known merely because it is well-known.

जिनका जीवन व्यापक एवं विराट् हो, उनकी परिचय प्रशस्ति को शब्द शृंखला की कड़ियों में आबद्ध करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है । पूज्य गुरुवर्य का जीवन, विविध दृश्य युक्त उस प्रकृति चित्र के समान है जो दर्शकों के सामने विविध रूपों में उपस्थित होती हैं । उनका आध्यात्मिक विश्व रंगीन गुण पुष्पों से सुरभित है । भौतिक जगत में पदार्थों की मनोरम विचित्रता पायी जाती है, वैसे ही सत्य द्रष्टा पूज्यवर के जीवन में दिव्य एवं भव्य भावों की प्रचुरता उपलब्ध है । उनका व्यक्तित्व त्याग की गरिमा, सन्तुलित, सम्मानित, अपराजित एवं साहस से चमत्कृत है । उनका मानस करुणा एवं प्रज्ञा से समन्वित सौष्ठव से अभिसिंचित है । तपोमूर्ति की आत्म वीणा दिव्यता, भव्यता, अन्तर्मुखता अनोखी क्षमता के तारों से सुबंधित मधुर स्वरलहरियों से झनझना रही है । उनकी कारुण्य कणिका के सौरभ की अनुभूति नवागन्तुक व्यक्ति को प्रथम परिचय में ही हो जाती है । नवप्रभात के स्वर्णिम वाग्दान से दिशाओं के कपोलों पर अरुणिमा छा जाती है, वैसे ही पूज्यवर की विमल वाणी की मधुरिमा से स्नेहपूरित संबोधन से—गुणवान्, पुण्यवान् देवानुप्रिय, भाग्यवान् आदि से—आने वाले दर्शक का हृदय बांसो उछल पड़ता है एवं उसका मुख मंडल लालिमा से ललक उठता है । उनकी वात्सल्य वारिधि की चंचल लहरें, हर कोई आबाल, वृद्ध, को आप्लावित करती रहती है ।

सचमुच मुझे बचपन में ही महामहिम सन्त के दर्शन का मौका

मिला था। पुनः परम वंदनीया पूज्य श्री विनयकुंवर जी महासती जी, एवं परम विदुषी, व्याख्यात्री पूज्य श्री प्रमोदसुधा जी महासती जी के साथ महानगरी बम्बई में फिर एकबार उन ज्योतिः पुंज महायोगी स्वरूप पूज्य गुरुवर्य के दर्शन एवं समागम का सुवर्ण अवसर मिला। आज जब-जब वही तेजस्वी मुखमुद्रा एवं मधुर मुस्कान स्मृति पटल पर साकार रूप लेती है तब अप्रतिम यश के भागी गुरुवर्य के पद पंकजों में भाव पुष्पों की अर्चना कर लेती हूँ—

"हे सत्य सौन्दर्य,
तुम्हारे प्रकाश से,
जैन शासन प्रफुल्ल हो जाये,
जन जीवन को,
तुम्हारी वाणी की सार तत्त्व की सरस माधुरी
तुम्हारी अनुग्रह की उज्ज्वल किरणें
रंगीन बनाती रहे।"

जैन-स्थानक अहमदनगर
नवम्बर २, १६६६

"समुद्रमिव गाम्भीर्यं स्थैर्यं च हिमवानिव"

—महासती सज्जनकुमारी

मैं जब कभी मालवकेसरी श्रद्धेय श्री सौभाग्यमुनिजी म० सा० की महानता एवं गम्भीरता के बारे में सोचती हूँ तो मेरा मन अतीव श्रद्धा से भर उठता है। उनमें सागर की-सी गम्भीरता है और हिमगिरि-सी महानता। जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों के बीच भी उनकी सहज शान्ति एवं प्रसन्नता बनी रहती है। कोई उन पर प्रशंसा के पुष्प चढ़ाए या विरोध के ववंडर खड़े करे, वे सबका स्वागत एक हल्की मुस्कराहट एवं शान्त हृदय से करते हैं।

उनकी वाणी में इतनी शक्ति और माधुर्य है कि उसके बल पर वे विरोधियों का मन भी जीत लेते हैं। ऐसा लगता है मानों हृदय का सम्पूर्ण माधुर्य वाणी में ऊँडेल कर रख दिया हो। किसी बात को सुलझे हुए शब्दों में कहने की उनकी अपनी एक शैली है।

उस दिन गुरुदेव कुछ अस्वस्थ थे। दो तीन बाहर के सज्जन उनसे वार्तालाप करने आए। उनके आगमन के समाचार पाकर आपने बड़े स्नेह से उन्हें बुलाया और घण्टों वार्तालाप करते रहे। वे सज्जन संकीर्ण मनोवृत्ति के थे एवं उन पर सांप्रदायिक-विष का प्रभाव था, जो उनकी वाणी में स्पष्ट झलक रहा था। पर गुरुदेव के उदार एवं सुस्पष्ट विचारों को सुनकर उन लोगों के हृदय गद्‌गद् हो उठे। उन्होंने गुरुदेव से कहा कि "हम आपके प्रति कुछ और

धारणाएँ लेकर आए थे, किन्तु अब आपके बन कर लौट रहे हैं। आपकी उदारतापूर्ण बातों से हमारे मानस में छुपी हुई भ्रान्तियाँ दूर हो चुकी हैं।" गुरुदेव की बातें ही इतनी कलात्मक एवं मधुर होती हैं कि कोई भी व्यक्ति उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

सेवा का गुण तो आपके कण-कण में समाया हुआ है। श्रद्धेय गुरुदेव श्री किशनलालजी म० सा० की सेवा को आपने सर्वस्व माना और उनके जीवन की अंतिम घड़ियों तक निरन्तर सेवा में संलग्न रहे थे। बड़े गुरुदेव कई बार कहते, "सौभाग्यमलजी, कुछ देर के लिए विश्राम कर लो। तुम्हें मेरे लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।" आप बड़े विनयपूर्ण शब्दों में उत्तर देते, "ईश्वर, आपके कार्य में मुझे तनिक भी थकावट की अनुभूति नहीं होती, किन्तु एक अनुपम आनन्द का अनुभव होता है। आप जब पूर्ण स्वस्थ हो जाएँगे तब मैं इतना आराम करूँगा कि आगे पीछे की पूरी कसर निकाल दूंगा।"

पर भक्तजनों की भीड़ आज भी उन्हें आराम नहीं करने देती। कभी कभी उनका शान्तिप्रिय मानस इस कोलाहल भरे वातावरण से ऊब जाता है। कई बार वे कहते हैं—"मेरी इच्छा होती है कि मैं इन समस्त झंझटों को छोड़कर बस चिन्तन की गहराई में ही गोते लगाता रहूं।" किन्तु अधिकतर वे लोगों से घिरे हुए रहते हैं और उन्हें अपनी इच्छा के अनुरूप समय नहीं मिल पाता।

विनय की इस मूर्ति से अहं की भावना तो कोसों दूर है। बालक हो या वृद्ध; प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उनका व्यवहार बड़ा मधुर एवं स्नेहपूर्ण होता है। संकल्प के आप पक्के हैं। चाहे कितनी भी बाधाएं क्यों न आती रहें, किन्तु अपने संकल्प-पथ से विचलित होना नहीं सीखा। साधु-सम्मेलनों में आपने तन-मन से पूरा-पूरा योगदान देने

का प्रयास किया। इन दिनों में भी आप एक साधु-सम्मेलन की महत्त्वपूर्ण योजना के प्रेरक के रूप में कार्यरत हैं।

जनता के मानस में आपके प्रति अनन्य श्रद्धा है। प्रिय संभाषण एवं उदारता आपके जीवन-उपवन के ऐसे सद्गुण हैं, जो आपकी लोकप्रियता में अधिकाधिक वृद्धि करते हैं।

गुरुदेव के आदर्श-जीवन से हम भी प्रेरणा पाकर अपना जीवन श्रेष्ठ बना सकें, यही मेरी शुभाकांक्षा है।

जैन भवन, इन्दौर

२२ अगस्त ६९
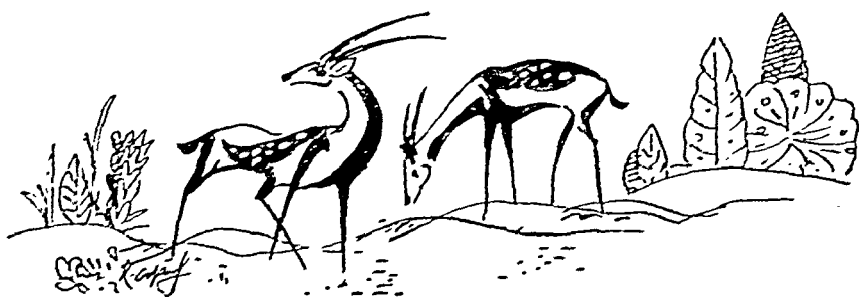
मेरी श्रद्धा के केन्द्र : गुरुदेव

—महासती ललित कुमारी
(शास्त्री, साहित्य-रत्न, बी० ए०)

एक मधुर व्यक्तित्व :

श्याम वर्ण, सुडौल शरीर, लम्बा कद, धवल केशराशि और उपनेत्रों में से चमकती हुई तेजस्वी दृष्टि मानस-पटल पर एक गम्भीर व्यक्तित्व की छाप अंकित कर देती है। किन्तु उस गम्भीरता की तह के नीचे छुपी मधुरता का आभास भी कुछ क्षणों बाद ही होने लगता है। पूज्य गुरुदेव श्री सौभाग्यमलजी म० सा० के दर्शन एवं वार्तालाप का सुअवसर जिसे एक बार प्राप्त हुआ है, वह व्यक्ति उनके मधुर व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

आपकी वाणी में एक अद्भुत शक्ति है, जादू है; जो नवागन्तुक को शीघ्र ही अपना बना लेता है। वाणी का माधुर्य विरोधियों को भी नम्र बना देता है। जो भी उनके समीप गया, वह उनका बन कर ही लौटा। जब प्रवचन की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है तो श्रोता आपके वचनामृत को पान करते हुए ऊबता नहीं, अपितु मंत्रमुग्ध होकर सुनता रहता है। आपके मन-वचन में ही नहीं, अपितु समस्त जीवन में माधुर्य का सागर लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

विनय और सेवामूर्ति :

नम्रता एवं सेवा का सद्गुण तो आपकी रग-रग में समाया हुआ है। इन्दौर में जब श्रद्धेय गुरुवर श्री किशनलालजी म० सा० अस्वस्थ थे तो मैंने देखा था कि आप प्रतिक्षण उनकी सेवा में तत्पर रहते

थे। गुरु को सदैव आपने ईश्वर तुल्य ही माना और इसीलिए उन्हें ईश्वर के नाम से ही सम्वोधित करते थे। ईश्वर के लिए औषधि या पथ्य की गवेषणा में सर्दी गर्मी की परवाह किए विना आप इन्दौर में मीलों दूर तक घूम आते थे। स्वयं अस्वस्थ होने पर भी रात-दिन एक सजग प्रहरी की भाँति ईश्वर की सेवा में तल्लीन रहते थे; मानों आपने अपने जीवन की सम्पूर्ण शक्ति ईश्वर की सेवा में समर्पित करने का दृढ़-संकल्प कर लिया हो। सेवा के उन क्षणों में आपकी तन्मयता एवं निष्ठा देखते ही वनती थी। शिष्य गण काम करने के लिए तत्पर रहते, फिर भी ईश्वर का काम अपने हाथों से किए बिना आपको चैन नही पड़ती थी। और वह दिन तो सचमुच दुर्भाग्य का दिन था जव ईश्वर आपको और हम सबको छोड़कर महाप्रयाण की तैयारी कर रहे थे। उनके अवसान से आपका मानस कुछ समय के लिए किंकर्तव्यविमूढ़-सा वन गया था। उस समय आपको देख कर हमारे मन में वीर निर्वाण के पश्चात् गुरु गौतम की अपार वेदना का स्मरण हो उठता था।

विनय और सेवा की इस मूर्ति का ईश्वर के प्रति प्रेम अनुकरणीय था तो ईश्वर का भी आपके प्रति असीम वात्सल्य-भाव था। और केवल ईश्वर के लिए नहीं, किसी भी सन्त को जव सुश्रूषा की आवश्यकता होती है तो आप उसे एक अनुपम अवसर समझ कर सेवा कार्य में जुट जाते हैं।

अध्ययन के प्रति उदार दृष्टिकोण :

वात उन दिनों की है, जव ईश्वर की अस्वस्थता के कारण आप इन्दौर में विराजमान थे। मेरी साहित्यरत्न की परीक्षा समीप थी और उसी वर्ष मैं संस्कृत मध्यमा की तैयारी भी कर रही थी। एक दिन गुरुदेव मुझ से अध्ययन की गतिविधि के वारे में पूछ रहे थे एवं

साथ ही मार्ग निर्देशन भी कर रहे थे तभी बड़े गुरुदेव (ईश्वर) ने सहज भाव से कहा—"सौभाग्य जी ! जब देखो तब पढ़ाई की बातें होती रहती है। क्या व्याख्यानादि कार्य के लिए उपलब्ध ज्ञान पर्याप्त नहीं है ? और कितना पढ़ाओगे इसे ? और गुरुदेव ने तब जो कुछ कहा, वे शब्द आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। गुरुदेव ने कहा—"ईश्वर ! अध्ययन ही तो जीवन का भूषण है। ज्ञान के विशाल वारिधि में से बिन्दु-सम यत्किञ्चित् पाने का इसने जो प्रयास किया है, वह तो नहीं के बराबर है। अध्ययन के नाम पर मेरी दृष्टि में अभी इसकी प्रारम्भिक अवस्था ही है। जब यह आगमों का चिन्तन एवं मन्थन करके अपने जीवन को सुन्दरतम बनाने का प्रयास करेगी और हमारे आगम एवं ग्रन्थों की भाषा-संस्कृत-प्राकृत पर इसका अच्छा अधिकार होगा। तभी मैं कहूँगा कि इसने अध्ययन के पथ पर एक कदम बढ़ाया है।" कितने उदार विचार हैं आपके ? आपकी यह कामना रहती है कि अध्ययन शील साधु-साध्वी अधिक से अधिक ज्ञानराशि का संञ्चय कर जीवन एवं जग को ऊँचा उठाने में समर्थ बन सकें।

मुझे अच्छी तरह याद है, इन्दौर में महावीर भवन में जब आप प्रवचन देने पधारते तो मुझे भी दो शब्द कहने के लिए आदेश मिलता। कभी मैं आनाकानी करती तो आप कहते कि इस प्रकार टालमटोल करने से अभ्यास कैसे बढ़ेगा ? तुम्हारी प्रतिभा एवं अध्ययन का सार तो यही है कि जितना तुमने समाज से लिया है उससे सौ गुना देकर समाज को लाभान्वित कर सको। तुम्हें कीर्ति की लालसा से नहीं, किन्तु कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर कार्य करना है। गुरुदेव के ये वाक्य आज भी मुझे मार्ग दर्शन दे रहे हैं और देते रहेंगे।

अपने से छोटे व्यक्तियों को विकास-पथ पर चलते हुए देख कर आपका मन अतीव प्रसन्नता से भर उठता है। आप स्वयं भी उनकी उन्नति में सहयोग देने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

एकता के समर्थक :

सत्ता का नशा इतना प्रबल होता है कि व्यक्ति इसके चक्कर में पड़कर अपना सही मार्ग भुला देता है। आप इस नशे से अछूते ही रहे हैं। पद का व्यामोह तो आपको छू भी नहीं सका है। निरभिमानता और सरलता आपके जीवन के प्रमुख सद्गुण हैं। संगठन के आप प्रेमी हैं। साधु-सम्मेलनों में आपका पूरा पूरा योगदान रहा है। बम्बई वर्षावास समाप्त करके सादड़ी पहुँचना और फिर कड़ाके की गर्मी में बम्बई लौटना आपके दृढ़ मनोबल एवं कार्यशक्ति को सूचित करता है।

सादड़ी सम्मेलन की भूमिका के रूप में जब छह सम्प्रदायों का एकीकरण हुआ तब भी आपने अथक प्रयास किया और आचार्य आनन्दऋषिजी म० सा० का नाम आचार्य पद के लिए प्रस्तुत किया। किसी भी पद को पाने की आपकी कभी आकांक्षा नहीं रही। अपने शिष्य समुदाय के बीच भी अपने हाथों में रही हुई सत्ता का भय दिखाने की आपकी प्रवृत्ति कभी नहीं देखी गई। शिष्य हो या गुरु, बालक हो या वृद्ध; सबसे नीर-क्षीरवत् घुलमिल कर मिश्रीवत् बातें करने और हँसने-हँसाने की आपमें एक विशेषता है। उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में आपकी बुद्धि इतनी प्रखर है कि समस्या का समाधान ढूँढ कर ही दम लेते हैं। गुरुदेव जहाँ भी जाते हैं, सामाजिक संघर्षों को सुलझाने में उन्हें पूर्ण सफलता मिलती है।

विश्वास एवं श्रद्धा के केन्द्र :

पूज्य गुरुदेव के प्रति जन-जीवन में अपार श्रद्धा के दर्शन होते

हैं। इन दो-तीन वर्षों में मुझे मालव-प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में जाने का अवसर मिला है। जनता के बीच जब कभी पूज्य गुरुदेव के बारे में कुछ कहने का प्रसंग आया है तो मैंने अनुभव किया है कि बच्चे-बच्चे के मुख पर आनन्द की आभा दृष्टिगोचर होती है। मालव-भूमि का यह जगमगाता हुआ रत्न जहाँ कहीं पहुँचता है, अपनी दिव्य किरणों से—सद्गुणों से जनता का मन मोह लेता है। लोग कहते हैं कि सौभाग्य से ही सौभाग्य के दर्शन पाए जा सकते हैं। मालव का यह सौभाग्य चिरकाल तक बना रहे; यही जन जन की चाह है।

जैन भवन, थांदला
१० अगस्त ६९
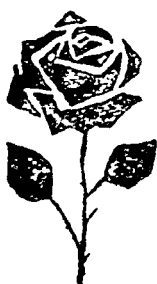
जीवन के कलाकार

—महासती प्रीतिसुधा

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कह ही न जाना।
निजपरिताप द्रवै नवनीता, पर परिताप ही संत पुनीता ।।

श्रद्धेय सौभाग्यमुनिजी म० शीतलस्वभाव की आनन्ददायक आभा फैलाने वाले मानव मंडल के आनंददायक राकेश हैं। कोमल स्वभाव की सुमधुर सुरभि फैलाने वाले संतोद्यान के गुलाब हैं। पुष्प कहता नहीं, कि मैं सुन्दर हूँ, सुरभिमय हूँ! पर जिसने भी उसका सहवास पाया, वह उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करता ही रहा।

सौम्यता की साकार प्रतिमा के प्रथम दर्शन में ही हमें इतने अपनत्व की अनुभूति हुई मानो हम एक ही सम्प्रदाय के गुरु-चेली हों। जहाँ झूठा दंभ, कपट और अहं न हो, वहाँ घट के पट बहुत जल्दी खुल जाते हैं।

भारत भूमि सचमुच में ऐसी पवित्र भूमि है कि जहाँ सौभाग्य-मूर्तियाँ का जन्म येन-केन प्रकारेण होता ही रहता है। मुनिश्री के दर्शन का लाभ लेने वाला नवागंतुक अपने भाग्य को सराहे विना नहीं रह सकता। कारण उनमें वच्चों-सी कोमलता युवकों-सा उत्साह और वुजुर्गों-सा गहरा अनुभव जो आदर्श रूप में प्राप्त करने को मिलता है।

गति ही जिनका जीवन है, रुकना किस चिड़ियाँ का नाम है, यह जिसे मालुम नहीं, ऐसी ज्ञान, दर्शन, एवं चारित्र के उन्नत शिखर पर पहुँची हुई महान् आत्मा जव तपः पूत-वृद्धशरीर को लिए ग्रामो-ग्राम में पदविहार करती हुई आगे वढ़ती है, तव जैन तो क्या, अजैन और जंगली मानव का हृदय भी गद्‌गद् हुए विना नहीं रहता।

मुक्ति की चाह में जिसने अपनी दिव्य राह खोजली है, ऐसे दिव्य संत क्यों किसी से वैर विरोध करेंगे? क्यों अपने-पराए के

रागद्वेष में उलझेंगे !! और क्यों अभिमान के काले गज पर चढ़ने का कष्ट लेंगे ! बस ऐसे सद्गुण सुमनों से ही आपकी जिंदगी हंसी-खुशी से मुस्करा उठी है।

निखालस सात्विक प्रेम का दान करके आपने जन-जन के मानस पर अपनी मोहिनी डाल दी है। और तो मुझे मालुम नहीं पर नासिक जिले में आप "बड़े महाराज" के नाम से बहुत ही ख्यातनाम हो गए हैं। हर घर में आप श्री की बड़ी तस्वीर देखी जाती है, वह आप पर रही हुई अटूट श्रद्धा का ही प्रतीक है।

जीवन की मंदाकिनी में आपने रागद्वेष के संकुचित दायरे से परे रहकर जो संयम-साधना की है वह स्तुत्य है।

महावीर के शासन की शोभा ऐसे ही संतों के कारण आज तक बढ़ती रही है। अवस्था हो जाने पर भी आप अपनी आकर्षक शैली एवं मधुरवाणी द्वारा महावीर संदेश जनता के हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न अब भी कर रहे है।

"हाथ पैर हो मेरे सच्चे चेले हैं, जब तक ये चार शिष्य मजबूत हैं, तब तक मैं बेफिक्र हूँ" आप श्री के मुखकमल से निकले हुए उत्साह भरे ये शब्द, 'नवयुकों को उत्साह बढ़ाकर स्वावलंबन का सच्चा सबक सिखाते हैं।

रास्ते में आए हुए संकट व शूलों को किस तरह दूर करना और अपने स्थाई आनन्द को किस तरह कायम रखना, इस कला में आप सिद्धहस्त हैं। और इसी कारण से अनेक घात-प्रत्याघात के बावजूद भी आपकी प्रसन्नता में कोई कमी नहीं आई है।

जनता के हृदय में अपना अद्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले, जन-जन में प्रेम का अमृत भरने वाले, शांति के प्रचारक महानात्मा सिद्धपुरुष पूज्य श्री सौभाग्यमुनिजी म० के पवित्र चरणों में

—कोटिशः वंदन !

आपका मोहक व्यक्तित्व स्मृतिमंजूषा का एक चमकता रत्न बनकर हमेशा कायम रहेगा।

इस संसार में सुगन्धित जीवन ही सम्मानित होता है। एक कवि ने कहा है—

> "जिन्दगी ऐसी वना, जिन्दा रहे दिलशाद तू
> जव न हो दुनियाँ में, तो दुनियाँ को आये याद तू ॥
> मुवारिक हैं, जो दिल में, दूसरों का दर्द रखते हैं, ।
> आँखों में आँसू, लव पै आहें सरद रखते हैं ॥"

जैन-स्थानक
सोरापूर (यादगिरि)
अगस्त ३, १९६९
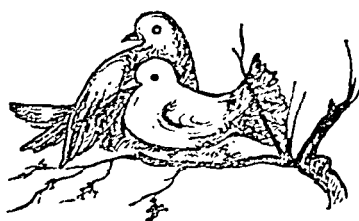
मेरे संस्मरण

—महासती चाँदकुंवर

तपः श्रुतिः धृति र्ध्यानं, विवेको यमसंयमौ ।
ये वृद्धास्तेषु ते वृद्धाः न पुनः पलितांकुराः ॥

जो तप, ज्ञान, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम, संयम आदि गुणों में वृद्ध हैं वही सच्चा वृद्ध है। केवल श्वेत बाल हो जाने मात्र से कोई वृद्ध नहीं कहलाता। वैसे सन्तों की आत्मा वृद्ध नहीं होती, वृद्ध होता है तो सिर्फ यह नश्वर शरीर बाहर से यह अपना जैसा रूप है, दीखता है, लेकिन अन्तर में तेजपुञ्जों का समूह स्वयं प्रकाशित आत्मा, संयम की तपाग्नि को पाकर और भी प्रकाशमान हो उठता है। स्वर्ण जब आग की लौ और घन की चोटों को सहलेता है तब ही वह कुन्दन कहलाता है। इसके पूर्व उसमें विकृति (मैल) रहती है। कोई भी आभूषण खार या टांके के बिना बनता नहीं है। अतः आत्मा भी इस समय मनुष्य देहरूपी गहने में हैं। उसमें विभाव परिणति के कारण राग-द्वेष मय द्रव्य एवं भाव कर्मों के कारण ही मैल है। आत्मा स्व-स्वरूप में शुद्ध-बुद्ध ज्ञायक स्वभावी परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न हैं। निश्चय दृष्टि से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपने-अपने स्वरूप में स्थित है। कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तात्विक दृष्टि से नहीं रह सकता। द्रव्य की स्वतंत्रता केवल जैन-दर्शन ही मानता है। जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है, पुद्गल से उसका एकमात्र संयोग है, जहां संयोग है वहां वियोग साथ में निश्चय से ही रहता है। इस सत्य-सिद्धान्त पर दृढ़ निष्ठा का होना· इसी का नाम

सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के अभाव में इस आत्मा को परमात्म-पद नहीं मिलता। पर द्रव्य से बना हुआ शरीर पुद्गल परमाणुओं का एक पिंडमात्र है। हम इसके मालिक अथवा स्वामी नहीं। द्रव्य-कर्म, भावकर्म, और नोकर्म आत्मा के अपने नहीं, उसके न इन्द्रिय हैं, न प्राण हैं, लेकिन व्यवहार नयसे अथवा पर्याय से इस आत्मा के चार से लेकर दश प्राण हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म भी है। तथा एक से पांच तक इन्द्रियाँ भी हैं। उसके मन भी है, साथ ही वह जीता और मरता भी है। पर सत्य एक है, आत्मा स्वतंत्र है, अविनाशी है. अमूर्त्तिक है तथा ज्ञायक स्वभावी है। पर द्रव्यों से सर्वथा भिन्न है, शुद्ध एवं वुद्ध है। ऐसा अटल-सिद्धान्त जिनके जीवन में श्रद्धान के साथ उतर गया है, वे ही आत्माएँ महान हैं।

सत्य का श्रद्धान जिनने अपने जीवन में उतार कर अन्य जन-जीवन को प्रेरणा देने का दृढ़ संकल्प किया है, उस महान आत्मा का परिचय करा दूं, ये वे हैं, महानतम की श्रेणी में विद्यमान-प्रातः स्मरणीय, मालवकेशरी, महाराष्ट्र-विभूपण, परम-श्रद्धेय श्री सौभाग्यमलजी महाराज जिनके नाम से आप चिर-परिचित हैं। उनके जीवन से मुझे जो अनुभव तथा वोधि-वीज प्राप्त हुआ? मैं उसी महान आत्मा के वारे में कुछ संस्मरण लिखती हूँ। यह तो निश्चित है कि—सन्तों के सान्निध्य में आने वाले को लोहचुम्बक जैसा आकर्पण होता है और उसे जीवन की सच्ची राह मिल ही जाती है। यह है संत समागम का सुफल। नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—**सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्**—सत्संगति क्या नहीं करती? अर्थात्, वुद्धि की जड़ता का नाश, वाणी में सत्यता, सम्मान में अभिवृद्धि, पापों का प्रलय, चित्त में सदैव प्रसन्नता, तथा दशों दिशाओं में कीर्ति को प्रसारित करती है—संत्संग की महिमा अनन्त है। लोहे को पारस का तनिक-सा स्पर्श वहुत कुछ हो जाता है

अथवा पारस का स्पर्श होते ही लोहा स्वर्ण बन जाता है, महान आत्माओं के दर्शन मात्र से ही जीवन में अकल्पनीय परिवर्तन हो जाता है, और जब सत्य-श्रवण मिलता है तब वे यथार्थ दृष्टि को प्राप्त कर मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। देखिए, इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों में जिनके नाम उल्लिखित हैं। परदेशी को महामुनि केशी श्रमण का, संयती को गर्दभालीमुनि, श्रेणिक को महाश्रमण-अनाथी, अर्जुन को भगवान महावीर, तथा अंगुलीमाल को महात्मा बुद्ध का उपदेश मिला, तो उनका जीवन बदल गया।

मुझे भी जीवन का बोध देने वाले परम उपकारी पूज्य गुरुदेव मालवकेशरी जी म० सा० हैं। जिनसे मुझे आत्मीयता के साथ सत्य-बोध मिला है, मिल रहा है और भविष्य में मिलता रहेगा।

जीवन की मधुरिमा :

आपकी वाणी में ओज-सत्यता, मृदुता, और आकर्षण है, साथ ही प्रवचन में गहन अध्ययन की छाप स्पष्ट झलकती है। आपके मुखारविन्द से हित, मित, प्रियवचन ही निकलते हैं। धारा प्रवाह सादगी पूर्ण भाषा में अपने मनोभावों को प्रकट करने की एक विशिष्ट प्रणाली है।

श्रोताओं के मन पर स्थायी छाप पड़ती है और वे कुछ क्षणों के लिये स्तब्ध हो जाते हैं, साथ ही मन कह देता है कि सत्य तो यही है। आपकी प्रवचनशैली में एक ऐसा संमोहन है कि—जहाँ यह भी ध्यान नहीं रहता कि—कितना समय बीत गया। व्याकरण और क्लिष्टता से अति दूर, मंजी हुई भाषा, जिसे ज्ञानी, विद्वान या बिना पढ़ा-लिखा सब समझ लेते हैं। और उनके (श्रोतागणों) मन पर एक सा प्रभाव गिरता है। कहते हैं कि—जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले, यह कहावत आपके जीवन में चरितार्थ होती है। जैन-दर्शन

सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के अभाव में इस आत्मा को परमात्म-पद नहीं मिलता। पर द्रव्य से बना हुआ शरीर पुद्गल परमाणुओं का एक पिंडमात्र है। हम इसके मालिक अथवा स्वामी नहीं। द्रव्य-कर्म, भावकर्म, और नोकर्म आत्मा के अपने नहीं, उसके न इन्द्रिय हैं, न प्राण हैं, लेकिन व्यवहार नयसे अथवा पर्याय से इस आत्मा के चार से लेकर दश प्राण हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म भी है। तथा एक से पांच तक इन्द्रियाँ भी हैं। उसके मन भी है, साथ ही वह जीता और मरता भी है। पर सत्य एक है, आत्मा स्वतंत्र है, अविनाशी है, अमूर्त्तिक है तथा ज्ञायक स्वभावी है। पर द्रव्यों से सर्वथा भिन्न है, शुद्ध एवं बुद्ध है। ऐसा अटल-सिद्धान्त जिनके जीवन में श्रद्धान के साथ उतर गया है, वे ही आत्माएँ महान हैं।

सत्य का श्रद्धान जिनने अपने जीवन में उतार कर अन्य जन-जीवन को प्रेरणा देने का दृढ़ संकल्प किया है, उस महान आत्मा का परिचय करा दूं, ये वे हैं, महानतम की श्रेणी में विद्यमान-प्रातः स्मरणीय, मालवकेशरी, महाराष्ट्र-विभूषण, परम-श्रद्धेय श्री सौभाग्यमलजी महाराज जिनके नाम से आप चिर-परिचित हैं। उनके जीवन से मुझे जो अनुभव तथा बोधि-बीज प्राप्त हुआ? मैं उसी महान आत्मा के बारे में कुछ संस्मरण लिखती हूँ। यह तो निश्चित है कि—सन्तों के सान्निध्य में आने वाले को लोहचुम्बक जैसा आकर्षण होता है और उसे जीवन की सच्ची राह मिल ही जाती है। यह है संत समागम का सुफल। नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—**सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्**—सत्संगति क्या नहीं करती? अर्थात्, बुद्धि की जड़ता का नाश, वाणी में सत्यता, सम्मान में अभिवृद्धि, पापों का प्रलय, चित्त में सदैव प्रसन्नता, तथा दशों दिशाओं में कीर्ति को प्रसारित करती है—संत्संग की महिमा अनन्त है। लोहे को पारस का तनिक-सा स्पर्श बहुत कुछ हो जाता है

की जटिलता की इतने सीधे शब्दों में व्याख्या करने का आपका अपना एक अलग तरीका है। आप में हठग्रही बुद्धि कभी नहीं रही, क्योंकि जैन-दर्शन अनेकान्तमय है, स्याद्वाद की वाणी में हठ नहीं होता, वहाँ होता है केवल सत्य? मुझे तो ऐसा लगता है कि समन्वय का सिद्धान्त आपके जीवन में घर कर गया है।

विवादों से दूर :

आप मत मतान्तरों से अति दूर है। एक सत्य की खोज में निरन्तर बढ़ते रहना ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो, भला उसे कौन रोक सकता है? निश्चय से ऐसी आत्माएँ निःसंदेह सत्य को प्राप्त कर लेती हैं।

प्रेम-मूर्ति :

जीवन में प्रेम आवश्यक है। कहा भी है—प्रेम की नजर पत्थर को तोड़ देती है। फिर तो मनुष्य का कोमल हृदय ठहरा, यदि कठोर भी हो तो पाषाण सम कठोर कभी नहीं रहा। आपको अपने भक्तों से ही प्रेम नहीं, समस्त मानव-समाज से है। तलवार से केवल धरती जीती गई है, न कि मनुष्य का हृदय जीता गया? हृदय परिवर्तन केवल प्रेम से होता है। महात्मा ईशु के शब्दों में—'लव इज् गॉड' प्रेम ही परमात्मा है। यह आपके जीवन का मूल मंत्र है।

जातीयता से दूर :

आपके प्रवचन में जैन-जैनेतर सभी जातियों के नरनारी सम्मिलित होते हैं। भेद-भाव की दीवार आपके मन से कोसों दूर हैं। जैन-धर्म में जातीयता का उन्माद नहीं है। यह तो आत्म-धर्म है। प्रत्येक जाति का व्यक्ति इस धर्म को ग्रहण कर सकता है।

आपका जीवन अगरबत्ती जैसा सुवासित, विकसित गुलाब के समान ताजा, शक्कर एवं मधु जैसी वाणी में मीठास, नवनीत जैसी

मृदुता, सूर्य सम तेजस्वी, शशिवत् शीतल, दीपकवत् प्रकाशवान् सिंहवत् निर्भय और कमल पत्रवत् निर्लेप हैं। साथ ही आपके जीवन में आचार की पवित्र गंगा और विचारों की यमुना का सुभग समन्वय मिलता है।

सुभग शब्द की परिभाषा पंडित श्री बा० ब्र० विजय मुनि जी शास्त्री द्वारा की गई 'जीवन एवं विचार' नामक पुस्तिका में दिशा निर्देशन के भीतर पाठकों ने अवश्य ही अवलोकन किया होगा, 'जीवन एवं विचार' पुस्तिका के लेखक जैन-जगत के यशस्वी पंडित श्री विजय मुनि जी शास्त्री एवं पंडित मुनि श्री समदर्शी जी 'प्रभाकर' हैं।

समयज्ञ बनो :

आपके प्रवचन में हमेशा यह मुख्य बात रही है कि—समय अपना काम करता है और मनुष्य अपना काम करता है। प्रकृति के सभी पदार्थ, ऋतुएँ, महीने पक्ष, सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र और तारे इन सब के जीवन में काल (समय) का प्रभाव पड़ता है। समय आता है और बीतता है। हेमन्त काल में सर्दी होती है तो ग्रीष्म काल में गर्मी; मानव इन सब ऋतुओं का पर्यवेक्षण करने के साथ शारीरिक भौतिक सुखमय साधनों को एकत्रित करके तदनुसार जीवन की गति-प्रगति को बना लेता है। जो विवेकहीन हैं वे समय को नहीं परख पाते, अतः स· य पर स्वामित्व को न स्थापित कर सकने से समय उन पर अपनी सत्ता को जमा लेता है। उस समय विवेक भ्रष्ट मानव की क्या दशा होती है, उसकी कल्पना-मात्र ही हमें कंपित कर देती है। अस्तु, जो विवेक युक्त हैं वे अपने पर काल का प्रभाव नहीं पड़ने देते तथा अपनी सम्यग्दृष्टि से समय पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं।

की जटिलता की इतने सीधे शब्दों में व्याख्या करने का आपका अपना एक अलग तरीका है। आप में हठग्रही बुद्धि कभी नहीं रही, क्योंकि जैन-दर्शन अनेकान्तमय है, स्याद्वाद की वाणी में हठ नहीं होता, वहाँ होता है केवल सत्य ? मुझे तो ऐसा लगता है कि समन्वय का सिद्धान्त आपके जीवन में घर कर गया है।

विवादों से दूर :

आप मत मतान्तरों से अति दूर है। एक सत्य की खोज में निरन्तर बढ़ते रहना ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो, भला उसे कौन रोक सकता है ? निश्चय से ऐसी आत्माएँ निःसंदेह सत्य को प्राप्त कर लेती हैं।

प्रेम-मूर्ति :

जीवन में प्रेम आवश्यक है। कहा भी है—प्रेम की नजर पत्थर को तोड़ देती है। फिर तो मनुष्य का कोमल हृदय ठहरा, यदि कठोर भी हो तो पाषाण सम कठोर कभी नहीं रहा। आपको अपने भक्तों से ही प्रेम नहीं, समस्त मानव-समाज से है। तलवार से केवल धरती जीती गई है, न कि मनुष्य का हृदय जीता गया ? हृदय परिवर्तन केवल प्रेम से होता है। महात्मा ईशु के शब्दों में—'लव इज् गॉड' प्रेम ही परमात्मा है। यह आपके जीवन का मूल मंत्र है।

जातीयता से दूर :

आपके प्रवचन में जैन-जैनेतर सभी जातियों के नरनारी सम्मिलित होते हैं। भेद-भाव की दीवार आपके मन से कोसों दूर हैं। जैन-धर्म में जातीयता का उन्माद नहीं है। यह तो आत्म-धर्म है। प्रत्येक जाति का व्यक्ति इस धर्म को ग्रहण कर सकता है।

आपका जीवन अगरबत्ती जैसा सुवासित, विकसित गुलाब के समान ताजा, शक्कर एवं मधु जैसी वाणी में मीठास, नवनीत जैसी

मृदुता, सूर्य सम तेजस्वी, शशिवत् शीतल, दीपकवत् प्रकाशवान् सिंहवत् निर्भय और कमल पत्रवत् निर्लेप हैं। साथ ही आपके जीवन में आचार की पवित्र गंगा और विचारों की यमुना का सुभग समन्वय मिलता है।

सुभग शब्द की परिभाषा पंडित श्री बा० ब्र० विजय मुनि जी शास्त्री द्वारा की गई 'जीवन एवं विचार' नामक पुस्तिका में दिशा निर्देशन के भीतर पाठकों ने अवश्य ही अवलोकन किया होगा, 'जीवन एवं विचार' पुस्तिका के लेखक जैन-जगत के यशस्वी पंडित श्री विजय मुनि जी शास्त्री एवं पंडित मुनि श्री समदर्शी जी 'प्रभाकर' हैं।

समयज्ञ बनो :

आपके प्रवचन में हमेशा यह मुख्य बात रही है कि—समय अपना काम करता है और मनुष्य अपना काम करता है। प्रकृति के सभी पदार्थ, ऋतुएँ, महीने पक्ष, सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र और तारे इन सब के जीवन में काल (समय) का प्रभाव पड़ता है। समय आता है और बीतता है। हेमन्त काल में सर्दी होती है तो ग्रीष्म काल में गर्मी; मानव इन सब ऋतुओं का पर्यवेक्षण करने के साथ शारीरिक भौतिक सुखमय साधनों को एकत्रित करके तदनुसार जीवन की गति-प्रगति को बना लेता है। जो विवेकहीन हैं वे समय को नहीं परख पाते, अतः स ·य पर स्वामित्व को न स्थापित कर सकने से समय उन पर अपनी सत्ता को जमा लेता है। उस समय विवेक भ्रष्ट मानव की क्या दशा होती है, उसकी कल्पना-मात्र ही हमें कंपित कर देती है। अस्तु, जो विवेक युक्त हैं वे अपने पर काल का प्रभाव नहीं पड़ने देते तथा अपनी सम्यग्दृष्टि से समय पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं।

जैनागमों में साधकों के लिये ऐसा कहा है कि—"काले कालं समायरे" प्रत्येक कार्य करने में समय को देखो, अर्थात् समय को पहचानो; जो साधक समय की अवहेलना करता है वह "कालस्स आसायणाए" काल की आशातना करता है।

किन्तु, जो विचक्षण, धीमान प्रज्ञाशील हैं—वे द्रव्य क्षेत्र-काल और भाव के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। कहा भी है:—"वर्तमानेन कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणाः" हाँ, तो समय जीवन का अमूल्य धन है। एक अंग्रेज विचारक ने समय के लिये एक युक्ति कही है 'टाइम इज् मनी' समय धन है। अंग्रेज विद्वान जेम्स ने कहा है:—समय-का प्रत्येक पल स्वर्ण-कण के समान कीमती है। स्वामी समर्थरामदास जी ने समय का महत्व बताते हुए कहा है:—'एक सदैव पणाचें लक्षण, रि कामा जाऊं ने दी एक क्षण' जीवन के एक क्षण को भी व्यर्थ न जाने देना, प्रत्युत उस क्षण का सदुपयोग करना, यही सद् भाग्य की निशानी है। समय का सदुपयोग ही मानव को महा-मानव बनाता है, इन्सान को शैतान और हैवान से पृथक करके, मानव-देव तथा भगवान की कोटि में पहुँचाने वाला समय का सदुपयोग ही है।

पोप एट्रियम और समय :

पोप एट्रियम छट्ठा, बहुत गरीब था, खूब मेहनत करके वह जैसे-तैसे अपना गुजारा करता था। दिन भर फुर्सत न मिलने के कारण वह, रात में जब भी टाइम मिलता, तब वह म्युनिसपालिटी की बत्तीओं के प्रकाश में पुस्तकों का वाँचन करता था, और ऐसा करने से वह अल्पकाल में ही आल्-इंडिया का एक अद्वितीय विद्वान बन गया। यह है समय की सदुपयोगिता ? इसलिये आप हमेशा प्रवचन में ऐसा मुख्यतया संकेत करते रहते हैं कि-समयज्ञ बनो ? "अन्तः शरीरे

ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो" देह के अन्दर एक ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा का निवास है।

आपके जीवन में कई विशेषताएं हैं; जिनका वर्णन करने चलूं तो संभवतः एक पुस्तिका ही तैयार हो जाये। अतः अपनी लेखनी को अब आगे न बढ़ाकर, इसे यहीं विराम देना चाहती हूँ ?

जिनके जीवन के बारे में पूर्वोक्त जो भी संस्मरण लिखे गये हैं वे अपने निजी अनुभवों को समक्ष रखकर ही लिखे हैं। ऐसे गुण-निधि संतपुरुष युग युगान्तर तक जीवित रहें, और जिनके जीवन से संसार के प्रत्येक-प्राणी को मार्ग-दर्शन मिलता रहे, इसी शुभ कामना के साथ
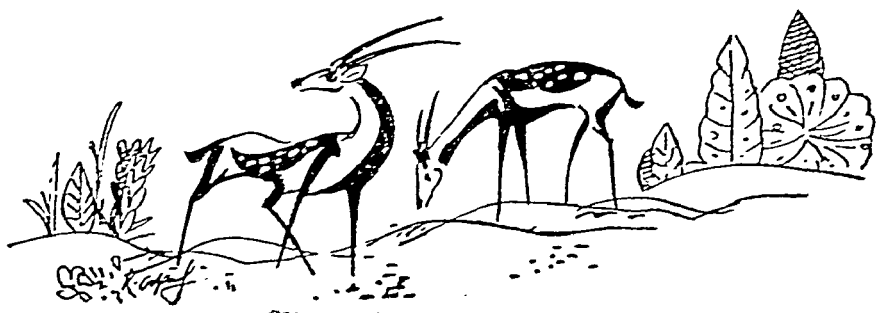
श्रद्धा के दो सुमन

—महासती शान्तिकुंवर

अज्ञानतिमिरान्धां, ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवेनमः॥

अज्ञानतिमिर से अन्धे बने हुए नेत्रों को, ज्ञान के अंजन की शलाका द्वारा जिन्होंने खोल दिये हैं उन गुरुदेव के चरणों में सादर-सस्नेह कोटि-कोटि वंदन ?

सा विद्या या विमुक्तये :

विद्या या सम्यग्ज्ञान वही है जो आत्मा को बंधनों से मुक्त करे। क्या आज की भौतिकता मानव को मुक्त करती है या वन्धनों में बाँधती है ?

यह स्पष्ट है कि—भौतिकता मानव को वन्धनों से मुक्त नहीं करती, वल्कि, वह वन्धनों में उसे जकड़ देती है। क्या उसे हम विद्या या ज्ञान कह सकते हैं ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं ! भौतिकता के पीछे पागल बनने वालों को दुनियां चाहे जो कहे, किन्तु विवेकी, तत्वज्ञानी उसे अज्ञान, घोर अज्ञान ही कहेगें।

राग-द्वेष :

भारतीय संस्कृति की विशेपता यह है कि—वह मानव को महा-मानव बनने की प्रेरणा देती है। यदि मानव सच्चे अर्थों में मानवता के स्वरूप को समझ ले और जीवन को तद्रूप बना ले तो वह देव का ही नहीं, वल्कि, भगवान का रूप पा लेगा। राग-द्वेष से मुक्त

होकर आत्म-भाव को परमात्म-भाव में ले जाना, इसी का नाम है—सच्ची मानवता या वीतरागता।

राग और द्वेष कर्मबन्ध के और भववेल के मूल बीज हैं। माया और लोभ को राग कहते हैं, तथा क्रोध और मान को द्वेष। वैरभाव जब मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होता है तब उसके जीवन की आत्म-शांति नष्ट हो जाती है, तथा इस पर विजय प्राप्त करने वालों को आत्म-शांति और शाश्वत् सुख की उपलब्धि होती है। मानव-मृग मोह-माया एवं लोभादि कषाय के कारण मृगोर्मियों को पानी समझकर, अपनी पिपासा 'शांति' के लिये यत्र तत्र भटकता है। अनन्त—आकाश को अपने भुज-बाहु में लपेट लेना चाहता है। ऐसी स्थिति में उसे शांति कैसे मिले? शांति की शोध में मानव कस्तूरिया मृग की भाँति भटकता है, किन्तु शांति बाहर नहीं, वह तो आत्मा में हैं। उसका अन्तर में ही निवास है। एक कवि ने इसी भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति कही है:—

शांति यहाँ भी नहीं मिली, शान्ति वहां भी नहीं मिली।
हृदय देश में शान्ति छुपी थी, शांति जहाँ की तहाँ मिली॥

ऐसे चरित्र निर्यामिक, सत्य-धर्म के उपदेष्टा, संयम, सेवा, मृदुता, ऋजुता, कर्तव्य-निष्ठ, त्रय-रत्नाधिक की आराधना से स्व-पर कल्याणी मम उपकारी, पितृ-तुल्य मालवकेशरी, महाराष्ट्र-विभूषण, प्रवक्ता श्री सौभाग्यमल जी म० सा० अनन्ताऽनन्त गुणनिधि परम पूज्य गुरुदेव की विजय-वैजयन्ती दशों-दिशाओं में फरकती रहे?

इसी शुभेच्छा के साथ कोटि-कोटि अभिनन्दन स्वीकृत हो!

मुलुन्ड ९-८-६६

प्रेरणा-स्रोत : पूज्य-गुरुदेव

—महासती विश्वज्योति बी० ए०

मालवकेसरी श्रद्धेय गुरुदेव श्री सौभाग्यमुनिजी म० सा० के दर्शन सर्वप्रथम मैंने इन्दौर में किए थे। उनकी महानता के वारे में मैंने वहुत कुछ सुन रखा था, अतः मन में दर्शन की उत्कण्ठा थी। मेरा हृदय धुक-धुक कर रहा था, कि कहीं अध्यात्म की गहराई में से कोई प्रश्न न कर बैठें। क्योंकि उस समय मैंने अपना धार्मिक अध्ययन प्रारम्भ ही किया था।

जब मैं गुरुदेव की सेवा में पहुंची तो मुझे अपना अधिक परिचय देने की आवश्यकता ही नहीं रही। नाम सुनते ही वे पहचान गए, और उपस्थित लोगों को मेरा परिचय देना आरम्भ कर दिया। उनके दर्शन पाकर ऐसा लगा मानों चिरपरिचित हों। उनका वात्सल्य, मधुरता एवं स्नेह देखकर मेरा हृदय खिल उठा एवं मन का समस्त भय जाता रहा। मैंने जैसा उनके बारे में सुना था उससे भी अधिक महानता के दर्शन उनमें किए।

उसके बाद राहू आदि क्षेत्रों में मैं दर्शनार्थ गई तो वे कुछ विज्ञ जनों से विचार-चर्चा में व्यस्त थे। मैं बड़े ध्यान से गुरुदेव की बातें सुनती रही और तब मैंने अनुभव किया कि वे कितनी शीघ्रता से वच्चों में बच्चे और वृद्धों में वृद्ध बन जाते हैं, उनका मस्तिष्क बड़ा सुलझा हुआ है। एक-एक प्रश्न को बड़े स्पष्ट, मधुर एवं प्रभावशील ढंग से समझा रहे थे। मेरा मन कहता था कि यह तत्वचर्चा खूब लम्बी वन जाए और मैं अधिक देर तक इस विचार-गंगा में गोते लगाती रहूं।

दीक्षा से पूर्व जब मैं बम्बई दर्शनार्थ गई तो गुरुदेव ने मेरे अध्ययन की प्रगति के विषय में पूछताछ की। दूसरे दिन व्याख्यान में जब मुझे कुछ कहने की आज्ञा मिली, तो मैंने कहा—मैं आप गुरुजनों के सम्मुख क्या बोलूं ? गुरुदेव ने तब मुझे कहा. "शशि, तुम्हें अपने साध्वी-जीवन में इसका अभ्यास तो करना ही होगा। अभ्यास से ही साधना फलवती होती है। यह अभ्यास आज मेरे सामने ही प्रारम्भ कर दो।" उनकी आज्ञा फिर कैसे टाली जा सकती थी !

जब मैंने अपनी दीक्षा के अवसर पर पधारने की विनती की, तो वे कहने लगे, "मेरा आशीर्वाद तो सदैव तुम्हारे साथ है, पर शरीर से मैं अभी इतनी दूर आने में असमर्थ हूं। तुम आगे चलकर जिन-शासन की खूब प्रभावना करो, यही मेरी शुभाकांक्षा है।"

गुरुदेव का यह आशीर्वाद मेरे साधना-पथ का सम्बल है। उनके शब्द जब मेरे स्मृति-पट पर उभरते हैं तो, उनसे मुझे एक प्रेरणा का प्रकाश मिलता है। गुरुदेव का वरद-हस्त हम सब पर चिरकाल तक कृपा बरसाता रहे और उनकी शिक्षाएं हमारे जीवन-पथ को आलोकित करती रहे, बस यही कामना है।

जैन भवन, थांदला
२३ अगस्त

पूज्य-गुरुदेव मालवकेशरीजी म०

—महासती लज्जावती

नत मस्तक हो मैं कहूँ, गुरु का यह उपकार।
उरिण हम नहीं हो सकें, बोले वारंवार ॥

पूज्य गुरुदेव श्री पण्डितरत्न, प्रसिद्ध वक्ता, मालवकेशरी, महाराष्ट्र विभूषण, गुण के आगर, बुद्धि के सागर, गुणरत्नां की खान, चिन्तामणी रत्न के समान, अनेक गुणसम्पन्न, अखंड वाल-ब्रह्मचारी, शास्त्र रसिक, आगम के ज्ञाता, सद्गुण के भंडार, कल्प-वृक्ष के समान, धर्म की ध्वजा के समान, जिन शासन के शृंगार, संघ के नायक, निस्वार्थ सेवाभावी, सूत्र सिद्धान्त के पारगामी, तिरण तारण की जहाज, पद्मकमल के समान हैं। आपकी दृढ़ता मेरुपर्वत के समान है। एवं आपके गुण वर्णन करने योग्य हैं। गुरुदेव आपका प्रभाव ऐसा लोकोत्तर है कि आपके नाम मात्र से भक्तों के सकल संकट दूर हो जाते हैं। ऐसे गुरुदेव के चरणों में हमारा वार-वार नमस्कार समर्पित हो।

पूज्य गुरुदेव आप तो तारों के बीच चन्द्र के समान शोभा दे रहे हैं। और झलकते सूर्य के समान महान तेजस्वी हैं। आपके मुख कमल से सदा अमृत रूपी धारा हमेशा बरसती रहती है। तथा केशरी सिंह के समान आपकी वाणी गाजती है। उस कोहेनूर हीरे के सामने एक काच के टुकड़े की क्या कीमत है।

पूज्य गुरुदेव आपकी गुरुसेवा, तथा जन सेवा की महक, गुण की महक, शन्तोष की महक, ज्ञान की महक, क्षमा की महक और शील की महक तो सारे भारत के कोने-कोने में महक उठी है और इस भव में क्या, भवोभव में एक कस्तूरी की सुगन्ध के तुल्य फेल रही है और फेलती रहेगी। गुरुदेव आपके गुण अनन्त है, और मेरी बुद्धि अल्प है, अतः उसका मैं वर्णन नहीं कर सकती। भगवान ने मुझे एक ही जबान दी है अगर हजार जवान से भी आपके गुण गायें तो भी कम है। आप जैसे महान् पुरुषों के पास तो ज्ञान का अखूट भंडार भरा पड़ा है, किन्तु इतना ज्ञान होते हुए भी मान और अहंकार तो आप से कोसों दूर रहा है।

पूज्य गुरुदेव आपका मुख कमल तो हमेशा खिला ही रहता है। आपका हंसता हुआ चेहरा और स्नेह भरे नेत्र सभी व्यक्तियों के मन को मुग्ध कर देता है।

पूज्य गुरुवर आपने जो संघ-सेवा एवं संघटन का महत्वपूर्ण काम किया है, जिससे आपकी गुण-गाथा इस पृथ्वी पर हमेशा के लिए अमर वनी रहेगी।

वास्तव में हमें सूर्य दूर से छोटा नजर आता है पर वह एक वहुत वड़ी दुनिया है, जिसके आलोक में जगत को राहें मिलती है। उसी प्रकार हमारे पूज्य गुरुदेव साधारण विदित होते हों परन्तु उनके भाव जगद्व्यापी हैं और प्राणी मात्र को सन्मार्ग दिखाते हैं।

पूज्य गुरुदेव आपकी वाणी और आपके कोमल कंठ में न जाने क्या जादू भरा है और आपकी आभा तो कुछ अनूठी-सी दिखाई पड़ती है। एक वक्त जो मनुष्य आपके दर्शन कर लेता है, और अमृतमय वाणी सुन लेता है तो वस वह अपने आपको भूल जाता है। और आपका पुजारी वन जाता है, मगर आपको उनकी पूजा की

चाह ही नहीं। आप तो बस यही माँगते हैं कि दान करो, तप करो शील पालो और सुन्दर भावना रखो बस यही तुम्हारा चढ़ावा है।

आपने किसी से लेना नहीं, अपितु देना ही देना सीखा है। आप अपने चिन्तन एवं ज्ञान के अनमोल हीरे सभी प्राणी मात्र को देते रहते हैं। आप श्री का हृदय बहुत ही उदार है, आपका ज्ञान समुद्र से भी गहरा है, और अध्ययन भी विशाल है। आप जो उपदेश फरमाते है वह बड़े ही मनोरंजक ढंग से कहते हैं कि जो शून्य देहाती लोग हैं वो भी बिना कोई दिक्कत के सहज ही समझ जाते हैं। आप श्रोताओं को जिस किसी भावना में डुबोना चाहते हैं उसी में सफलता के साथ डुबा देते हैं। इस प्रभावशाली भाषण से सहस्रों नर-नारियों ने अपने जीवन का सुधार किया है।

राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, मारवाड़, मेवाड़, निमाड़ काठियावाड़, झालावाड़, सौराष्ट्र पंजाब, यू. पी. महाराष्ट्र डूंगर आदि सभी प्रान्तों में आपकी मधुरवाणी की महक फैल रही है तथा भारत के कौने-कौने में गूंज उठी है। आपकी जादू भरी वाणी से कई राजाओं, जमीदारों, जागीरदारों ने जुल्म करना, जीवहिंसा करना, शिकार खेलना, शराब पीना, मद्यमांसका आहार करना, आदि मादक द्रव्यों का परित्याग जावजीव के लिये कर दिया है।

केवल जैन ही नहीं, सभी कौम ने अपनी भूल को सुधार कर जीवन उन्नत बनाया है, यह आपकी असरकारक वाणी के प्रभाव से अगणित प्राणी उभर गये है, आपने प्राणी मात्र पर असीम अनुकम्पा बरसाई है जिससे अनेकों का उद्धार हुआ है और युग-युग

आभाका कागज करूं, कलम करूं वनराज।

समुद्र की श्याई करूं, तो गुण लिखा न जाय ॥

फिर भी आप महान पुरुषों की प्रेरणा एवं आज्ञा से आज कुछ लिखने में समर्थ वनी हूं। पूज्य गुरुदेव आज मेरे अहोभाग्य है जो दो अक्षर लिखकर आप श्री के चरण कमलों में समर्पित करने का मुझे सौभाग्य मिला है, आप जैसे शान्त स्वभावी दिनकर के मानिन्द तेजस्वी और चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतल गुरु तथा गुरुणी मिले हैं, इतना तो कम से कम सद्भाग्य हैं। पूज्यवर आपकी अमृत-मय वाणी का प्रकाश युग युग तक इस पृथ्वी पर चमकता रहे, और यह ज्ञान रूपी पौधा सदा के लिए सभी के हृदय रूपी भूमि पर लहराता रहे॥

★

श्रद्धा के केन्द्र : पूज्य गुरुदेव

—महासती गुलाब कुँवर

प्र० व० पूज्य-देव श्री सोभाग्य मल जी म० एक महान् सन्त हैं। आपका व्यक्तित्व जैन समाजों में पुष्प की भांति महक रहा है। प्राय: करके आप अपना अमूल्य समय ज्ञान-ध्यान और भगवान महावीर के पवित्र सिद्धान्तों के प्रचार में ही लगाते हैं। आपकी वाणी में कोयल के समान मधुरता है जो कि एक वक्त सुनने से मन को तृप्ति नहीं आती अर्थात् वार वार सुनने की भावना जागृत होती है। आप के स्वभाव में समुद्र के समान गम्भीरता और पृथ्वी के समान क्षमाशीलता है।

आपमें सेवा के गुण भी वड़े प्रशंसनीय हैं—स्वर्गीय-पूज्य गुरुदेव महाराष्ट्र मन्त्री श्री किसनलाल जी म० की रुग्णावस्था में आप स्वयं इन्दौर में ५-६ वर्ष तक निरन्तर रहकर श्रद्धा एवं प्रेम पूर्वक सेवा करके गुरु देव को मानसिक एवं शारीरिक शान्ति पहुंचाने का पूरा-ध्यान रखते थे। अत: गुरुदेव में हार्दिक प्रेम को आपने प्राप्त किया है। इस प्रकार आप में एक नहीं अनेक दिव्य गुण हैं, उनका वर्णन करने में मेरी जिह्वा समर्थ नहीं है। ☆

मालवकेशरी जी : विराट् व्यक्तित्व

— महासती मदन कुँवर

जिस महान् व्यक्तित्व के बारे में मैं दो शब्द अंकित करने का प्रयास कर रही हूं वह साधारण से महान् बने है। श्रद्धेय पूज्य मालवकेशरी जी महाराज सा० जिनका आज हमारे सामने गंगा से भी विशाल और विराट् व्यक्तित्व, विचारों की गांभीर्य, संगठन की महान शक्ति, त्यागवृत्ति, सुलझे हुए विचार एवं विचारों के अनुरूप आचार उनके निरंतर विकास का ही परिणाम है। अपने जीवन के अरुणोदय से विकास के पथ पर गतिशील यह विराट व्यक्तित्व इतना व्यापक बन गया है और निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर हो रहा है और इसी के कारण वे आज जन-मन के श्रद्धा के केन्द्र बन गए है।

मालवकेशरी जी म० सा० का व्यक्तित्व प्रांत, रियासत, कस्बा तालुका अथवा तहसील तक ही सीमित न होकर मालव मध्यप्रदेश, राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात, बम्बई, हैदराबाद, मैसूर, मद्रास यानि देश के कौन-कौने में अमिट छाप अंकित हो चुकी है और दिन प्रति दिन अधिकाधिक लोगों को प्रभावित कर रही है।

जिस प्रकार सरिता एक स्थान पर बन्द नहीं रहती और सदा प्रवाहमान रहती है एवं जिस प्रदेश से बहती है उसे हरा भरा बनाती और स्वयं सूखकर भी आस पास की जमीन को उर्वरा बनाती है, ठीक इसी प्रकार इस संत का जीवन भी सदा प्रवाहमान रहा। स्थान-स्थान पर अपने ज्ञानोपदेश से जन-जन के जीवन को पवित्र

किया, आत्मा के स्वरूप को पहचानने में उसके सहायक रहे। उनके हृदयों को सुविचारों से ओत प्रोत किया और इन्हीं सुविचारों के आधार पर आचरण करने को प्रेरित किया।

सन् १९५२ में स्थानकवासी साधु समाज का जो महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ उसको सफल बनाने में आपने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। जब कभी कोई वरिष्ठ संत रुठ जाता तब उसे मनाने का और निकट लाने का प्रयत्न आप ही करते थे। आपके ही सद्प्रयत्नों का यह फल है कि सादड़ी सम्मेलन शत प्रतिशत सफल रहा।

ऐसे संत के बारे में बहुत अधिक लिखना या कहना सूरज को दीपक दिखाने के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं है। ऐसे संत त्यागी कर्मठ एवं समाज सुधारक साधु का नाम कर्णगोचर होते ही संसार सागर को पार करने की अनुपम प्रेरणा मिलती है। हम साध्वियों को उनके त्यागमय जीवन, ज्ञान, वाणी की शक्ति, क्षमाशीलता का महान गुण आदि से शिक्षा एवं प्रेरणा लेनी चाहिये।

बचपन में एक ज्योतिषी द्वारा की गई यह भविष्यवाणी कि यह बालक आगे चलकर यदि सांसारिक जीवन में रहा तो राज्य लाभ प्राप्त करेगा और यदि वैराग्य की ओर कदम बढ़ाया तो मुनि बनकर जन जन के मन में धर्म की ज्योति जलायेगा को आज शत प्रतिशत सही उतरते देखकर प्रसन्नता होती है और प्रेरणा मिलती है।☆

पूज्य गुरुदेव का विराट्-व्यक्तित्व

—महासती रमणीक कुवँर

गुलाब का फूल जिस बगीचे में, वन-उपवन में, या वीरान जंगल में जहाँ भी खिलता है, विकसित होता है, वहाँ के वातावरण को सुन्दर, सुरम्य, सुहावना एवं सुवासित बना देता है। जन-जन के मन-मस्तिष्क को तरोताजा बना देता है। उसे इस बात का जरा भी विचार नहीं आता, कि मुझे कोई देख रहा है? या नहीं, मेरी गुण-गाथा कोई गा रहा है या नहीं? मैं किसी बहुत बड़े बगीचे में या बहुत बड़े नेता एवं सेठ की कोठी में खिल रहा हूँ, या एकान्त जंगल में। वह तो एक ही बात जानता है, वन हो, उपवन हो, बगीचा हो या अन्य कोई स्थल, चाहे कोई देखे अथवा न देखे सदा-सर्वदा और सर्वत्र अपनी मधुर मुस्कान एवं मीठी-मीठी सुगन्ध बिखेरते रहना। गुलाब की यह सबसे बड़ी विशेषता है, कि वह सदा कांटों में ही खिलता है। कांटों के अभाव में गुलाब का कोई मूल्य एवं महत्व ही नहीं रह जाता है।

जीवन का गुलाब भी सदा कांटों में विकसित होता है। कांटों को मधुर-मुस्कान एवं मधुर सुवास से सुगन्धित कर देने वाला जीवन ही महान् जीवन है। महापुरुष कभी कांटों से डरते नहीं, घबराते नहीं, प्रत्युत कांटों को फूल बनाने का, उनकी चुभन को सुवास में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि लोग मुझे आदर देते हैं या नहीं। उसका एक ही काम रहता है, विकसित होना और अपने गुणों की सुगन्ध को चहुँ ओर बिखेरना। भले ही,

कोई उन्हें कांटा भी क्यों न चुभाए, वह अपने स्वभाव के अनुसार उसे चुभन नहीं, माधुर्य ही देते है। पाश्चात्य विचारक वी० पी० हाल (B. P. Hall) ने एक स्थान पर लिखा है—'-अच्छा आदमी, महान् व्यक्ति सदा शत्रुओं के लिए भी दयार्द्र हृदय का होता है"—

"A Good-man is kinder to his enemy.

महान् विचारक विसमार्क (Bismarck) ने भी महापुरुष का परिचय देते हुए लिखा है—"वास्तव में महान् व्यक्ति तीन चिह्नों द्वारा जाना जाता है—योजना में उदारता, उसे पूरा करने में मनुष्यता, और सफलता में संयम"

"A really great-man is known by three things—genero sity in the design, humanity in the excution, moderation in sucecss.

परम श्रद्धेय मालवकेशरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज विराट् एवं व्यापक व्यक्तित्व संपन्न महान् सन्त हैं। मैंने जव-जव पूज्य-गुरुदेव के दर्शन किए, उनकी वाणी सुनी, तव-तव मुझे उनके जीवन में महानता एवं गम्भीरता परिलक्षित हुई है। आपके हृदय में सर-लता, उदारता एवं करुणा तो स्वभावत: ही हैं। इन सव गुणों के साथ एक विशेषता यह है, कि आपके जीवन में विनम्रता इतनी है, कि अभिमान एवं अहंभाव को ठहरने के लिए स्थान ही नहीं मिला।

जव में साधना-पथ पर कदम रखने को तैयार हुई, तव मेरी, मेरे परिवार एवं मेरी गुरुणी जी की प्रार्थना स्वीकार करके मुझे दीक्षा का पाठ पढ़ाने पधारे। आपके द्वारा दिया गया मार्ग-दर्शन एवं आपकी कृपा का ही सुफल है, कि अपने विचारों को, अपनी त्याग-भावना को साकार रूप देकर साधना-पथ को स्वीकार कर

सकीं, और आज उस पथ पर गति-प्रगति कर रही हूँ। आपका आशीर्वाद भविष्य में भी मुझे विकसित होने की प्रेरणा देता रहेगा। ऐसा मुझे पूरा विश्वास है। पूज्य-गुरुदेव मेरे लिए ज्योति-स्तंभ हैं, और सदा-सर्वदा मेरे जीवन को ज्योतित करते रहेंगे और युग-युग तक जन-जन के मन में आलोक फैलाते रहेंगे।

मैंने देखा है, कि अवस्था से वृद्ध होते हुए भी उनके जीवन में नवयुवकों जैसा उत्साह एवं उल्लास परिलक्षित होता है। वे जन-जन में चेतना जगा रहे हैं, ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित कर रहे हैं। जब तक जन-जन के मन-मस्तिष्क से जड़ता दूर नहीं होगी, तब तक समाज का विकास नहीं हो सकेगा। इसलिए इसी प्रार्थना के साथ एवं मन की अभिलाषा के साथ अपनी लेखनी को विराम दे रही हूँ—

"साधना-पथ के पथिक, बढ़े,
खोलने जड़ता के बन्धन।
हलाहल का पान तो मिला ही—
था, साथ में शत-शत वन्दन॥"

जैन-स्थानक
मुलुण्ड (बम्बई)
दिनांक, अक्टूबर २०, १९६९

मालवकेशरीजी म० का जीवन

—महासती रमणीक कुंवर (पुष्प-कुंवरजी)

प्रकृति का प्रायः एक नियम जैसा बन गया है, कि प्रत्येक युग में, प्रत्येक शब्तादी में, अथवा तो प्रत्येक सहस्राब्दी में वह अवश्य किसी न किसी महापुरुष को प्रकाशित करती है। उस महापुरुष-महामानव महात्मा को पहिचानना कोई सरल काम नहीं है। फिर भी विचार कर देखने से प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पादि आत्मिक एवं तात्त्विक गुणों से विभूषित लोकमान्य-व्यक्तित्व वाले विरल भाग्यशाली को ही महापुरुष की पदवी इच्छा के बिना भी स्वतः प्राप्त हो जाती है। उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न वर्तमान शताब्दी के महापुरुष रूप में हमारे सामने मालवकेशरीजी परम श्रद्धेय, पूज्य गुरुदेव सौभाग्यमलजी महाराज ही आजाते हैं। श्री मालवकेशरी सौभाग्यमलजी महाराज तीर्थङ्करों द्वारा परूपित आत्म कल्याणकारी विशुद्ध संयम पालन एवं समता आदि विशिष्ट गुणों से युक्त हैं। वाणी की मधुरता अवश्य हृदय के भावों का परिचय कराती है। महापुरुषों का प्रारम्भिक जीवन भी कुछ विलक्षण ही हुआ करता है। पूज्य गुरुदेव का पूर्व जीवन अत्यन्त रोचक तथा आश्चर्यप्रद अवश्य है, अतः संक्षेप में उसका कुछ आभास यहाँ दिया जाता है—

विक्रमादित्य, भोज आदि महान तेजस्वी राजाओं की जन्मभूमि मालव देश में विक्रम संवत् १९५५ के लगभग नीमच नगर के समीप-वर्ती सरवणिया गांव में पूज्य गुरुदेव मालवकेशरीजी ने जन्म लिया था। आप के पिता श्री का नाम 'चौथमलजी फाँफरिया' तथा आप की माता का नाम 'केशरबाई' था। जीवन के शैशव काल में ही

माता पिता का स्वर्गवास हो गया, इन्होंने न तो माता की ममता को और न पिता के वात्सल्य का ही अनुभव किया, उसके बाद आप रतलाम के सुप्रतिष्ठित श्रावक श्री के यहाँ रहने लगे, किन्तु कुछ ही दिनों के बाद पूर्वभव सम्बन्धानुसार खाचरोद के खिवसरा श्रेष्ठिवर श्री मियाचन्दजी का धर ही आपका घर हो गया, ये उस भाग्यशाली दम्पत्ति को ही माता पिता के रूप में समझने लगे इसका मुख्य कारण यह था कि वे दम्पत्ति अपने औरस पुत्र से भी अधिक इतना प्यार करते थे। फिर क्या था ?

पुण्यशाली के सभी कार्य विलक्षण ही होते हैं, यह बात मालव केसरीजी म० के जीवन में अक्षरशः घटित होती है, कहा भी जाता है

"होनहार विरवान के होत चीकने पात"

खाचरोद नगर कुछ प्राचीन काल से ही पुण्य क्षेत्र माना जाता है क्योंकि साधु सन्त वहां आते ही रहते हैं। सेठ मियाचन्दजी भी दर्शन के लिये अपने साथ इनको ले जाया करते थे, अतः आप कुछ कुछ साधु सम्पर्क में आ भी गये थे एक समय स्वनाम धन्य। विद्वन्मूर्धन्य श्रीमान पूज्य श्रीनन्दलालजी म० किशनलालजी महाराज साहव ने अपने चरण कमल स्पर्श से खाचरोद नगर को आनन्दित किया था, उनके धर्मोत्तेजक व्याख्यान से नगर के लोगों के हृदय में धार्मिक उत्साहका उमङ्ग भर आया था फलतः गृहवास पाश छोड़ने वाले एक पुण्यशील की दीक्षा होने जा रही थी, सेठ मियाचन्दजी भी वालक सौभाग्य को साथ लिए महाराज श्री का दर्शन करने आए। महाराज साहव की दृष्टि एकाएक वालक सौभाग्य पर पड़ी और उन्होंने लक्षणों से वालक को भविष्य वतलाया, वातवात में दीक्षा की वात चल पड़ी, महाराज साहव के अपूर्व व्यक्तित्व मधुर, आकर्षण से प्रभावित होकर वालक ने दीक्षा लेने का एकदम निश्चय कर लिया और और आचार्य

श्री ने श्री संघ के समक्ष भागवती दीक्षा दे दी। अब वालक सौभाग्य को सौभाग्य मुनिजी म० कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हो गया।

प्रतिभा सम्पन्न गुरुदेव सौभाग्य मुनि जी म. सा. ने अल्पकाल में जैनागम सिद्धान्त का ही नहीं प्रत्युत संस्कृत, प्राकृत, व्याकरण, न्याय वैशेषिकादि दर्शनों का भी अच्छा अभ्यास कर लिया और गुरुजनों की सत्संगति के प्रभाव से आपकी व्याख्यान कला असाधारण बन गई। तदनन्तर आपने गुजरात महाराष्ट्र मध्य प्रदेश राजस्थान, मद्रास मैसूर, आन्ध्र, दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश के गावों में नगरों में घूमघूम कर जैन धर्म का प्रचार किया। आपकी वाणी जिन वचन सार होने से अत्यन्त मधुर आकर्षक तथा प्रभावक है। आपके व्याख्यान को सुनने के लिए जैन ही नहीं, हजारों जैनेतर भी लालायित रहते हैं। आपका उत्साह सर्वथा अनुकरणीय है। इसीलिए तो दूर-दूर से भक्तजन आकर आपका दर्शन करते हैं। आपके जीवन का यह भी एक विलक्षण वैशिष्टच हैं कि महाराष्ट्र प्रान्त की तो वात ही क्या केवल एक वम्वई में आपके १३-१३ चातुर्मास हो चुके हैं। यह तो खास आपमें ही देखा जाता है कि चाहे आप जिस प्रान्त में विराजमान हों उस प्रान्त वाले लोग आपको उसी का सन्त मानने लग जाते हैं। आपकी लेखन कला भी अद्वितीय है, यह तो आचाराङ्ग सूत्र पर की गई आपकी टीका से स्पष्ट है।

आपका स्वभाव इतना विशुद्ध है कि आप जहाँ गए हैं, वहाँ वालों के आभ्यन्तर या वाह्य किसी भी प्रकार के संक्लेश को आपने रहने नहीं दिया, सभी विलक्षण गुणों के होने पर भी अभिमान आपको छू नहीं सका, यह आपके हृदय की उदारता है।

अतएव आपके जीवन में यह अक्सर देखा जाता है, कि आप छोटे से छोटे गाँव में छोटे से छोटे स्थानक में चतुर्मास करते हैं। इतना ही नहीं आपके पास आने वाला व्यक्ति छोटा हो या वड़ा धनी हो या

गरीब जैन हो या अजैन सकल हो या विकल सब के साथ समान व्यवहार रखते हुए सबके चित्त में धार्मिक-मार्मिक बातों से सन्तोष इस प्रकार देते हैं कि वे इनको अपना आराध्य मानने लग जाते हैं।

आपके गुणों का सुन्दर वर्णन तो कदाचित् विशिष्ट लेखकों द्वारा ही संभवित है, यह जानते हुए भी 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' यह समझकर मैंने भी कुछ लिखा है। अन्त में पूज्य गुरुदेव श्री मालव केसरीजी महाराज को शत-शत वन्दन-अभिनन्दन करते हुए अपनी लेखनी को विराम देती हूं।

जैन-स्थानक
चिचपोकली (बम्बई)
दिनांक, अगस्त १५, १९६९
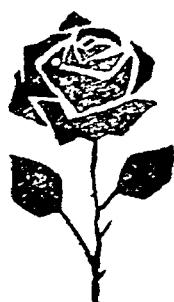
संघटन के प्रेरक : सौभाग्यमलजी महाराज

—स्व० दुर्लभजी भाई जौहरी

प्र० वक्ता प० श्री सौभाग्यमलजी म० सा० जैनागम-रूपी आकाश के देदीप्यमान सूर्य है।

आपने अपने ज्ञानबल और ववतृत्वबल के कारण जैनशासन की बहुत प्रभावना की है। आप में बाल्यकाल से ही ऐसे लक्षण दृष्टिगत होते थे जो ज्योतिष शास्त्रानुसार यह सूचित करते थे, कि यह होनहार बालक भविष्य में या तो राज्योपभोग करेगा या संयम अवस्था में वैसी ही लब्धि प्राप्त करेगा। यह बात निस्सन्देह सही निकली। आज आप श्री के चरण कमलों में बड़-बड़े नरेश-श्रद्धा के साथ सिर झुकाते हैं। यह आपकी पुण्यप्रकृति को सूचित करता है। दीक्षा अंगीकार करने के बाद आपने ज्ञान उपार्जन किया। शास्त्रों का अवलोकन एवं मनन किया। आपने अपनी वक्तृत्व शक्ति का ऐसा विकास किया कि आपको प्रसिद्ध वक्ता की उपाधि प्राप्त हुई है। आपकी ओजस्विनी वाणी में ऐसी मन्त्रमुग्ध करने की क्षमता है कि जो अन्यत्र अति विरल दृष्टिगत होती है। आपने सुन्दर एवं लोकहितकारी व्याख्यानों के कारण जैनशान की बहुत सेवा बजाई है। मद्रास, बैंगलोर, मैसूर, हैद्राबाद मुंबई, खानदेश, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान, देहली, जमनापार, गुजरात और काठियावाड इत्यादि क्षेत्रों में उग्रविहार करके धर्म का उद्योत किया है। अनेक राजाओं ने, अनेक देश नेताओं ने आप श्री के व्याख्यानों का लाभ लिया है। मैसूर नरेश और मैसूर के उस समय के प्रधान-मंत्री (दीवान सर मिरजा इस्माइल खाँ) ने आपके प्रति अति भक्ति प्रदर्शित की थी। इसी तरह काठियावाड़ के नरेशों ने—भावनगर, जसदण, लाठी, लख्तर, पालीतणा आदि के राजाओं ने मुनिश्री के व्याख्यान श्रवण किये और जीवदया के पट्टे लिखकर भेंट किए।

मालवकेशरी जी के संस्मरण

श्री सुगनमल जी भंडारी

—अध्यक्ष, वर्ध०-स्था०-जैन श्रावक संघ, इन्दौर

विनय परायण :

"सन्त समागम के क्षण ही जीवन के सार्थक क्षण हैं" इस कथन को मैं अन्तकरण से समर्थन देता हूँ, क्योंकि इसी समागम के द्वारा भौतिकता और आध्यात्मिकता का ज्ञान होता है, सुषुप्त अवस्था मिट कर जागृति आती है, और अन्तरद्वंद्व की भी समाप्ति हो जाती है। इसलिए संत-समागम के प्रति मैं सदैव ही श्रद्धावान रहा हूँ।

गुरुजन, ख्यातिप्राप्त इन्दौर नगर में प्रायः पधारते ही रहते हैं और मैं भी गुरुजनों के दर्शन का लाभ लेने को यथा समय पहुँचता रहा हूँ।

कुछ वर्षों के पूर्व भद्रमना, पंडित प्रवर श्री किशनलालजी महाराज अपनी रुग्णावस्था के कारण इन्दौर में स्थानापन्न विराजे थे, तब उनकी सेवा में स्वनामधन्य प्रसिद्ध वक्ता, मालवकेशरी श्री सौभाग्यमलजी महाराज भी विराजमान थे। जब-जब मैं आप श्री की सेवा में उपस्थित हुआ, तब-तब मैंने महाराज श्री को गुरु-सेवा में इतने गहरे रूप में लीन पाया, कि मेरी अन्तरात्मा विनीत शिष्य ही नहीं, अपितु सुविनीत शिष्य के रूप में पुकारती रही।

केवल आप गुरु के प्रति ही विनयवान रहे हों, यह बात नहीं है, अन्य संत-सतियों के प्रति भी आप विनम्र और विनयवान रहते थे, अतः मैं महाराज श्री को विनय-परायण के अतिरिक्त और क्या कुछ कहूँ?

तत्वज्ञ :

प्रखरवक्ता महाराज श्री की ज्ञानाराधना भी अनुपम है। जब भी किसी गूढतम विषय पर चर्चा होती, तो उस चर्चा में शास्त्रीय हेतु-युक्तियां, उद्धरणों द्वारा वे विषय को इतना स्पष्ट कर देते, कि मन की सारी गुत्थियां सुलझ जाती, और शंकाच्छन्न-दशा निरावरण हो जाती।

समय-समय पर होने वाली तात्विक चर्चाओं के कारण ही मैं यह समझ पाया हूं, कि मालवकेशरी जी महाराज जैन शासन में प्रकाण्ड आगमज्ञ एवं तत्वज्ञ हैं।

संघहितैषी :

मालवकेशरी जी महाराज श्रमण-संघ को सुगठित रूप में देखने को बड़े ही उत्सुक दिखाई देते हैं। आप श्री ने अनेकों बार घोषणा की है, कि व्यक्ति की अपेक्षा संघ का ही अधिक महत्व है, और इस घोषणा के अनुरूप ही आपने संघैक्य के लिए अथक परिश्रम किया, और कर रहे हैं।

है, तथा अपने कथनीय विषयों से श्रोताओं को आकर्षित करने का काम भी शब्दों के माध्यम से ही तो होता है। यदि वक्ता के पास शब्द भंडार नहीं हो, तो बोलते समय वह स्वयं ही लड़खड़ा जाएगा और श्रोता निश्चित रूप से थक जायँगे।

मालवकेशरी जी महाराज तो मानो शब्द भंडार के अद्वितीय धनी हैं। तभी तो मधुर व्याख्यान के साथ ही साथ आप प्रखर वक्ता भी हैं। जिस विषय पर आप बोलना प्रारम्भ करते हैं, उस विषय को शब्द रचना से इतना सरस बना देते हैं, कि श्रोताओं का मन सभास्थल से उठने का ही नहीं होता, तथा दूसरे दिन और सुनने की उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है। घंटों भर एक ही विषय को व्यवस्थित बनाये रखने में महाराज श्री को प्राकृतिक देन उपलब्ध है।

इन्दौर में और बाहर भी मैंने देखा है, कि मेरी ही तरह हजारों-हजार मानव व्याख्यान में उपस्थित होकर महाराज श्री की अमृत-वाणी का पान करते रहे हैं। सचमुच आप प्रसिद्ध-वक्ता के रूप में वाणी के वागीश्वर ही हैं।

अनिश्चित समय के कारण ही मैं यह देख पाया, कि मालवकेशरीजी महाराज गुरुदेव श्री की सेवा कितने उल्लास एवं तन्मयता से करते रहे।

जब-जब देखा, तब-तब गुरु महाराज की सेवा में दत्त चित्त से लीन हैं। कभी अपने हाथ से आहार करा रहे हैं, तो कभी शय्या को बिछा रहे हैं, कभी अंग शुद्धि की जा रही है, तो कभी इन्जेक्शन लगाया जा रहा है, कभी उच्चार प्रस्रवण परठते हुए, तो कभी शरीर का चंपन करते हुए, कभी औषधि की गवेषणा में, तो कभी पथ्य आहार की गवेषणा में लीन। यों भी कहा जा सकता है, कि शिष्य की सारी दिनचर्या ही गुरु सेवामय बन गई थी। अपने गुरुदेव को आप भगवन् या ईश्वर के संबोधन से पुकारते थे और अपनी बैठक भी गुरुदेव के समीप में ही रखते थे। जो भी सेवा की आवश्यकता होती तत्काल पूर्ण कर दी जाती। बुलाने का और व्यवधान का काम ही नहीं रहता। मालवकेशरी जी महाराज की गरुभक्ति केवल गुरुदेव के शरीर के प्रति ही रही हो, यह बात नहीं, किन्तु उनकी आत्मा के प्रति भी आपकी स्नेहसिक्त भक्ति रही।

अशक्तावस्था में गुरुदेव को दोनों समय प्रतिक्रमण सुनाना, समय-समय पर स्वाध्याय, स्तोत्र, छन्द, सुनाकर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करते रहे। जब शारीरिक लक्षणों का परिवर्तन देखा तो स्थानीय श्री संघ के प्रमुख सदस्यों के समक्ष शुद्धावस्था में हो निश्छल आत्म-आलोचना करवा कर समाधि मरण में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। स्वर्गस्थ होने पर गुरु विरह की वेदना ने तो यहाँ तक सोचने को बाध्य किया, कि मानो गौतम शिष्य से महावीर का ही विरह हो गया है। दिवंगत महापुरुष की शवयात्रा की ऐसी छटा रही, कि आज दिन तक वह छटा मेरे मन मस्तिष्क

शीघ्र ही मुझे दर्शन देने हेतु घर पधारे एवं अपने श्री मुख से मुझे शान्ति प्रद स्वाध्याय सुनाई तो तत्काल ही मुझे शारीरिक शांति का अनुभव होने लगा और शीघ्र ही मेरी सुखद स्थिति वन गई।

एक वार मेरी धर्मपत्नी का स्वास्थ्य अस्वस्थ हो गया तव भी आप घर पधारे और उन्हें ईश स्तुती सुनाई तो उनका रोग भी शान्त हो गया।

इसी प्रकार श्री माणकलाल जी भटेवरा की धर्मपत्नी का स्वास्थ्य भी खतरनाक वन गया तो आप श्री ने उनको भी मांगलिक-स्तव सुनाया, जिससे उन्हें भी शान्ति हो गई।

एकदा आप श्री का ही ऐक्सरा करवाने के लिए मैं आप श्री के साथ-साथ यशवन्त रोड़ पर चल रहा था तव अचानक ही पीछे से मेरी ओर एक सांड झपट कर अपने सिंगों के वल से उछाल ही देने वाला था, कि महाराज श्री ने तत्काल मुझे अवलंवन दे दिया और मैं उस कल्पनातिरेक अनहोनी घटना से सुरक्षित वच गया।

ये प्रसंग मालवकेशरी जी महाराज के हृदय की करुणा एवं विघ्न विनाशक स्थिति का भान करा देते हैं।

निर्भय और निडर:

एकदा एक विषैला भुजंग फिरता २ स्थानक में आ पहुँचा तो उसे देख कर उपस्थित जनता एवं सन्तवृन्द भयभीत हो गये। आपने सधैर्य स्वयं एक वस्त्र से उसे पकड़ लिया और जंगल में जा निर्विघ्न छोड़ दिया यह है आपकी निर्भयावस्था।

यों तो महाराज श्री के छोटे वड़े अनेक संस्मरण है; किन्तु समय की सुविधा से इतने ही लिख पाया हूँ।

अनेक गुण संपन्न श्री जी के चरणों में सविनय, सश्रद्धा मेरा कोटि-कोटि वन्दन है।

*

सफलता न मिली तो उन्होंने ओढी हुई चादर को निकाल कर झटकी। चादर झटकते ही एक भयंकर विषधर विच्छु हमारी आँखों के सामने आ गिरा। इस लगभग चार इंच लम्बे-चौड़े विच्छु को देख सभी के मन में भय व्याप्त हो गया। कई भक्तों में से देख सकने का साहस भी न था। और कई श्रद्धालुओं के मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे।

उतने में ही करुणानिधि की करुणा उस मूक प्राणी के प्रति फूट पड़ी और उनने उसे बड़ी सावधानी से उठाकर स्थानक के पीछे वाड़े में जाकर छोड़ दिया। गुरुदेव को विषधर उठाकर छोड़ आते देख हमने उनसे यह कार्य स्वयं सम्पादित करने का कारण पूछा। तो मन्द-मन्द मुस्कराते हुए संत शिरोमणी बोले—

"अरे पुण्यवानो! देखो आप लोग इसे किसी साधन द्वारा पकड़ कर एक तरफ ले जाते तो हो सकता था, उसके हाथ-पाँव टूट जाते, और उसे महान् यातना होती। मैंने तो उसे इतनी आसानी से उठाया फिर भी वह हम लोगों से भयभीत था। अब उसे भी शांति मिली।"

यह दिव्य सदेश सुनते ही हमारे सब के मुंह से एक साथ निकल पड़ा, कि धन्य है महावीर स्वामी का संदेश—"जिओ और जीने दो।" और उसका मन, वचन और कर्म में पालन करने वाले संत शिरोमणी श्री सौभाग्यमलजी महाराज।

ऐसी ही एक और रोमांचित कर देने वाली घटना महाराज श्री के जीवन की मुझे याद आती है, कि एक समय डूंगर प्रान्त में विहार के समय आपके पैर में एक बड़ा भारी भयंकर भुजंग लिपट गया था। पैरों में भुजंग की लपेट अनुभव होते ही भव्य आत्मा तुरन्त चिन्तन में लीन हो गये कि वे न तो तिलभर हिले और न उनके श्री मुख पर किसी प्रकार का क्रोध या भय का भाव दृष्टिगोचर हो पाया।

कुछ ही क्षणों बाद विषधर मानो संत शिरोमणी से "जियो और जीने दो" का दिव्य संदेश पाकर नत मस्तक होकर अपनी काया को कृतार्थ करके चला गया।

अध्यात्म-साधना के अनेक साधकों एवं उनकी जीवन गाथाओं से आज भी कई साधकों को प्राणवान संदेश प्राप्त होते हैं। उन्हीं साधकों की देदीप्यमान परम्पराओं में संतशिरोमणी सोभाग्यमलजी महाराज भी विभूषित हो रहे हैं। इस युग के अनेक मानव योनि पाने वाले सामाजिक व्यक्ति आपके सानिध्य और सहचारा से अपने जीवन को सफल बना चुके हैं। आपकी ही साधना के दिव्य और तेज से अनेक साधकों ने अपना आप कल्याण प्राप्त किया है।

पूज्य गुरुदेव : मेरे अनुभव

—शिरोमणीचन्द्र जैन

प्रातः स्मरणीय, धर्म-धुरन्धर, प्रसिद्ध वक्ता, मालवकेसरी, महाराष्ट्र विभूषण, पंडित रत्न श्री सौभाग्यमलजी महाराज साहब से मेरा परिचय करीब सन् १६३१ से है। मैंने उनके दर्शन पहली बार उज्जैन में किए थे।

इसके पश्चात् मुझे बराबर गुरुदेव के दर्शन रतलाम, इन्दौर, बम्बई व जगह-जगह स्थानों पर करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा, और उनके पीयूषवर्षी वचनों का सुधारस पान करने का भी।

सबसे अधिक लाभ तो मुझे तब मिला, जब गुरुदेव इन्दौर में वर्षों तक पूज्यवर प्रातः स्मरणीय गुरुदेव स्व० मन्त्री मुनि श्री किशनलाल जी महाराज के अस्वस्थ होने के कारण उनकी सेवा में इन्दौर विराजे तब उनकी कृपा से मैं अधिक नजदीक आ सका, और उसका लाभ उठा सका।

मैं अपने नियम व सुविधानुसार प्रत्येक रविवार को दोपहर बाद दर्शनार्थ राजमोहल्ले स्थानक में जाता था, और गुरुदेव के दर्शन करता था। वहाँ जाकर वन्दना करके सामने बैठ जाता। महाराज श्री की मेरे पहिले आए हुए व बैठे हुए सज्जनों से धार्मिक व गूढ़ चर्चाएं होती रहती थी, मैं उसको बड़े ध्यान पूर्वक सुनता, और उसे नोट कर लेता, और यह विचार करता, कि इस पर अपने को अमल करना चाहिए।

यह मेरा प्रत्येक रविवार का कार्य क्रम वर्षों तक चलता रहा। कभी इन्दौर के एक सज्जन श्री मोदीजी, मर्म के जटिल प्रश्न पूछते थे—मैं उनका उत्तर ध्यान पूर्वक सुनता और आनन्दानुभव करता, और अपने को धन्य समझता।

जब कभी मेरी महाराज श्री से चर्चा होती तो उसका केवल एक ही विषय प्रारम्भ से रहता था, आत्म कल्याण का। महाराज श्री द्वारा बतलाए मार्ग को समझ कर में सच्चा आनन्द अनुभव करता हूँ।

वैसे तो मैं महाराज के सम्पर्क में जैसा कि ऊपर लिखा है सन् १९३१ में आया तभी से अत्यन्त प्रभावित हूँ, किन्तु इन्दौर में रहने के कारण व प्रत्येक रविवार को एक घण्टे या दो घण्टे का सत्संग होने से मैं प्रभावित ही नहीं बल्कि लाभान्वित भी हुआ व जो प्रभाव पड़ा वह सदा अमिट रहेगा।

सन्त महात्माओं के पास उनके श्रावक (भक्त) गण जाते हैं, उनसे बातचीत करते हैं, विविध विषय पर चर्चाएँ होती हैं, किन्तु गुरुदेव के पास जो विशेष बात मैंने देखी व मेरे अनुभव में आई वह यह है, कि इनकी सेवा में बैठने के बाद उठने की इच्छा ही नहीं होती है। वे बरबस आत्मा को खींचलेते हैं, और उस पर अपना असर छोड़ देते हैं। और जितना समय वहाँ व्यतीत होता है, आत्मा में हर्षोल्लास होने के अलावा यह मालूम होने लगता है, कि महाराज श्री के प्रभाव से हमारी अन्तरात्मा ऊँची उठ रही और अपना अपूर्व लाभ हो रहा है। जो यह सुना व कहा जाता है, कि चलो महात्मा के दर्शन करने चलो, सो उसका प्रत्यक्ष मुझे यह अनुभव गुरुदेव के दर्शन करने जब कभी गया—हमेशा ही हुआ कि गुरुदेव के तप, संयम व तेज से मेरी आत्मा दुर्गुणों से हटती हुई व निर्मल गुणों की

और आकृष्ट होती गई। यह शरीर के भीतर का होने वाला अद्भुत कार्य क्रम—मैंने और जगह नहीं पाया। केवल गुरुदेव की शरणागत वत्सलता में ही पाया।

आत्म-कल्याण मार्ग के पथिकों से मेरा निवेदन है कि वे स्वयं मेरे अनुभव का लाभ लेकर गुरुदेव की शरण में बैठकर देखें, कि वहाँ बैठे रहने के समय किस प्रकार बुरे भाव शरीर व मन से निकल जाते हैं, और अच्छे-अच्छे भावों का, विचारों का आगमन होने लगता है, और आत्मा को क्या-क्या अनुभव और कैसा होता है!

९/१ न्यू पलासिया
इन्दौर— (म० प्र०)

और आकृष्ट होती गई। यह शरीर के भीतर का होने का
कार्य क्रम—मैंने और जगह नहीं पाया। केवल गुरुदेव की
वत्सलता में ही पाया।

आत्म-कल्याण मार्ग के पथिकों से मेरा निवेदन है
मेरे अनुभव का लाभ लेकर गुरुदेव की शरण में बै
वहाँ बैठे रहने के समय किस प्रकार बुरे भाव शरीर
जाते हैं, और अच्छे-अच्छे भावों का, विचारों का आग
है, और आत्मा को क्या-क्या अनुभव और कैसा होता

६/१ न्यू पलासिया
इन्दौर— (म० प्र०)

जहाँ जहाँ पर आप श्री का सम्पर्क आया, वहाँ की जैन, जैनेतर जनता का प्रेम आकर्षित कर लेने की अद्भुतशक्ति एवं कला की अनुभूति होती है, जो आप श्री के शांति का, आत्मवल का प्रभाव है। यही आपके जीवन की विशेषता है। आप श्री के रोम-रोम में श्रमण संघ के संघटन कार्य की लगन विशेष रूप से होने से आत्म शक्ति द्वारा आप श्री को साध्य होकर रहेगी, मेरा ऐसा विश्वास है। इस प्रकार पुरुषार्थ करने वाले संत महात्मा का जीवन तथा सद्विचार आदर्श-मय होते हैं। आप श्री का आदर्श जीवन, सद्विचार अपनी प्रभावी कलम द्वारा प्रकाशित करने का परम श्रेष्ठ कार्य परिश्रमपूर्वक करने वाले सद्विचारक, त्यागी, पंडित, शास्त्री श्री विजय मुनिजी को हार्दिक शतश: धन्यवाद ! और गुरुवर्य श्री मालवकेसरीजी को कोटि कोटि प्रणाम है। ऐसे आदर्श संत महात्मा को श्री वीर प्रभु दीर्घायु करे, संघटन कार्य में शक्ति, युक्ति, वुद्धि, प्रदान करे। अन्त में हमारा चतुर्विध संघ ऐसे संत महात्मा के जीवन और अमृततुल्य सद्विचारों का प्रेम के साथ गौरव करेगा ऐसी हार्दिक मनोकामना व्यक्त करता हूं।

नासिक सिटी
३, सितम्बर १९६९
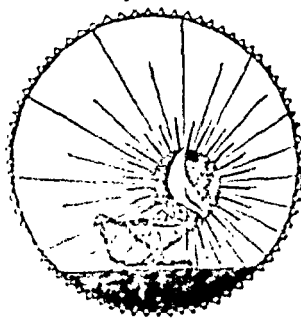
मालवकेसरीजी : एक प्रसंग

— बद्रीलाल जैन, एडवोकेट

जैन जगत में तथा विशेष करके स्थानकवासी जैन समाज प्रसिद्ध वक्ता मालवकेसरी श्री सौभाग्यमलजी महाराज से भलीभाँति परिचित हैं। उन्होंने अपने आदरणीय प्रवर्तक श्री ताराचन्दजी महाराज तथा गुरु श्री किशनलाल जी महाराज के साथ देश के कई प्रान्तों में परिभ्रमण किया। वे जहाँ कहीं भी विराजे, चाहे गांव हो या शहर, वहाँ के संघ के दिल में अपनी अमिट छाप छोड़ कर रहे और आज भी लोगों के दिलों में उनकी स्मृति हैं। उनका जीवन सादा, प्रेममय तथा हितकारी है। वे जहाँ कहीं भी पधारे वहाँ संगठन का कार्य किया। वे संगठनप्रिय हैं और संगठन के लिये उन्होंने अनवरत परिश्रम किया है। सादड़ी सम्मेलन, सोजत सम्मेलन तथा भीनासर सम्मेलन इस बात के द्योतक हैं, कि उनके परिश्रम का फल संगठन रूप में फलित हुआ है। बम्बई से सादड़ी तथा पुनः बम्बई और बम्बई से पुनः सोजत इस प्रकार परिभ्रमण किया, कि मानो साधारण बात हो, यह सब गुरुतर कार्य इस लिये किया गया कि संगठन सुदृढ़ हो। सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले सभी सन्त यह जानते हैं, कि यदि कहीं प्रस्ताव पर परस्पर सन्तों में असहमति होती और जो सहमत न होते थे, उनको मनाकर तैयार कर लेना मालवकेसरीजी का ही कार्य था।

मैं आपके सामने उनके जीवन की एक घटना रखना चाहता हूँ। गत अजमेर सम्मेलन जो सन् १९६८ में हुआ, उसके सम्बन्ध में अनेक

प्रमुख सन्तों के पास सम्मेलन की योजनाएँ भेजी गई। कई सन्तों ने योजनाओं के प्रति उपेक्षा की और कुछ सन्तों ने परम श्रद्धेय आचार्य श्री आनन्दऋषिजी महाराज के पास अपने विचार योजनाओं के संबंध में भेजे। सम्मेलन के पूर्व मालवकेशरीजी का चातुर्मास खाचरोद (मध्य प्रदेश) में था। संघ का सेक्रेटरी होने के नाते पत्र व्यवहार का कार्य भी मेरे जिम्मे था। मुझे याद है, कि प्रायः सभी प्रमुख सन्तों को अजमेर में होने वाले सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए पत्र व्यवहार किया गया, आग्रह किया गया और अनेक प्रकार के प्रश्नों का समुचित उत्तर देकर समाधान किया गया।

श्री. स्था. जैन कान्फरेन्स की जनरल मिटिंग में जो परमश्रद्धेय आचार्य श्री जी के सानिध्य में शाजापुर में हुई थी, अजमेर में अधिकारी मुनियों का सम्मेलन लेने का तय किया गया। इसके लिये प्रमुख २ सन्तों की सेवा में डेपुटेशन लेकर जाना था। सर्वप्रथम डेपुटेशन लेकर में पं० प्रवर कविवर उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ। आचार्य श्री जी द्वारा निर्धारित योजना पर विचार-विनिमय हुआ और उपाध्याय श्रीजी ने फरमाया कि पंजाब के सन्तों का सम्मिलित होना नितान्त आवश्यक है, तभी सम्मेलन में कुछ निर्णय लिया जा सकेगा। उपाध्यायजी के विचार आचार्यश्रीजी की सेवा में निवेदित कर दिए। आचार्यश्रीजी ने फरमाया कि अजमेर सम्मेलन में मालवकेसरीजी का सम्मिलित होना आवश्यक है। आचार्य श्रीजी की सेवा में मालवकेशरीजी के स्वास्थ्य ठीक न रहने का भी निवेदन किया गया, किन्तु उनको तो मालवकेशरीजी को साथ ले जाना यथेष्ट था। अतः आचार्यश्रीजी का प्रथम कार्यक्रम मालव क्षेत्र में परिभ्रमण करते हुए अजमेर पहुँचने का बनाया गया। शाजापुर के पश्चात् आचार्यश्रीजी का स्वागत

उज्जैन, नागदा व खाचरोद में हुआ, जो दर्शनीय था। नागदा से ही मालवकेसरीजी को साथ में आचार्य श्री जी ने ले लिया। रलताम पहुंचने पर जो स्वागत हुआ वह अभूतपूर्व था। स्थानीय वृद्ध लोगों का ऐसा कथन था, कि ऐसा स्वागत जैन मुनि का रतलाम के लिए अभूतपूर्व था। बाद में सैलाना, जावरा तथा मन्दसौर पहुँचे। मंदसौर पहुँचने पर थकावट के कारण तथा स्वास्थ्य की खराबी के कारण मालवकेसरीजी का स्वास्थ्य एकदम खराब हो गया। तुरन्त डाक्टर को बुलवाया गया। डाक्टर ने रक्तचाप तथा हार्ट का दौरा बताया और यह कहा, कि करीब एक माह तक पूर्ण विश्राम करना चाहिए तथा विस्तर पर ही लेटे रहना चाहिए और किसी भी प्रकार का परिश्रम न करने दिया जाए, अन्यथा कभी भी कोई घटना हो सकती हैं। आचार्य श्री जी ने कहा कि मालवकेसरीजी को अजमेर तक जाना आवश्यक है, किन्तु डाक्टर ने तो कतई मना कर दिया। आचार्यश्रीजी भी असमंजस में पड़ गए कि अब क्या किया जाए। २-३ दिन के उपचार के पश्चात् मालवकेसरीजी ने आचार्य श्री जी की चिन्ता को ध्यान में रखते हुए अजमेर सम्मेलन के लिए आचार्यश्री जी के साथ विहार कर दिया और अपने आत्मबल से अजमेर सम्मेलन में सम्मिलित हुए। संगठन कार्य हेतु अपने प्राणों की परवाह न करते हुए विहार कर दिया और कहा कि जैन मुनि को अपनी साधना का ध्यान रखना चाहिए। यदि आयुष्य क्षीण हो गया तो वह कहीं भी हो सकता है, कि तब विस्तर में पड़े-पड़े समय व्यतीत करना उचित नहीं है।

इस घटना से आप सोच सकते हैं कि उनका बल कितना बड़ा है। वे जिस कार्य को हाथ में लेते हैं पूरा करने का भरसक प्रयास करते हैं, और जैसे-तैसे उसको पूरा कर देते हैं। उनका जीवन समाज के लिए अमूल्य निधि है। वे मधुर भाषी हैं। उनकी वाणी में जादू है,
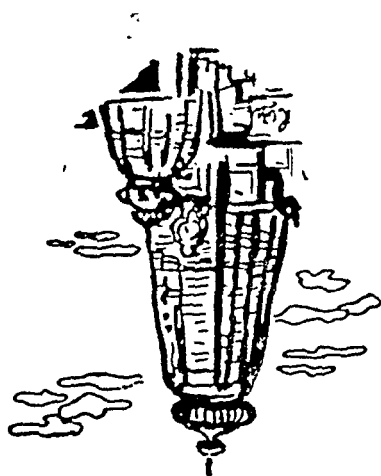
कितना ही क्रोधावेश में व्यक्ति उनके पास जाता है तो प्रथमवाणी में ही उसका क्रोध ठण्डा पड़ जाता है। सौम्यता उनके चेहरे पर प्रकट होती है। यद्यपि वे महान् सन्त हैं, किन्तु उनका प्रेममय व्यवहार सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। भूतपूर्व सम्प्रदायों के कई सन्तों ने उनके व्यवहार के गुणगान किए हैं। देश के महान नेताओं से भी उनका विचार विनिमय हुआ है। इस प्रकार इनका जीवन कई विशेषताओं को लिए हुए आपके सम्मुख केवल एक संस्मरण ही प्रस्तुत किया है। वैसे उनके जीवन की कई विशेष घटनाएँ हैं, जो अनुकरणीय हैं।

सेवानिष्ठ : मालवकेसरी जी

—मानकलाल रांका

मालवकेसरी महाराष्ट्र विभूषण प्रसिद्ध वक्ता पूज्य गुरुदेव श्री सौभाग्यमलजी म० में सेवा एवं वाणी का ऐसा जादू है कि जिससे श्रमण वर्ग एवम् श्रावक वर्ग मोहित हो जाते हैं, इसका उदाहरण संघ के समक्ष है। आपका स्वास्थ्य नरम होते हुए भी आपने उग्र विहार करके राजस्थान की भूमि में पधार कर सम्मेलन सफलता हेतु आपने अपनी सेवा एवं वाणी द्वारा सफलता प्राप्त की। मालव के प्रसिद्ध नगर इन्दौर में जो सेवा गुरुदेव श्री किशनलालजी म० की की है, वह बहुत ही प्रशंसनीय हैं, इसलिए आपकी सेवा एवं वाणी में जो जादू है, वह बहुत ही सहरानीय है।

नयापुरा
उज्जैन (म० प्र०)
दिनांक ८, सितम्बर १९६९

श्रद्धा-सुमन

—कमला जैन, इन्दौर

मैं यहाँ घाटकोपर ४-१०-६६ को परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ पहुँची। पूज्य गुरुदेव मालवकेसरी, प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्य मलजी म० के सुखद दर्शनों का लाभ लिया। उस समय यह ज्ञात हुआ, कि मुनि श्री समदर्शीजी द्वारा लिखित 'जीवन और विचार' पुस्तक भव्य जनों के हितार्थ प्रकाशित होने जा रही है। कुछ पृष्ठों का अव-लोकन करने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। मेरी अन्तर प्रेरणा की आवाज हुई कि ऐसे अमूल्य समय का लाभ उठा लूँ और पूज्य गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा-सुमन की पंखुड़ियें विखेर दूँ। लेकिन तत्काल विचार आया कि इस महान् विभूति को अर्पण करने के लिए तेरे पास शब्द निधि कहाँ ? सामर्थ्य कहाँ ? फिर भी भक्ति का प्रवाह वन्द नहीं रहा, कलम चल पड़ी अन्तर के उद्गारों को साकार रूप देने के लिए।

पूज्य गुरुदेव का वाल-क्रीड़ा से लेकर अभी तक का जीवन अंकित हो चुका है, जोकि कुछ ही समय में हम सभी के सामने आ रहा है।

वाल्यकाल :

आप श्री की वाल क्रीड़ाएँ बड़ी रोचक एवं मन को आकर्षित करने वाली रही हैं। कितना साहस था, अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने का इस महान् आत्मा में। कहा भी है कि—

"होनहार विरवान के होत चिकने पात"

दीक्षा :

इसके वाद "**पुण्यवान के पग-पग निधान**" वाली उक्ति के अनुसार आचार्य प्रवर पूज्य श्री नन्दलालजी म० के कृपा-पात्र आप वन गए और महान् भद्रिक आत्मा ! प्रसन्नमुद्रा श्री किसनलालजी म० के शिष्यत्व को प्राप्त करने का सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ। उनकी छत्र-छाया में रहकर आपने अपने आपको कुन्दन वना लिया।

गुरु-भक्ति :

आपके जीवन में गुरुभक्ति कूट-कूट कर भरी है ! छोटा से छोटा कार्य भी स्वयं आपको करते हुए मैंने देखा है। कभी-कभी मैं कह उठती थी; कि गुरुदेव ! यह कार्य तो और भी कोई कर सकता है। तव मधुर मुस्कान भरी हुई मुख-मुद्रा से प्रत्युत्तर प्राप्त होता, कि जो आनन्द स्वयं सेवा कार्य करते हुए होता है, वह अन्य द्वारा करवाने में नहीं। कितनी उच्चकोटि की गुरुभक्ति थी।

जन-जन के प्रिय :

मेरे दोनों पक्ष के परिवार पूज्य गुरुदेव के अन्योन्य भक्त हैं। इसी कारण पूज्य गुरुदेव के निकट आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। गुरुदेव श्री किशनलालजी म० की अवस्था के कारण ग्राप श्री इन्दौर नगर में विराजित रहे, कुछ काल तक जनता को सेवा का व निकट में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। क्या वाल, वृद्ध या युवा सभी के हृदय मन्दिर में आप श्री का निवास है। आपकी लोकप्रियता किसी से छिपी हुई नहीं है। कभी २ मैं कह देती हूँ कि गुरुदेव ! कुछ समय आराम की कृपा किया करें, आप श्री फरमाते कि दर्शनार्थियों का प्रवाह चालू रहता है। मैं कह उठती "**गुड़ की भेलियों पर मक्खियें भिन्नभिन्नाती रहती है**" मन्द मुस्कान द्वारा उसका प्रत्युत्तर प्राप्त हो जाता।

मानव क्या विषधर प्राणी भी प्रभावित :

एक वार गुरुदेव को विहार करते हुए, एक विशाल-काय श्याम वर्ण का भुजङ्ग ने आप श्री के चरणों में आंटे डालकर और फिर सीधा खड़ा होकर गुरुदेव के मुख-मण्डल पर अपना फन फैला दिया। ये साहसी साधक! घवराये नहीं! वहुत ही धैर्यता के साथ उस विष-धर को हाथ से इशारा किया कि तू चला जा। वह तिर्यञ्च प्राणी भी पूज्य श्री की प्रतिभा से प्रभावित होकर दर्शन-पान कर आज्ञा को स्वीकार करता हुआ जिधर से आया था, उस ओर शान्त भाव से लौट गया। यह है आपकी आत्म दृढ़ता और आत्म-साधना का प्रभाव।

समाज सेवा :

जव-जव श्रमण संघ की आवाज उठी, तव-तव आपने अथक परिश्रम कर उसे सार्थक वनाने में अपनी मानसिक-शारीरिक-वाचिक तीनों शक्तियाँ लगा दी, इस वीच की सादड़ी सम्मेलन की घटना जव हमें याद आती है तो हम प्रश्न करने लगते हैं कि आपने यह महान् शक्ति कहाँ से प्राप्त की? आपका प्रत्युत्तर होता कि गुरुदेव की सेवा से ही यह शक्ति मिली है। वम्वई से सादड़ी, सादड़ी से वम्वई करीवन ३ माह के अवकाश में १६०० माइल की मंजिल तय कर श्रमण संघ की सेवा एवं गुरुसेवा कार्य को निभाने में पूर्णतः सफलता प्राप्त की और जन मानस को आश्चर्य चकित कर गुरु सेवा का साक्षात् उदाहरण सम्मुख रक्खा।

आप श्री के विषय में जितना भी लिखा जाए कम है। टूटे-फूटे शब्दों में—चन्द पंक्तियों द्वारा अपने हृदय सुमनों को अर्पित कर रहा हूं, आशा है उदार मन, इन्हें स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करने की कृपा करेंगे।

अन्त में :

आप श्री के जीवन और विचार जन-जन के हृदय में निवास कर भव्य जीवों के कल्याण मार्ग में सहयोगी बनेगें। आपकी यह जीवन गाथा युग-युग तक प्रकाश स्तंभ के रूप में जन-जन के मन को आलोकित करती रहेगी, और भव्य प्राणियों का मार्ग प्रदर्शन करती रहेगी।

पण्डित रत्न मुनि श्रीसमदर्शीजी ने यह अथक परिश्रम कर पूज्य गुरुदेव को जन-जन के हृदयों तक पहुँचाने का जो प्रयास किया है, उसके लिये हम सभी आप श्री के अत्यन्त आभारी हैं।

जैन-स्थानक
घाटकोपर (बम्बई)
६, अक्टूबर १९६९
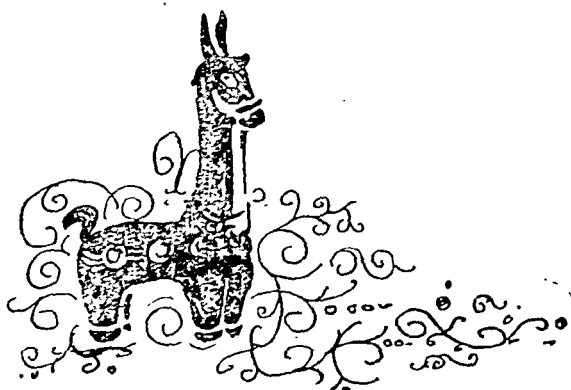
चमत्कारीपुरुष : मालवकेशरी जी

—धनराज लोढा

परम श्रद्धेय मालव-केशरी सौभाग्यमल जी महाराज एक महान् सन्त और चमत्कारी महापुरुष हैं। उनकी तप-जप साधना इतनी तेजस्वी है, कि उनकी सेवा में आने वाला व्यक्ति सब चिन्ताओं एवं परेशानियों से मुक्त हो जाता है। मैं अपने परिवार के साथ घटित घटना को एवं महाराज श्री के असीम उपकार को भी भूल नहीं सकता। वह प्रसंग इस प्रकार है—

मेरी पत्नी कई वर्षों से बोलती नहीं थी, और देख भी नहीं सकती थी। वर्षों से उसकी जबान एवं आँखे बन्द थी। बड़े से बड़े डाक्टर एवं वैद्यों के पास उपचार कराने पर भी लाभ नहीं हुआ। इससे सन् ६८ में मेरे मन में विचार आया, कि हमें ब्रह्मचर्य व्रत ले लेना चाहिए। तभी ज्ञात हुआ, कि नाशिक में मालव-केशरी जी महाराज का चातुर्मास है। अतः हम अपने विचार को साकार रूप देने नासिक आए, दो-तीन दिन सेवा करते रहे और सारी परिस्थिति महाराज श्री के सामने रख दी तथा ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया। वहाँ से हम अपने सम्बन्धियों के यहाँ मनमाड आए। वहाँ रात को अचानक मेरी पत्नी उठी और कहने लगी, कि मुझे तो कुछ दिखाई नहीं देता, परन्तु यहाँ सौभाग्यमल जी म० सब सन्तों के साथ है, अतः दर्शन कर लो। वर्षो के बाद यह पहली बार उनके मुख से शब्दों का उच्चारण सुनकर हमको आश्चर्य हुआ। मैंने उन्हें मांगलिक सुनाई। फिर हम वहाँ से अपने गाँव लासूर आए। वहाँ आने के बाद उनकी दृष्टि भी खुल गई, और वहाँ सब कुछ देखने लगी। श्रद्धेय मालवकेशरी जी की कृपा से मेरी पत्नी को पुनः जबान एवं दृष्टि दोनों ही मिल गए। ऐसे महान् प्रतिभासंपन्न महापुरुष को शत-शत वन्दन।

मेरे श्रद्धा-केन्द्र : पूज्य-गुरुदेव

—सौ० मंजुला वेन वोटादरा

कल्प-वृक्ष :

मैं आज अपने जीवन को धन्य एवं सफल समझ रही हूँ, कि ज्ञान, दर्शन, संयम और तप की साधना से शोभायमान श्रद्धेय पूज्य-गुरुदेव सौभाग्यमलजी महाराज के जीवन के सम्वन्ध में मुझे दो-शव्द लिखने का अवसर मिला है। परन्तु मेरे मन में यह प्रश्न तरंगित हो रहा है, कि इस महान् विभूति के लिए मैं क्या लिखूं ? मेरे पास ऐसा कोई शव्द नहीं, जिससे मैं लिखने में सफल वन सकूं। क्या कल्प-वृक्ष के लिए भी कुछ वताया जा सकता है ? एक कवि की कुछ पंक्तियाँ स्मृति में आ रही है—

"आकाश करूं कागज,
वनराई करूं लेखन ।
समुद्र करूं स्याही तो भी,
गुरु-गुण लिखे नहीं जाय ।"

संसार में मानव की पूजा-प्रतिष्ठा—शरीर के सौन्दर्य से नहीं, अलंकार और आभूषणों से नहीं, वैभव-विलास से नहीं और भौतिक सुख-साधनों से नहीं, परन्तु गुणों से होती है। पूज्य-गुरुदेव साक्षात् रूप से कल्प-वृक्ष के समान ऐसे ही गुणों के धारक हैं।

सेवा-निष्ठा :

पूज्यपाद महाराष्ट्र मंत्री स्व० किशनलाल जी महाराज अस्वस्थ होने के कारण पाँच वर्ष इन्दौर में स्थिरवास विराजे। उस समय मैं

पूज्य-गुरुदेव के दर्शनार्थ जाती थी। उस समय मैंने अपनी आँखों से देखा है, कि आप अपने गुरुदेव की सेवा में रात-दिन तन्मय रहते थे। केवल सेवा करते थे, इतना ही नहीं, प्रत्युत उनके मनोभावों को समझ कर उनके मनके अनुकूल कार्य करने का प्रयत्न करते थे। इसी अनुपम सेवा के फल-स्वरूप आपमें अनेक गुणों का अवतरण हुआ है। आपने सेवा का उच्च आदर्श स्थापित किया। ऐसे सेवा-निष्ठ गुरुदेव को धन्य है।

मेरे श्रद्धा-केन्द्र :

जब कभी मेरी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का खजाना कम होता है, हाथ-पैर कार्य करने में सक्षम नहीं रहते, डाक्टरों का उपचार और औषध भी काम नही करती, तब आपके दर्शन मन्त्र से मेरी अशक्ति, बैचेनी, आधि-व्याधि और उपाधि नष्ट हो जाती है। और मेरे जीवन में, शरीर में एवं मन में काम करने की अखूट शक्ति और सत्कार्य करने की नयी-नयी प्रेरणा उपलब्धि हो जाती है। पूज्य-गुरुदेव के पास ज्ञान और चरित्र का अखूट भण्डार भरा है। त्याग-तप का खजाना परिपूर्ण है, और अमृतमय वाणी का सरोवर लहर-लहर कर लहरा रहा है, छलक रहा है एवं क्षमा की तरंगे तरंगित हो रही हैं। ऐसे महान् कल्प-वृक्ष एवं चिन्तामणी-रत्न के पास जाने पर रोग-शोक कैसे रह सकते हैं। जब से मुझे आपके दर्शनों का सौभाग्य मिला, तब से मुझे सब तरह से सुख ही सुख मिला है। दुःख किसी चिड़िया का नाम है, यह मुझे पता ही नहीं रहा। आपसे मुझे तप एवं ज्ञान-साधना की प्रेरणा मिली है। आपके आशीर्वाद से मैंने तीन-तीन वर्ष के वर्षी-तप किए, जिस पर लोक कीर्ति-यश के पुष्प बरसाते हैं, परन्तु यह यश मेरा नहीं, पूज्य-गुरुदेव का ही है। गटर का पानी जब गंगा में मिल जाता है, तो वह भी पावन बन जाता है।

परोपकारी :

पूज्य-गुरुदेव महान् सन्त है। वे अपने लिए कुछ नहीं चाहते। सरितायें शीतल और मधुर पानी से परिपूर्ण होकर बहती है, परन्तु स्वयं एक बूंद पानी नहीं पीती। वृक्ष मधुर फलों से लदे रहते हैं, फिर भी वे कभी एक फल का भी आस्वादन नहीं करते। परन्तु उनको जो पत्थर मारता है, उसे भी वे मधुर फल देते हैं। अगरबत्ती स्वयं जल कर सारे वातावरण को शुद्ध और सुवासित करती है। गुलाब अपने सर्वस्व को अर्पण करके सबको सुगन्ध एवं ताजगी देता है। प्रकृति अपने लिए कुछ नहीं रखती है, जो-कुछ उसके पास है, वह सब दूसरों को उदार मन से दे देती है। उसी तरह पूज्य-गुरुदेव अपनी शारीरिक शक्ति एवं स्वास्थ्य की ओर नहीं देखते, परन्तु जितना हो सकता है, परोपकार करते रहते हैं। उनकी वाणी मधुरता से सनी हुई अमृत के तुल्य हैं। उनका हृदय समुद्र के समान विशाल, विराट् और व्यापक है। उनकी यश-कीर्ति शरद् पूर्णिमा के चन्द्र जैसी उज्वल-समुज्वल और निर्मल है। उनका प्रवचन सूर्य की रजत-रश्मियों की तरह अज्ञान अंधकार को नष्ट करने वाला है। आपके वाणी में इतना चमत्कार भरा हुआ है, कि सुनने वाले के कार्य को मंगलमय बना देती है। उसके सामने विश्व का वैभव भी तुच्छ नजर आता है। आपका जीवन आदि से अन्त तक अहिंसा, सत्य और प्रेम-रस की मधुरता से परिपूर्ण है। जैसे सूर्य उदय और अस्त के समय एक-सा रहता है, उसी तरह आप भी सुख-दुख में हर समय एक-से रहते हैं। जैसे सूर्य समुद्र के खारे पानी को पीकर मीठे, मधुर और अमृतमय जल की वर्षा करता है, उसी तरह आप आपत्ति-विपत्ति, निन्दा-बुराई की कटुता को मधुरता में परिणत करके अमृत ही अमृत देते हैं। आप सागर की

तरह गंभीर है और वह गंभीरता आपके चेहरे पर स्पष्ट झलक रही है। अंग्रेजी में एक कहावत है—

"The face is index of heart"

प्रतिभा-सम्पन्न :

जिस शहर, नगर में गुरुदेव विराजते हैं, वह नगर एवं वहाँ के निवासी धन्य हैं। क्योंकि उन्हें आपकी अमृतमय वाणी का लाभ मिलता है। आपकी वाणी एवं प्रतिभा के कारण आप जहां रहते हैं तप-त्याग की बाढ़-सी आ जाती है। मैं जब घाटकोपर दर्शन करने आई, तब देखा, कि बहन-भाईयों में तपस्या की प्रतिस्पर्धा हो रही है। अठ्टाई, नव, ग्यारह, पन्द्रह, सोलह, मास-खमण के ढेर के ढेर लग गए हैं। तेले, चोले, पंचोले एवं उपवास की संख्या तो इतनी अधिक थी, कि गणना करना ही कठिन था। सन्तों में भी तपस्वी-राज रत्नमुनिजी ने २८ उपवास किए और घोर तपस्वी श्री कमल मुनिजी ने ८१ उपवास किए। यह गुरुदेव की प्रतिभा का प्रताप है, कि घाटकोपर के प्रांगण में तपस्या की वर्षा बरस रही थी।

वास्तव में पूजा एवं उपासना गुणों की ही होती है। बगीचे में शो (Show) के लिए लगाए गए कितने ही मुन्दर फूलों के झाड़ क्यों न हो, परन्तु उनके मध्य में गुलाब के फूल का एक पौधा ही सम्पूर्ण बगीचे को अपनी मधुर महक से महका देता है। हजारों-हजार वृक्ष जो कार्य नहीं कर सकते, अकेला कल्प-वृक्ष सबकी सब इच्छाओं को परिपूर्ण कर देता है। घास के पहाड़ जैसे ऊंचे ढेर को समाप्त करने के लिए अग्नि की एक चिनगारी ही पर्याप्त है। अमृत की एक बूंद समस्त रोगों को शान्त-उपशान्त कर देती है। उसी तरह पूज्य-गुरुदेव की प्रतिभा से सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

आज से पांच वर्ष पूर्व सन् १९६८ में पूज्य गुरुदेव और प्रतापमल

जी महाराज का इन्दौर में महावीर भवन में वर्षावास था, और राजमोहल्ला में आचार्य श्री नानालालजी महाराज का। इन्दौर की जनता को विद्वान-सन्तों के मधुर प्रवचनों का एवं तपस्वियों के दर्शनों का लाभ मिल रहा था। कुछ व्यक्तियों को सन्देह था, कि दो चातुर्मासों के कारण वातावरण अशान्त न बन जाए। परन्तु पूज्य-गुरुदेव ने समतारस की मधुर वर्षा करके वातावरण को शान्त-प्रशान्त बनाए रखा। यह आपकी प्रतिभा का ही फल है, कि शान्त-वातावरण में ही सबका प्रवेश हुआ था, उसी शान्त वातावरण में विहार हुआ।

एक असमर्थता :

पूज्य-गुरुदेव इतने महान् हैं, फिर भी एक छोटा-सा वचन देने में असमर्थ हो रहे हैं। मैं चार वर्ष से इन्दौर पधारने की प्रार्थना कर रही हूं, परन्तु अभी तक स्वीकृति नहीं मिली। पूज्य-गुरुदेव एवं शास्त्री पण्डित रत्न विजय मुनिजी से मेरी विनम्र प्रार्थना है, कि मेरे पारणे के प्रसंग पर इन्दौर अवश्य पधारें। क्या मेरी छोटी-सी प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

मंगल-कामना :

अन्त में मैं यही प्रार्थना करती हूं, कि पूज्य-गुरुदेव स्वस्थ, सशक्त एवं दीर्घायु बने और जन-जन के मन में ज्ञान की, दर्शन की एवं चारित्र की ज्योति जलाते रहे।

१८ स्नेहलता गंज स्ट्रीट नं० ४
इन्दौर-सिटी
सितम्बर २०, १९६९

मालव केसरीति सत्तेजस्वि सद्यशस्विमनस्वि-विद्वत्वंशाव—
तंसानां सौभाग्यमहाराजानां स्वर्णजयन्त्युपलक्ष्ये—

पद्यपुष्पांजलिः

—श्री रमेशमुनिः

१

पञ्चचामर वृत्तम्

मुनिव्रतं समानितं मुनीशवंशभूषितम्
जिनेशमार्गशोभितं सुरञ्जितं सभासदः ।
विशुद्धधर्मधारकं निजात्मलोकतारकम्
विभूति शान्ति दायकं प्रणौमि तीर्थयोगिनम् ।।

भाषानुवाद—ऋषियों के व्रत को धारण करने वाले, सब मानवों को मान्य श्रेष्ठ मुनि के कुल को भूषणभूत, जिनेश के शास्त्र मार्ग से सुशोभित, जिनसे सभासदों को शोभा आती है ! निर्दोष धर्माचरण करने वाले मानवों का उद्धार करने वाले शान्ति प्रदान करने वाले महामुनि सौभाग्यमल जी म० को नमन करता हूँ !

२

शार्दूलविक्रीडितम्

भानोर्भानुविभावनानि सुखदं धामानि मन्दो न वा,
विद्यातेज विभावतो यमवतो व्योमागते वर्ततेऽ ।
जस्रं ज्ञान विभाविभासितो सितैः सार्धो गुणै र्भास्वरः,
सारासारविचारचार निपुणैः शीतांशुशीताकृतेः ।।

भाषानुवाद—सूर्य के किरणों का दैदीप्यमान तेज सुखकर होता है ! किन्तु मेघ आने पर तेज मन्द होता है । चन्द्रमा के समान शीतल एवं सौम्य संयमशाली सौभाग्यमल जी म० का प्रकाशित विद्या का तेज ज्ञान की शुभ्र प्रभा से विशेष प्रकाशित है । निर्मल गुणों से युक्त तथा तत्त्व अतत्त्व की चर्चा में पटु एवं निपुण हैं ।

★

युगपुरुष : मालवकेशरी जी !

—गणेश मुनि, शास्त्री,
साहित्य-रत्न

अहा !
कितनी सुन्दर है
यह आर्यभूमि !
जहाँ—
युग-युगान्त से
कोटि ! कोटि !!
तीर्थंकर
पैगम्बर
नररत्न
समाज रत्न
देश ओ राष्ट्ररत्न
जिन्होंने जन्म लेकर
अपने
अलौकिक व्यक्तित्व से
विशिष्ट कृतित्व से
दिव्य ज्ञान की ज्योति से
चारु चरित्र से
और तपः पूत वाणी से
जन-जन के
मन-मन के
अणु-अणु में
उदिप्त की
प्रज्ज्वलित की रोशनी-
अहिंसा की

सत्य की
संयम की
तप की
त्याग और वैराग्य की।
हो उठा आलोकित
तिमिराच्छादित
वसुधा का
कोना ! कोना !!
इतना ही नहीं
वरन्........
विश्वकल्याण का
अमर संदेश-फूंक कर
भ्रमित
त्रसित
दिग्विमूढ़ित
अज्ञान और अविवेक के
भीषण गर्त में
पड़े हुए
सिसकते हुए
जनसमूह को
उत्थापित कर
आरूढ़ किया
मानवता के-
सुखद सिंहासन पर।

और-
सच्चे-अर्थों में
जीवन जीने की कला
वतलाकर
सुझाई सही दिशा को !

●

इसी आर्य जगत का
एक क्रांत-शांतदर्शी
मुनि पुंगव-संत रत्न
उदित हुआ
सौभाग्य मल !
शत-शत
सहस्र-सहस्र
आशा औ उमंगो की
श्वेत
शुभ्र
धवल
रजत-सी किरणों को
विकीर्ण करता हुआ
मालव की
सुरम्य
मनोहर
शस्य-श्यामला
धन-धान्य पूरित
पुण्य-तीर्थ स्वरूपा
धरा के सुकुमाल अंक से !

●

प्राप्त कर इस दिव्य विभूति को
वन-उपवन को खिलाता
कलियों को कुसुम बनाता
कण-कण में रस बरसाता
भौंरो की प्यास जगाता
हुलसाया रवि प्राची में ।
सुनहला परिधान और-
हिम के चमकीले गहने
पहन कर, दिशाकुमारियों ने
रोली व कुंकुम बरसा कर
किया स्वागत ।
तभी—
कोकिला ने संगीत की
तान छेड़ कर
दिया योग-दान
रविराज के स्वागत में ।
हो उठा—
वसुधा का भी
अंग-अंग
रोम-रोम
पुलकित !
इठलाई नदियां
और सागर की लहरें भी ।
पशु व खग वृन्द भी
उत्फुल्ल हो
चित्र-विचित्र
निनादों से
कलरवों से
ध्वनियों से
और बोलियों से
प्रकट किया हर्ष ।
उथल-पुथल
चुल-बुली

चटपटी
रसीली-नशीली
वातायन में—
हो गया उल्लसित
सर्व जन मानस भी।

•

प्यारा-प्यारा
भोला-भाला
लाड़ भरे शिशुपन से
उन्मुक्त हुआ ही न था कि
आर्यावर्त के
महा मानव-
भगवान महावीर के
शासन पथ पर
चल पड़ा—
मुस्तैदी कदमों से
भिक्षु बनकर।
अटका न सका कोई भी
सृष्टि का प्रभा पूर्ण सौन्दर्य
उसके—
सुदृढ़-मन्तव्य, संकल्प के
सन्मुख
फीका था मात पिता का
वात्सल्य
निस्तेज था परिजन का
मधुर-स्नेह,
रोक न सकी
अहंकार की चट्टान
कर न सकी भयभीत
लोभ समुद्र की
गंभीर-गर्जना-तर्जना।
फसा न सका
माया का मोह-जाल भी
सभी—
विकल थे
विफल थे
इस मुक्ति दूत के
राही से!

•

संयम के कंटकाकीर्ण
मार्ग में
पथ में
गाल दिया कठोर जीवन।
आई, कई बाधाएं
औ अन्धड़ तूफान भी
पर, हिला-डुला न सके
उसे रंचमात्र भी,
उन्मूलन कर
'मनमथ' को
बना दिया श्रामण्य-जीवन
अत्यन्त
उज्ज्वल
समुज्ज्वल
अभिलषित
अतिरंजित।
और घोल दिया
वाणी-वीणा में
अमृत-सा माधुर्य,
वसंत की
अमराईयों में

कूजने वाली महारानी
कोकिला का
मधुर रस-स्नात स्वर !
बाल, वृद्ध और युवान
जो भी आता इनके संपर्क में
सभी का स्वीकारते
अभिवादन,
सत्कार और सम्मान से !
तब फूट पड़ता वाणी का
सरस-स्रोत,
दयापालो-देवानुप्रिय !
इन कमनीय-कोमल कांत
शब्दों में,
न जाने कौनसा जादू है ?
चुम्बक-सा आकर्षण-विकर्षण
सुनकर जिसे
हो जाता बस जीवन भर
उन्हीं का !

❀

संत-सम्मेलन की
सुनहरी घड़ियों में—
सादड़ी—नोजत
बम्बई औ नासिक की
सुरम्य-रंगस्थली में
देखा मैंने अत्यन्त–
निकटता से
सूक्ष्मता से
पर्यवेक्षणता से
इस कर्मठ महामना-संत को
हंसमुख—मजाकी स्वभाव

अलमस्त—प्रकृति
सभी के दिलों पर
छा जाता उसी प्रकार
ज्यों फूलों पर पिङ्ग-पराग ।
दुग्ध धवल वसनों में वेष्ठित
सुदृढ़, लम्बा-कद्दा वरगात
भरा-पूरा मुस्कान लिए चेहरा
कृष्ण-कांत-वर्ण
सिर पर क्षत-विक्षत
चम चमाते-चांदी से बाल
आंखों में विलक्षण तेज
हंस गति चाल
फौलादी हाथों में—
उन्नत यष्ठिका,
जो दिलाती है सहज में याद
राष्ट्र नेता लोहपुरुष की
धुंधली स्मृति को !
कुसुम-सा मन
मक्खन-सा दिल
हिम नीर-सी शान्ति
शिशुपन की सरलता
आत्मा का खरा पारखी-जौहरी
संयम का पूर्ण हिमायती
संघ-संगठन का प्रबद्ध प्रेमी ।
पद लिप्सा से विरत
निष्प्रिय,
मान औ सम्मान से
दूर, अति दूर
विनीतता
भव्यता से स्पृहणीय होकर

योग साधना में
अविरल गति से
निर्विघ्नता से
बढ़ता जा रहा
यह महान साधक
महान् योगी !!
भारत के विभिन्न प्रांतो में
विभिन्न ग्राम व नगरों में
घूम-घूम कर
झूम-झूम कर
लुटा रहा
नैतिकता का
समाजोत्थान का
संघ-संघठन का
दिव्य जागृति का
दिव्य प्रसाद !
यद्यपि इनके पास
नहीं है, दर्शन शास्त्र के
गहन तर्क
और नहीं है, भाषा शास्त्र का
प्रकृष्ट प्रभापूर्ण पाण्डित्य
फिर भी—
जो कुछ है, वह सहज है
अकृत्रिम है, निश्छल है।
प्रवचन में —
चलता है जादू
जिसे सुनकर, श्रोतावृन्द
वैराग्य-रस में रस वीर होकर
झूम उठते, लूम उठते,
पूँगी के स्वर पर ज्यों फणिधर :

बीच-बीच में-चुटकलों से
व्यंगोक्तियों से
हास्य रस के फौवारे
इस प्रकार फूट पड़ते हैं कि
जनता लोट पोट हो जाती।
अवाक् हो
दंग हो
रस विभोर हो
नाच उठते एक साथ
सभी के मन-मयूर
अनुभव से
चिन्तन से
देखा—
जिनका उर्ज्जस्वल व्यक्तित्व
यत्र-तत्र-सर्वत्र
बिखरा पड़ा है।
जहाँ जाता वहीं—
लग जाता एक धार्मिक मेला
भीड़-भड़का,
सेठ, पण्डित, रईस, अफसर, गरीब
सभी इनके इर्द-गिर्द घूमते, बैठते
महफिल जमी रहती
रात दिन तत्व-चर्चा की।
मैं सोचता हूँ कई बार
क्या है इस महारथी के पास ?
सचमुच यह -
प्रेम का पिटारा है
स्नेह-सुमनों का दिलकश गुलदस्ता है
ज्ञान का प्रचण्ड मान निर्झर है
जिसमें सभी—

आत्म विभोर होकर
करना चाहते अवगाहन
और……
अन्तर मन के ताप-परिताप की
उष्मा को मिटाकर
सम्पादित करते
परम सुख-शान्ति को !

●

हे युग पुरुष !
किन शब्दों से
वर्णन करूं
चित्रण करूं
तुम्हारी गुण-गरिमा का
शब्द ससीम है
गुण असीम है
गुणों के समुद्र को
शब्दों की परिधि में बांधना
बाल क्रीड़ा-सी अज्ञता ही तो है !
किन्तु………?
हृदय—अनन्त निस्सीम श्रद्धा
व्यक्त किये बिना भी तो
पाता है कहाँ चैन-शांति को ?
तुम दीर्घायु—शतायु होकर
जिन शासन की
समाज की
संघ की
गति—उन्नति में
विकास—अभ्युदय में
प्रदान करें
अपना महत्त्व पूर्ण
योग-दान
बस इसी—
पावन-मंगल
मनोहर भावाभिव्यक्ति के साथ
पाद पद्मों में
वन्दन-अभिनन्दन
करता हुआ
देता हूँ विश्राम
निज लेखनी रत्न को !

☆

धन मालवकेशरी

—हीरा मुनि 'हिमकर'

मालिनी

१

मुनिवर गुरु ज्ञानी एक सौभाग मेरा
दिन दिन यश फैला देखलो आज तेरा।
जगत गुरु चिरंजीवो बना नाम भारी
भगत नित हि भावे भावना जो अपारी।

२

तव गुणगरिमा तो मालवे जाय देखी
गुरु लघु वय में छोड़ी बड़ी मोह माया।
धन धन गुरु ऐसी साधना चारु पाया
मधुर मधुर वाणी बोलते हैं सभा में।।

३

सुन सुन जन सारे हर्षते खूब देखे
सरसति मुख शोभे ज्ञान का है खजाने।
गुरु जिनवर वाणी शुद्ध भाखे सभा में
सरल सरस है व्याख्यान वक्ता निराले।।

४

मुनि तन मन से पाले दया भाव सागे
दरशन मुनि हीरा को सदा आप देना।
नित नव चरणों में वन्दना खूब देता
पुनित वचन वोले भावना शुद्ध राखे।।

५

पुनित चरण में आनन्द लेता सदा ही
भव भव सुखदाता भागशाली सदा ही।

गुरुगुण महिमा आनन्ददाता हमारी
नित उठ जपते माला सुनो बात मेरी ।।

इन्द्र वज्रा

१

सौभाग सौभाग मुनीश माला
फेरो सदा ही सच बात मानो ।
होगा तुमारा भव पार सागे
विश्वास मेरा सच मान लेना ।।

२

शाबास माता तुज पूत जाया
ऐसा अनोखा वर वीर आला ।
गाजे सभा में मृगराज छाजे
पाखण्ड धूजे विबुधांतु रीझे ।।

३

सेवा सुहावे मन खूब लागे
सौभाग सेवा करना सदा ही ।
प्राते सुने मंगल पाठ जो भी
होता घरे मंगल काज नामी ।।

४

करो सुसम्मेलन आप कैसे
आते न मोटे मुनिदेश में से ।
आवाज ऊठे सब के दिलों में
जागो न सोवो युग की सुनो ये ।।

५

नेता हमारा बलवान होवे
कर्त्ता हमारा नितिवान होवे ।
दण्डीजनों को तुम दण्ड देवे
देखो तुधारा फिर होय आला ।।

६

कांटे रु पाषाण सभी हटा दो
सौभाग साथी सभी पुकारे।
चेतो जमाना कहता सभी को
जागो जगादो गुरु आप नामी॥

७

कर्त्ता सदा जो गुरु भक्ति नामी
आनन्द होता निज जीवनी में।
हीरा हमेशा मुनि . गीत गावे
आराम पावे खुशियां मनावे॥

द्रुतविलम्बित

१

मुनिपना अपना अपनाय के
जगतभूषण दूषण टाल के।
सुधन है धन मालवकेसरी
कुलवती जननी धन आपरी॥

२

अरज है उनकी यह देखलो
कर विहार चलो अब मालवे।
नित करे गुरु को हिय याद वे
मुरति मोहन है गुरु आप की॥

३

निरखते रखते मन में घणी
भगत के मन की सुनते रहो
सरसती मुख पे नित राजती
जिसतरे मुरली प्रभु आनने

४

पठन पाठन में रत खूब है
रटत आगम को गुरु चाह से।
मनन भी करते मुनि भाव से
परम पावन दर्शन दे रहे॥

५

जनम मालव का सब जानते
मुनि बने ममता सब छोड़ के।
मधुर मोहन मूरत देख लो
शुभ ललाट विशाल भुजा भली ॥

६

तप तपे करणी पण आकरी
सदविचार अपार दया भरी।
नित पलेवन भी जबरी करे
विविध पूंजन पाजन भी सिरे ॥

७

दरस दो अब देर न कीजिए
भगत की खबरें निज लीजिये।
हिमकरो अरजी इसड़ी करे
मुनिवरो चमके जगतीतले ॥

८

सुकथनी करणी समभाव की
उतरती भव पारज नावडी।
गुरु करे इसड़ी शुभ साधना
निरमली बनगी गुरु आतमा ॥

९

अमर नाम रहे मुनि आपका
सुखद शिष्य बने निजनाम का।
परम मंगल है जग में बड़ा
हिमकरो मुनि मंगल भावका।

जैन-साधना-सदन
नानापेठ, पूना
दिनांक १५-८-६९

●

श्रद्धेय मालवकेसरी मुनि पुंगव

—रजत मुनि

यश-गान जिनके चहुँ दिशी-भू-भाग में अभिव्याप्त है।
आदर्श गुणों की-पुष्पिका-जिनके जीवन में प्राप्त है॥
संयम इष्ट मिष्ट-क्रिया-धव "रजत" सदा जयकार है।
अह! धन्य "मालवकेसरी-तस्य-सौभाग्य-संसार है॥
उदयाद्रिसी ज्योतिधर-की-पसरत किरणें-मही।
उस भांति मालवकेसरी की यश-प्रभा फैली सही॥
देते सदा-सद्‌बोध-पावन-चरमाणे महि धाम में।
'रजत' रक्त है साधना में—"सौभग्य मुणे" अभिराम है॥
दीर्घ जीवन होय तेरा सर्वोत्कृष्ट जिन-साधना में।
ध्वनि यह निज हृद् ·धामकी-सफल हो आराधना में॥
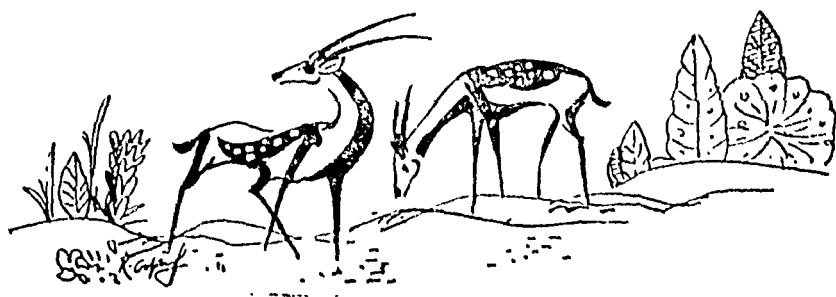
गुरुदेव के चरणों में प्रणाम

—आर्या वल्लभकुमारी

१

सौरभ, यश फैला आपका ।
करता जगत गुण-गान है ।।
भानुके सम तप-तेज भी ।
यह चमक रहा अति महान् हैं ।।

२

गमन कर परिसह सहै ।
परोपकार का ही ध्यान है ।।
मुग्ध जनता हो रही ।
सुन्दर सरस व्याख्यान हैं ।।

३

नित्य लग्न लगी महावीर से ।
हृदय में अंकित नाम है ।।
वल्लभ वल्लभ गुरु-देव को ।
करती सदा प्रणाम है ।।

गुरु गुण : गीतिका

—आर्या वल्लभकुमारी

तर्ज—[हाँ गावो सी पूज्य हमारा]

हाँ गुरुवर प्राण हमारो ॥
लाडलो श्री संघ को प्यारो।
मालवकेशरी सौभाग्य मुनि को तेज सितारो रे ॥

१

धन्य हैं पूज्य पिता महतारी।
धन्य-धन्य जन्म भूमि या थांरी।
सबने दिया दीपाय धन्य हैं जीवन थांरो रे।

२

पंच महाव्रत लिने धारी।
संयम लेकर आतम तारी।
"कुल-दीपक" कुल चन्द्रमा कुल को उजियारो रे ॥

३

व्याख्यान छटा अद्भुत है थांरी।
जनता मोहित हो रही सारी ॥
वाणी अमिय समान, पाप-तम नाशनहारो रे।

४

मन-मोहन प्रसिद्ध हो वक्ता।
घणा जीवो ने देवो साता ॥
करते धर्म प्रचार दुखी जन को हैं सहारो रे ॥

५

वल्लभ कहे वल्लभ गुरु मेरे।
शरणागत आयी में तेरे ॥
वांधे तिर्थंकर गोत करें, गुणगान जो थांरो रे।

●

-: गुरु - स्मृति :-

सुजानमल सेठिया

प्रभात नमो, प्रभात नमोरे ।
सौभाग्य, सौभाग्य, सौभाग्य नमोरे ।।

१

नमत श्री सौभाग्य पाप-पुंज भागे ।
रिद्धि-सिद्धी, धर्म-कर्म, पुन्य-पुंज जागे ।।
नमत श्री सौभाग्य, कटै कर्म-बंध सारे ।।

२

विश्व व्यास सकल संघ कीर्ति गान गावे ।
नमत श्री सौभाग्य सतत दया दान पावे ।।
गूंजत चहूं ओर श्री सौभाग्य नाम नारे ।।

३

नाम लेत श्री सौभाग्य दोप दूर होवे ।
गान गात श्री सौभाग्य रोप दूर सोवे ।।
ताल देत श्रीसौभाग्य गान गाये जा प्यारे ।।

४

सेवत चरण 'सुजान' सर्व ज्ञान ध्यान पावे ।
यम-नियम, धर्म-कर्म, सत्य-शांति पावे ।।
श्री सौभग्य नाम से ही दुख सर्व टारे ।।
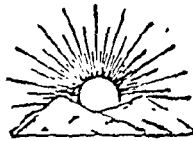
प्रसिद्धवक्ता मालवकेशरी श्री सौभाग्यमलजी म०
के चातुर्मास की सूची

क्रम	नाम ग्राम	विक्रम संवत्
१	खाचरोद	वैसाख वदी ४ दीक्षा संवत् १९६७
२	खाचरोद	१९६७
३	शाजापुर	१९६८
४	जोधपुर	१९६९
५	किशनगढ़ (राज०)	१९७०
६	इन्दौर	१९७१
७	थांदला	१९७२
८	उदेपुर	१९७३
९	सादड़ी (मारवाड़)	१९७४
१०	रतलाम	१९७५
११	धार (मालवा)	१९७६
१२	रतलाम	१९७७
१३	रतलाम	१९७८
१४	रतलाम	१९७९
१५	दिल्ली	१९८०
१६	जयपुर	१९८१
१७	मोरवी	१९८२
१८	पालनपुर	१९८३
१९	वम्बई (चींचपोकली)	१९८४
२०	वम्बई (माटुंगा)	१९८५
२१	रतलाम	१९८६
२२	थांदला	१९८७
२३	लीमड़ी (पंचमहाल)	१९८८
२४	उज्जैन	१९८९
२५	किशनगढ़ (राज०)	१९९०
२६	वम्बई (कांदावाड़ी)	१९९१
२७	वम्बई (कांदावाड़ी)	१९९२

२८	हैद्राबाद (दक्षिण)	१९९३
२९	मद्रास	१९९४
३०	बैंगलोर	१९९५
३१	हैद्राबाद	१९९६
३२	बम्बई	१९९७
३३	अमलनेर	१९९८
३४	खाचरोद	१९९९
३५	राजकोट	२०००
३६	वढ़वाण	२००१
३७	देवास	२००२
३८	रतलाम	२००३
३९	नासिक	२००४
४०	बम्बई	२००५
४१	उज्जैन	२००६
४२	अमलनेर	२००७
४३	मुम्बई (कांदावाड़ी)	२००८
४४	माटुंगा	२००९
४५	धुलिया	२०१०
४६	इन्दौर	२०११
४७	उज्जैन	२०१२
४८	इन्दौर	२०१३ से २०१७ तक
४९	राजगढ़	२०१८
५०	थांदला	२०१९
५१	खाचरोद	२०२०
५२	इन्दौर	२०२१
५३	मुम्बई (कांदावाड़ी)	२०२२
५४	माटुंगा	२०२३
५५	कोट	२०२४
५६	नासिक	२०२५
५७	घाटकोपर	२०२६